प्रकीर्णक पुस्तक-माला—२

चतुर्दशभाषा-निबन्धावली

[भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह भाषाओं
और उनके साहित्य का संक्षिप्त परिचय]



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—४



प्रकीर्णक पुस्तक-माला—२

चतुर्दशभाषा-निबन्धावली

[भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह भाषाओं और उनके साहित्य का संक्षिप्त परिचय]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—४

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—४



द्वितीय संस्करण; १८८८ शकाब्द ; २०२३ विक्रमाब्द, १९६६ खीष्टाब्द

मूल्य : ४.२५

15/=

मुद्रक
प्रभात प्रेस, मीठापुर,
पटना—१

वक्तव्य

[द्वितीय संस्करण]

प्रस्तुत पुस्तक चतुर्दश भाषा-निबन्धावली का द्वितीय संस्करण आपके सम्मुख उपस्थित करतें हुए हमें सहज प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। हम अपने प्रबुद्ध पाठकों के अतिशय आभारी हैं कि उन्होंने इसे अपनी भाषा-साहित्य-विषयक बौद्धिक जिज्ञासा की पूर्त्ति के निमित्त महत्वपूर्ण समझकर सादर स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त, हम उन गुणग्राही हिन्दी-परीक्षा-संस्थाओं के भी कृतज्ञ हैं, जिन्होंने इसे अपने पाठ्यक्रम में हमारी बिना किसी प्रार्थना के, केवल उसकी उपादेयता के आधार पर, समाविष्ट कर गौरवान्वित किया।

इस पुस्तक में भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह प्रमुख भाषाओं एवं उनके साहित्य के सम्बन्ध में नातिदीर्घ निबन्ध संकलित किये गये हैं, जिन्हें बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिकोत्सवों में स्वयं निबन्धकारों ने समय-समय पढ़ा था। परिषद् के वार्षिकोत्सव के अवसर पर भारत की प्रमुख भाषाओं और उपभाषाओं तथा उनके साहित्य पर अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध-पाठ एक विशेष आकर्षण का विषय रहा है। परिषद् ने इस निबन्ध-संकलन के अलावा पन्द्रह लोकभाषाओं (मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, नागपुरी, सन्ताली; उराँव हो, अवधी, बैसवाड़ी, व्रजभाषा, राजस्थानी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी और नैपाली) के निबन्धों को भी 'पंचदश लोकभाषा-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित किया है। इनके अतिरिक्त बुन्देलखण्डी, कोंकणी, कुरमाली, कुमाउँनी, मालवी, बघेली, पालि, प्राकृत और वज्जिका लोकभाषाओं के पढ़े गये निबन्धों तथा भविष्य में पढ़े जानेवाले विभिन्न लोकभाषा-निबन्धों को भी यथासमय ग्रन्थाकार प्रकाशित करने की योजना है। इधर भारतीय संविधान द्वारा चौदह भाषाओं के अतिरिक्त सिन्धी-भाषा पन्द्रहवीं भाषा के रूप में स्वीकृत कर ली गई है। इस भाषा पर परम्परानुसार, परिषद् द्वारा वार्षिकोत्सव के अवसर पर निबन्ध-पाठ कराये जाने के बाद उसे प्रस्तुत पुस्तक के आगामी संस्करण में समाविष्ट कर दिया जायगा।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित निबन्ध यद्यपि अपने-आप में बहुत ही संक्षिप्त हैं, तथापि संविधान-स्वीकृत चौदह भाषाओं एवं उनके साहित्य की सामान्य गति-विकास की जानकारी का जहाँतक प्रश्न है, यह पुस्तक, इस कार्य के सम्पादन में, निश्चय ही, प्रथम प्रकाशन होने का दावा कर सकती है। इसके पाठकप्रिय होने का मूल रहस्य भी यही है। साथ ही, तत्कालीन-परिषद्-निदेशक तथा प्रसिद्ध भाषादिग्गज आचार्य शिवपूजन सहाय का इस निबन्ध-संग्रह के प्रकाशन में मुख्य अभिप्राय यही था कि भाषा के अनुसन्धित्सुओं को विभिन्न स्वदेशी भाषाओं और उनके साहित्य में समान भाव से प्रवहमाण भारतीय संस्कृति की एकात्मता का परिचय प्राप्त हो।

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में भी मूल निबन्ध-लेखकों के विचारों और भाषा-प्रयोगों को प्रायः यथारूप ही रहने दिया गया है। ताकि, विवेकशील पाठकों के लिए मूल निबन्ध-लेखकों की भाषा और भाव की मौलिक अभिव्यक्ति से सान्निध्य प्राप्त करने में अनायासता रह सके। आशा है, भाषा-तत्त्व के अनुशीलन करनेवाले हिन्दी-पाठक इस द्वितीय संस्करण को भी अधिकाधिक अनुराग के साथ अपनायेंगे।

पटना
विजयादशमी, १८८८ शकाब्द

वैद्यनाथ पाण्डेय
निदेशक

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण]

'चतुर्दशभाषा-निबन्धावली' नामक प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह प्रमुख भाषाओं और उनके साहित्य पर उनके विशेषज्ञ अधिकारी विद्वानों के लिखे निबंध संगृहीत हैं। ये निबंध बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिकोत्सवों में स्वयं निबंधकारों द्वारा समय-समय पर पढ़े गये थे। आरंभ की निबंध-सूची में निबंधकारों के नाम के साथ निबंधों के लेखन-प्रकाशन-वर्ष का भी उल्लेख कर दिया गया है। पुस्तक के अंत में निबंधों के क्रम से निबंधकारों का सचित्र परिचय भी प्रकाशित है।

इस संग्रह के कुछ निबंध बहुत संक्षिप्त हैं। जिन निबंधों में कुछ विस्तृत विवरण हैं, उन्हें भी हम पूर्णतया संतोषप्रद नहीं मान सकते; क्योंकि चौदह भाषाओं में प्रत्येक भाषा ऐसी है, जिसपर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी जा सकती है। अतः, चौदह पुस्तकों का विषय चौदह संक्षिप्त निबंधों में ही विशदता से स्पष्ट नहीं हो सकता। फिर भी, इस निबंध-संग्रह में एक साथ ही चौदह भाषाओं के साहित्य की मुख्य-मुख्य बातों का परिचय प्राप्त करने में पाठकों को बड़ी सुविधा होगी। इस निबंध-संग्रह के प्रकाशन का उद्देश्य भी यही है कि संविधान-स्वीकृत भाषाओं और उनके साहित्य की विशेषताओं से हिन्दी-पाठक एक ही स्थान पर थोड़े में ही परिचित हो जायँ।

प्रकीर्णक पुस्तक-माला का यह दूसरा पुष्प है। पहला पुष्प है—मुंडा-लोकगीत-संग्रह—'बाँसरी बज रही'। आशा है, भारत की प्रमुख लोकभाषाओं और उनमें उपलब्ध साहित्य पर जो महत्त्वपूर्ण निबंध अबतक पढ़े जाकर प्रकाशित हो चुके हैं, और आगे भी होनेवाले हैं, उनका संग्रह भी कुछ दिनों बाद परिषद् से ही निकलेगा। इस तरह, विविध भारतीय भाषाओं और उपभाषाओं से थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त करके, हिन्दी-पाठक भाषा-तत्त्व के अनुशीलन के तो अनुरागी बनेंगे ही, यह भी देख सकेंगे कि सभी स्वदेशी भाषाओं के साहित्य में भारतीय संस्कृति की पुनीत धारा किस प्रकार अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहित हो रही है।

अक्षय तृतीया, १८७९ शकाब्द,
२०१४ विक्रमाब्द, १९५७ खीष्टाब्द

शिवपूजन सहाय
(संचालक)

विषय-सूची



निबन्धकार-परिचय



चतुर्दशभाषा-निबन्धावली

संस्कृत भाषा और उसका साहित्य

संस्कृत भाषा, जिसे अमरभाषा या देववाणी भी कहते हैं, भारत ही नहीं; सारे विश्व की प्राचीन और परिष्कृत भाषा है, जिसने मानव-संस्कृति और सभ्यता के निर्माण में सर्वाधिक सहयोग प्रदान किया है। संसार की प्रायः सभी आर्यभाषाएँ इसी एक मूलस्रोत से उत्पन्न और अनुप्राणित हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने कोरी कल्पनाओं और हेत्वाभासपूर्ण अनुमानों के आधार पर तुलनात्मक भाषाविज्ञान का आडम्बर खड़ा करके यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि संस्कृत भाषा पूर्वीय भाषाओं की आदि जननी है; किन्तु निरन्तर होनेवाले अनुसन्धानों और गवेषणाओं से यह सिद्ध होता जा रहा है कि पाश्चात्य भू-खण्ड की ग्रीक, लैटिन, इंगलिश, जर्मन, रूसी आदि भाषाएँ भी इसी से अनुप्राणित हैं।

यह भी निर्विवाद मान लिया गया है कि संसार की सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद, इसी भाषा में लिखी गई है, जिसका निर्माण कम-से-कम आठ हजार वर्ष पूर्व हुआ था। जिस समय विश्व के अनेक भू-भागों के निवासी मानव, संकेतों द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त करते थे, उस समय भारतीय ऋषि-महर्षि प्रकृति के गूढ़ रहस्यों एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का विशद विवेचन कर रहे थे, जो उनकी ऋचाओं में व्यक्त हुए हैं।

पूर्वीय भू-खण्ड की अनेक भाषाएँ और भारत की सभी प्रान्तीय भाषाएँ तो इसी एकमात्र मूलस्रोत से उत्पन्न हैं। यद्यपि भारत की द्रविड भाषाएँ, जिनका मूल और पद्धति संस्कृत से भिन्न है, उनमें भी अत्यधिक शब्द संस्कृत भाषा के ही हैं।

पारस्य भाषा, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा अफगानिस्तान की पश्तो भाषा संस्कृत से ही उत्पन्न हैं। सिलोन की सिंहली भाषा साक्षात् संस्कृत-प्रसूत भाषा है। सुवर्णद्वीप, जिसे आजकल हिन्दचीन कहा जाता है, और जो लगभग ६-७ शताब्दियों तक भारतीय नरेशों द्वारा शासित होता रहा; उसकी राजभाषा संस्कृत ही रही है। काम्बोज (कम्बोडिया), चम्पा (फ्रान्सीसी हिन्दचीन), जावा, सुमात्रा आदि की भाषाएँ संस्कृत से ही अनुप्राणित और भारतीय-देवनागरी लिपि में ही लिखी गई। इन देशों की संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का विकास एकमात्र संस्कृत भाषा द्वारा ही हुआ है।

इन द्वीपों की संस्कृति और सभ्यता का निर्माण संस्कृत भाषा में तो हुआ ही था, इन द्वीपों पर अनेक शताब्दियों तक हिन्दू-नरेश, मनु के धर्मशास्त्र और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य भी करते रहे। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के आधार पर निर्मित 'कामन्दकीय नीतिसार' नामक राजशास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक की मूल प्रति जावाद्वीप में उपलब्ध हुई थी और भारत में प्रकाशित हुई। जावाद्वीप में ऐसे शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो ललित गद्यों और पद्यों में

लिखे गये हैं। आज भी इन द्वीपों के मठों, मन्दिरों, नाटकों, लोकनृत्यों, लोककथाओं—यहाँतक कि नामों में भी रामायण और महाभारत का प्रभाव पूर्ण रूप से पाया जाता है।

फारस या ईरान के धर्मग्रन्थ 'आवेस्ता' का निर्माण, भारतीय जरदस्त्र ऋषि ने वैदिक भाषा के अपभ्रंश के रूप में किया है। आज भी पारसियों में अनेक प्राचीन भारतीय परम्पराएँ, रीति-रिवाज प्रचलित हैं। उनके मन्त्र और देवता ऋग्वेद से ही मिलते-जुलते हैं।

इस प्रकार, विविध भाषा-प्रसविनी प्राचीनतम संस्कृत भाषा में अनेक महान् गुण और अपनी विशेषताएँ हैं, जो संसार की किसी भाषा में उपलब्ध नहीं हैं।

संस्कृत भाषा के अनुपम गुणों में स्थिरता संस्कृत भाषा का एक महान् गुण है। कुछ हजार वर्ष पूर्व विकसित होनेवाली ग्रीक, रोमन, हिब्रू आदि पाश्चात्य भाषाएँ तथा पालि, प्राकृत आदि भारतीय भाषाएँ, काल-प्रभाव से आज विलुप्त हो गईं; किन्तु संस्कृत-भाषा, ऋग्वेद-काल से आजतक अविकृत रूप से समूचे भारत-राष्ट्र में एक समान व्यवहृत हो रही है। आज भी स्वल्पतम मात्रा में सही, संस्कृत में नवीन वाङ्मय का सर्जन हो रहा है। पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, नाटकों के अभिनय होते हैं और अविरल रूप से भाषण किये जाते हैं।

पालि और प्राकृत भाषा में लिखित बौद्ध और जैन वाङ्मय आज गवेषणा का विषय बन गया; किन्तु संस्कृत में लिखा गया उनका साहित्य आज भी विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में पढ़ा और पढ़ाया जाता है। चरक, आर्यभट्ट, कालिदास, शङ्कराचार्य आदि यदि अपने ग्रन्थों का निर्माण, स्वकालीन और स्वप्रान्तीय प्राकृत भाषा में करते, तो आज हम उनके उस अनुपम ज्ञान-विज्ञान से कुछ भी लाभ न उठा सकते और न उनकी ही विश्व में इतनी ख्याति होती। महाकवि 'गुणाढ्य' ने ईसा के पूर्व तीसरे शतक में पैशाची भाषा में एक लाख श्लोकों की 'बृहत्कथा' का निर्माण किया था, जो आज वह नामशेष रह गई, किन्तु संस्कृत भाषा में किये गये इसके अनुवाद—'बृहत्कथामञ्जरी' और 'कथासरित्सागर' के रूप में अभी विद्यमान है।

संस्कृत भाषा का शब्द-भाण्डार, अक्षय और अनन्त है। इस भाषा का यौगिक शब्द-निर्माण-यन्त्र इतना वैज्ञानिक और समर्थ है कि उसके द्वारा आवश्यकतानुसार प्रत्येक विषय के नवीन शब्दों का निर्माण सरलता से सम्पन्न हो जाता है। इस कारण, इस भाषा में तथा इससे प्रसूत क्षेत्रीय भाषाओं में शब्दों का दारिद्र्य कभी सम्भव नहीं है।

भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, प्रसंगों, वस्तुओं, भावों और रसों के वर्णन के लिए तदनुकूल वर्णों, शब्दों और क्रियाओं के प्रयुक्त करने की सुविधा एकमात्र संस्कृत भाषा में ही है। एक-एक उपसर्ग और अव्यय के द्वारा महान् अर्थों की प्राप्ति इसी भाषा में सुलभ है। एक कथा के पात्र का ओठ किसी कारण कट गया था, अतः उससे ओष्ठों द्वारा उच्चारण सम्भव न था। विद्वान् कवि ने उसके द्वारा कही जानेवाली लम्बी कथा में ओष्ठ्य अक्षरों का प्रयोग ही नहीं किया। एक राजा के महल में व्यावहारिक वार्त्तालाप में 'ट ठ ड ढ ण'—इन कर्णकटु अक्षरों का व्यवहार सर्वथा वर्जित था। इतनी स्वतन्त्रता और सुविधा के साथ आवश्यकतानुकूल शब्दों का समुचित प्रयोग सिवा संस्कृत के किसी भी भाषा में असम्भव है।

एक या दो अक्षरों द्वारा समस्त श्लोक का निर्माण करना, एक ही श्लोक से प्रसङ्ग-संगति-पूर्वक दो-दो और तीन-तीन कथाओं का अथ से इति तक निर्वाह करना; अष्टदल, षोडशदल, और द्वात्रिंशदल कमल-बन्धों, भयङ्कर और जटिल सर्प आदि बन्धों का निर्माण करना संस्कृत भाषा की आश्चर्यजनक और कौतूहलपूर्ण विशेषता है। राघवपाण्डवीय, राघवनैषधीय और राघवपाण्डवयादवीय आदि अनेक महाकाव्य इसके प्रमाण स्वरूप उपलब्ध होते हैं। रामकृष्णविलोम-काव्य जैसे काव्य भी इस भाषा में है, जिनमें सीधा पढ़ने से रामकथा और उलटा पढ़ने से कृष्णकथा वर्णन किया गया है। इनका कारण संस्कृत भाषा का अनन्त शब्द-भाण्डार और उसकी वह अद्भुत टकसाल है, जिसमें आवश्यकतानुसार उपयुक्त और नवीन शब्द-रूपी सिक्के सर्वदा ढाले जा सकते हैं।

दूसरे, संस्कृत भाषा का प्रत्येक शब्द किसी विशेष अर्थ को लेकर बनाया गया है। शब्दों के पीछे इतिहास है, विकास क्रम है, प्रयोजन है, प्रत्येक शब्द की निरुक्ति है, व्युत्पत्ति है और उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण है। इसके लिए भी पृथक् शास्त्रों का निर्माण किया गया है। अँगरेजी या अन्य भाषाओं में जिस प्रकार अर्थरहित शब्दों का प्रयोग केवल संकेत के लिए किया जाता है, उसी प्रकार यह संस्कृत भाषा में दूषित है। एक उदाहरण लीजिए। संस्कृत भाषा में पत्नी के अनेक नाम हैं; जैसे—पाणिगृहीती, द्वितीया, सहधर्मिणी, भार्या, जाया और दारा। यहाँ प्रत्येक शब्द का अर्थ क्रमिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं को बताता है। पाणिग्रहण होने के समय पाणिगृहीती और उसके अनन्तर द्वितीया। द्वितीया होने पर उसे सहधर्मिणी का पद प्राप्त हुआ। जब सहधर्मिणी रूप में घर भरण-पोषण करने लगी, तब उसे भार्या कहा गया। उसके अनन्तर जब पुरुष ने उसके द्वारा नया जन्म ग्रहण किया, तब वह जाया कहलाई: 'जायते अस्यामिति जाया'। अन्तिम अवस्था में जब विशाल परिवार की स्वामिनी हुई, तब उसे दारा का पद प्राप्त हुआ : 'दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी'। इस प्रकार पत्नी से दारा तक सभी नाम स्त्री के होते हुए भी अवस्था-भेद से स्वतंत्र अर्थ रखते हैं। इसके अतिरिक्त 'दारा' शब्द को पुँल्लिंग और बहुवचन माना गया है। इसलिए कि दारावस्था में वह पत्नी पुरुष के समान कुटुम्ब पर शासन करती है। अतः, स्त्रीवाचक 'दारा' शब्द पुँल्लिंग माना गया। फिर, घर की सबसे बड़ी और सम्मानित होने के कारण आदर के लिए 'दारा' शब्द बहुवचन में ही प्रयुक्त किया गया है। ऐसी सुव्यवस्थित और सभ्य भाषा एकमात्र संस्कृत भाषा ही है। इसी प्रकार, मनुष्य के जन, लोक, पुरुष, नर आदि शब्दों में मानव की उत्पत्ति से उच्चतम अवस्था में पहुँचने तक का इतिहास अन्तर्निहित है।

संस्कृत भाषा की स्थिरता, विशाल भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों को एक सांस्कृतिक सूत्र में ग्रथित करनेवाली एक अटूट शृङ्खला है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारतीयों के धार्मिक और सांस्कृतिक कृत्यों में, पूजा-पद्धतियों में एवं संस्कारों में संस्कृत भाषा का समान रूप से व्यवहार होता है। आज भी भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं को संस्कृत भाषा की सन्तान होने और उसके अक्षय और अनन्त शब्द-भाण्डार से आप्यायित होने का समान रूप से अधिकार है। सभी प्रान्तों में वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, आयुर्वेद और ज्योतिष के सभी

ग्रन्थ एकरूप में ही पढ़े-पढ़ाये जाते हैं। आज चिरवियुक्त हमारे प्राचीन उपनिवेशों—स्याम, जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में इसी भाषा और साहित्य के द्वारा हमारे सम्बन्ध जीवित बने हुए हैं। बाली द्वीप के ब्राह्मण पुरोहित अपनी संध्या-पूजा आदि में उन्हीं मन्त्रों और क्रिया-कलाप का आज भी प्रयोग करते पाये जाते हैं!

यही कारण है कि नैसर्गिक, वैज्ञानिक और शास्त्रीय प्रबल आधारों पर आश्रित संस्कृत भाषा आज सहस्र वर्षों से अविरल रूप में जीवित रह सकी है। संसार की अनेक उच्च भाषाएँ, जो ग्रीक और यूनान की संस्कृति और सभ्यता के उत्थान एवं विकास में सहायक थीं, आज काल के अनन्त गर्भ में विलीन हो गई, किन्तु संस्कृत भाषा की स्थिति आज भी सुदृढ है। आठ या दस हजार वर्षों के सुदीर्घ काल में भारत पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए, कितने ही सामाजिक सुधार हुए और अनेक धार्मिक आन्दोलन होते रहे, किन्तु संस्कृत भाषा भूत और वर्त्तमान काल के अंतर को निरन्तर करती हुई चिरन्तन काल से विशाल भारत के कोने-कोने में विराजमान है।

संस्कृत भाषा की सर्वोत्कृष्ट विशेषता इसकी शास्त्रीय उच्चारण-पद्धति है। स्वर-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् भारतीय ऋषिगण ने नाद-विज्ञान का गम्भीर गवेषण किया था। वे नाद-ब्रह्म के उपासक थे। इसी कारण उनकी गद्य-पद्यमयी वाणी में छन्दों का सौन्दर्य और संगीत का स्वारस्य अन्तर्निहित है। पाश्चात्य विद्वान् ई० एच्० जोनस्टन ने लिखा है—"प्राचीन भारतीय विद्वानों को नाद और ध्वनि-तरङ्गों के विविध प्रकारों का असाधारण और अति सूक्ष्म ज्ञान था। शब्दोच्चारण और उसके अर्थों के मधुर संगम से जो महान् अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है, वह अन्य भाषा और साहित्य में सर्वथा असंभव है।"

यदि उच्चारण-सम्बन्धी नियमों और तत्सम्बन्धी शास्त्रों का निर्माण न किया जाता, तो आज वह समस्त वैदिक वाङ्मय अविकल और अविकृत रूप से प्राप्त न हो सकता जो लेखन-कला के अभाव में सहस्रों वर्षों तक वंश-परम्परा और गुरु-परम्परा द्वारा केवल स्मरण-शक्ति के आधार पर सुरक्षित किया गया था।

आज भी वेदों का पारायण, उसी स्वर, लय, मात्रा और गति से और उसी उच्चारण-परम्परा द्वारा किया जाता है, जो सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित थी।

इसके अतिरिक्त हमारा सर्वस्व इसी भाषा में निहित है। ऋषि-मुनियों का अलौकिक आध्यात्मिक ज्ञान; कपिल-व्यास-गौतम का अनुपम दार्शनिक तत्त्व-ज्ञान; वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के स्वर्गीय काव्य; चरक, सुश्रुत एवं आर्यभट और वराहमिहिर का आयुर्विज्ञान एवं ज्योतिर्विज्ञान; सृष्टि से प्रलय तक का इतिहास बतानेवाले पुराण, धर्म और अर्थशास्त्र, जिनके द्वारा सहस्रों वर्षों से आजतक आर्यजाति शासित हो रही है; वास्तु-स्थापत्य और कला-विज्ञान; साथ ही सहस्रों वर्षों की आर्य-परम्परा एवं इतिहास इसी भाषा में सुरक्षित है। इसी भाषा में हमारी प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हुआ है। इसी भाषा के वाङ्मय में हमें भारतीय आत्मा की पवित्र झाँकी मिलती है; जो हमारे गौरव, गर्व तथा विश्व की अपार श्रद्धा का सुदृढ आधार है। संस्कृत के महत्त्व-प्रदर्शन-सम्बन्धी विषय का उपसंहार हम अपने प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल के शब्दों में करते हैं। उन्होंने कहा है—

'यदि मुझसे पूछा जाय कि भारत की सबसे विशाल सम्पत्ति क्या है ? और उत्तराधिकार रूप में उसे कौन-सी वस्तु प्राप्त हुई है, तो मैं निःसंकोच उत्तर दूँगा की यह संपत्ति है—संस्कृत भाषा, उसका साहित्य और उसके भीतर जमा सारी पूँजी।"

संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों और कुछ उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों का मत है कि संस्कृत भाषा, जनसाधारण की व्यावहारिक भाषा कभी नहीं रही, प्रत्युत वह सभ्य समाज की परिष्कृत साहित्य-भाषा रही। साधारण जनता की भाषा प्राकृत थी। उक्त दोनों के नाम से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है। प्राकृत का अर्थ प्रकृति से प्रचलित, अर्थात् स्वाभाविक है और संस्कृत का अर्थ है संस्कार की गई भाषा।

इस विषय पर विशेष विवेचन न करते हुए इतना ही कहना आवश्यक है कि रामायण-काल के पहले वैदिक और लौकिक संस्कृत के उन दो भेदों के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। रामायण के लंकाकांड में हनुमान् सीता को सन्देश देने के पहले सोचते हैं कि 'यदि मैं द्विजाति के समान संस्कृत भाषा में बातें करूँगा, तो सीता मुझे वानर के रूप में मायावी रावण समझकर भयभीत हो जायेंगी।' इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय उच्च वर्णों की मातृभाषा संस्कृत थी और निम्न श्रेणी के व्यक्ति एवं अरण्यनिवासी किसी अन्य संस्कृत भाषा का व्यवहार करते थे।

इससे यह तो निश्चित रूप से माना जा सकता है कि उच्च वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—संस्कृत भाषा का व्यवहार करते थे और राजभाषा के रूपमें उसका ही व्यवहार होता था। इससे यह भी सहज ही समझा जा सकता है कि जो इस भाषा का व्यवहार न करते थे, वे इसे भली भाँति समझ सकते थे। इसका उदाहरण संस्कृत के नाटक हैं; जिनमें उत्तम पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते हैं और दूसरे पात्र उसे भली भाँति समझकर अपनी भाषा में उत्तर देते हैं। आज भी यह स्थिति देखी जाती है।

इस विषय पर संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि विक्रम-संवत्सर से लगभग ७-८ शताब्दी पूर्व उत्पन्न भाषाविज्ञान के महान् विद्वान् यास्क मुनि ने अपने निरुक्त में तथा उनके कुछ ही परवर्ती महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरण-शास्त्र में संस्कृत के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। वैदिक भाषा के अतिरिक्त समाज में प्रचलित जिस व्यावहारिक भाषा के व्याकरण की रचना पाणिनि ने की है, वह संस्कृत भाषा ही है। कुछ लोगों का कथन है कि पाणिनि द्वारा तत्कालीन प्रचलित भाषा को संस्कृत और परिष्कृत किये जाने पर ही यह संस्कृत भाषा कही जाने लगी। पाणिनि ने अपने समय में बोली जानेवाली भाषा का व्याकरण लिखा है। यदि वह व्यावहारिक भाषा न होती, तो इसके लिए इतना विस्तृत लिखने की आवश्यकता ही न होती। पाणिनि ने अपने समय में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों और मुहावरों को संस्कृत और परिष्कृत किया। पाणिनि के अनन्तर वररुचि ने वार्त्तिक बनाकर नवीन शब्दों का संस्कार किया। कारण यह है कि उनके समय में व्यावहारिक भाषा में नये-नये शब्द प्रयुक्त होने लगे थे, जो पाणिनि के काल में प्रचलित नहीं थे।

पाणिनि के समय 'यवनानी' शब्द यवन की स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु वररुचि

के समय वह यवनों की लिपि के लिए भी प्रयुक्त होने लगा था, इसलिए उन्होंने 'यवनालिप्याम्' इस वार्त्तिक का निर्माण कर उसे नियमित किया। इसी प्रकार वार्त्तिकों द्वारा अनेक नवीन शब्दों का शोधन और समावेश किया जाना संस्कृत भाषा की व्यावहारिकता और प्रगति का द्योतक है।

वररुचि के अनन्तर पतञ्जलि ने, सम्राट् पुष्यमित्र के शासनकाल में पाणिनि के सूत्रों पर विस्तृत भाष्य लिखा; जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक होने के कारण आदरार्थ महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी भाषा प्राञ्जल लौकिक भाषा का उदाहरण है। उन्होंने तत्कालीन लोक-व्यवहार में आनेवाले नवीन शब्दों और मुहावरों का प्रचुर मात्रा में संग्रह और संस्करण किया है। एक सारथी और वैयाकरण विद्वान् के संवाद द्वारा उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि एक वैयाकरण विद्वान् की अपेक्षा रात-दिन भाषा व्यवहार करनेवाला सारथी, शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है और विद्वान् अशुद्ध शब्दों का। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि शिष्टजन, व्यवहार में जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे भी प्रामाणिक और शुद्ध हैं। इससे सिद्ध है कि संस्कृत भाषा पतञ्जलि के समय तक व्यावहारिक भाषा थी। भले ही, वह शिष्टजन-समाज की भाषा रही हो। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी की यह स्थिति है। ईसवी-सन् के प्रारम्भ और आगे की एक-दो शताब्दियों तक इस भाषा के व्यवहार का पता चलता है। सम्राट् शाहसाङ्क के राजमहल में संस्कृत भाषा बोलने का ही नियम था—इसका उल्लेख राजशेखर ने किया है। अनेक शताब्दियों तक अखिलभारतीय सभा-सम्मेलनों, आयोजनों, न्यायालयों में संस्कृत भाषा ही माध्यम के रूप में प्रयुक्त की जाती रही।

विक्रम से तीन शतक पूर्व आचार्य कौटिल्य ने सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासन-विधान संस्कृत भाषा में ही लिखा और उसके अनन्तर समस्त धार्मिक और व्यावहारिक शास्त्रों का निर्माण संस्कृत भाषा में ही होता रहा।

कुछ लोगों का यह कथन भी समुचित प्रतीत नहीं होता कि 'पाणिनि के द्वारा व्याकरण-नियम-निगडित होने के कारण संस्कृत भाषा की गति अवरुद्ध हो गई। पाणिनि ने व्याकरण-शास्त्र का निर्माण करके उसे सीमाबद्ध कर दिया।' किन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर यह मानना पड़ता है कि पाणिनि, उनके परवर्त्ती वररुचि और पतञ्जलि ने उस भाषा को सुव्यवस्थित परिष्कृत और नियमित बनाकर उसके अमूल्य जीवन की ही रक्षा नहीं की, उसे स्थिर और समुन्नत बनाने तथा सजाने-सँवारने का भी महान् प्रयत्न किया। अन्यथा, इस भाषा का इतना व्यापक, मधुर और ललित रूप आज दृष्टिगोचर न होता। आज इसका न जाने कैसा विकृत रूप बन जाता। यद्यपि इनके पूर्व और पश्चात् अनेक व्याकरण थे और बनते रहे; किन्तु इन्होंने इस भाषा के जीवित रखने और उत्तरोत्तर समुन्नत करने में जिस अलौकिक प्रतिभा, वैज्ञानिकता और दूरदर्शिता का परिचय दिया है, वह आश्चर्यजनक है।

अब संस्कृत भाषा-सम्बन्धी प्रसङ्ग को समाप्त करके उसके विस्तृत साहित्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते हैं।

'साहित्य' शब्द का अर्थ है—शब्द और अर्थ का समान भाव से मधुर सामञ्जस्य। इस प्रकार, 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के विशेष अर्थ में किया गया है। राजशेखर और

वक्रोक्तिजीवितकार भट्टकुन्तक ने भी 'साहित्य' शब्द का यही अर्थ किया है कि जहाँ शब्द और अर्थ की परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष या उत्कर्ष न होकर समान रूप से स्थिति हो, उसे साहित्य कहते हैं। अन्य शास्त्रों में कहीं शब्द की और कहीं अर्थ की प्रधानता पृथक् रूप में देखी जाती हैं, किन्तु काव्य में दोनों की प्रधानता समान रूप में रहती है। अतः, साहित्य शब्द, काव्य का वाचक है, जिसमें शब्द और अर्थ का समान रूप से प्राधान्य है। इस अर्थ के अनुसार 'साहित्य' शब्द उस वाङ्मय का प्रतिपादक है, जिसमें काव्य और उसके भेद-प्रभेद एवं उसके सभी अंगों एवं उपाङ्गों पर लिखी समस्त ग्रन्थराशि सम्मिलित है। यद्यपि आजकल इस सीमित अर्थ को छोड़कर साहित्य शब्द का अर्थ किसी भाषा में निबद्ध समस्त ग्रन्थराशि के लिए किया जाता है। किन्तु, संस्कृत में इसके लिए व्यापक शब्द 'वाङ्मय' है। अतः, हम यहाँ 'साहित्य' शब्द के उसी सीमित अर्थ को लेकर ही उसका दिग्दर्शन करेंगे।

संस्कृत भाषा में निबद्ध समस्त शास्त्रीय ग्रन्थराशि या संस्कृत-वाङ्मय का संक्षिप्त दिग्दर्शन इस स्वल्पकाय निबन्ध में सम्भव नहीं है। ऋग्वेद-काल से आजतक इस भाषा के वाङ्मय में कितनी ग्रन्थराशि लिखी गई; इसकी गणना करना वर्षों के अन्वेषण द्वारा भी कठिन है। आज अनेक सहस्राब्दियों से विशाल भारत में सहस्र-सहस्र विद्वानों द्वारा जिस वाङ्मय का निरन्तर निर्माण होता रहा है, ऐसे वाङ्मय की विवेचना दुष्कर और महान् कार्य है। अतः, यहाँ संस्कृत-वाङ्मय की एक शाखा साहित्य-शास्त्र का अतिसंक्षिप्त परिचय कराना ही हमारा ध्येय है।

'साहित्य' शब्द का अर्थ काव्य है, जिसमें उसके भेद, प्रभेद तथा उसके सम्बन्ध की सभी सामग्री—रस, अलङ्कार, गुण, रीति, छन्द आदि—का समावेश किया जाता है।

संस्कृत भाषा के मूलग्रन्थ वेद हैं, जो आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत धर्मप्राण भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आदि स्रोत और समस्त विद्याओं के मूल स्थान हैं। अतः, समस्त भारतीय वाङ्मय उसी की भित्ति पर स्थित है और संस्कृत-साहित्य का भी वही ध्येय है। अन्तर केवल भाषा और भाषण के प्रकार का है। इसीलिए वेदों की भाषा और भाषण-शैली प्रभुसम्मित है, पुराणों की मित्रसम्मित और साहित्य या काव्य की भाषा और शैली कान्तासम्मित है। सभी का चरम लक्ष्य एक है।

भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है—संसार की विकट संघर्षमय स्थिति में रहते हुए भी उसकी उपेक्षा कर, आनन्दघन सच्चिदानन्द की अनुभूति और उपलब्धि। भारतीय साहित्य का भी यही लक्ष्य है। इसीलिए उसकी आत्मा रस है, जो ब्रह्म का आनन्दमय स्वरूप है, जैसा कि वेद में कहा है – 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति'। नाट्यवेद के आचार्य भरत ने लिखा है कि 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते।' रस ही काव्य का जीवन-प्राण है। अलङ्कार, गुण, रीति, औचित्य आदि सभी काव्य के गुण-रस के साधन हैं। वे रसोन्मेष के कारण हैं। सहृदयहृदय जब रस-ब्रह्म से तादात्म्य भाव को प्राप्त कर लेता है, तब समस्त वेद्यान्तर विगलित हो जाते हैं। उसी प्रकार रसास्वाद होने पर उसके सभी साधनों का ज्ञान विगलित हो जाता है। इसी महान् ध्येय के आधार पर सहित्य-सृष्टि हुई है, नाट्यशास्त्र के प्रथम प्रवर्त्तक आचार्य भरत का यही सिद्धान्त है। यही कारण है

कि भारतीय काव्यों में भारत की दार्शनिक संस्कृति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतीय नाटकों के दुःखान्त न होने का यही कारण है। भारतीय संस्कृति संसार के पर्यवसान को दुःखान्त नहीं मानती, वहाँ तो जीवन का अन्त सदा मंगलमय और आनन्दमय है। अन्य साहित्यों से संस्कृत-साहित्य को यही विशेषता है।

पाश्चात्य संस्कृति के भक्त भौतिकवादी स्थूल दृष्टिकोण से हमारे साहित्य की समीक्षा और गवेषणा करते हुए अनाप-शनाप कल्पनाओं और दूषित अनुमानों द्वारा जो भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न करते हैं, वास्तव में हमारी आध्यात्मिक संस्कृति के अति गम्भीर रहस्यों से अनभिज्ञ होने के कारण उसके अन्तस्तल में प्रवेश नहीं कर पाते। अस्तु।

संस्कृत साहित्य, उसके भेद-प्रभेद तथा उसके अङ्ग-उपाङ्ग आदि को मिलाकर विस्तृत वाङ्मय की सृष्टि हुई है। भारतीय विद्वानों का सदा से यह स्वभाव रहा है कि वे जिधर झुके, उसके अन्तिम स्तर तक पहुँचने और उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में उन्होंने कुछ बाकी नहीं छोड़ा। इसी प्रकार साहित्य-विद्या भी अत्यन्त लोकप्रिय रूप में अपने पूर्ण विकास पर पहुँच चुकी थी। इसके विस्तार का दिग्दर्शन कराने के पूर्व हम इसके विकास और इतिहास पर एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक समझते हैं।

भारतीय साहित्य का प्रारम्भ वाल्मीकिरामायण से माना जाता है, यद्यपि समस्त विद्याओं के स्रोतःस्वरूप वेदों में सर्वप्रथम गीति-काव्यों का तथा उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अनेक अलङ्कारों का अस्तित्व प्राप्त होता है और संवाद-सूक्तों में नाटकों के बीज भी दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु, उनका सर्वाङ्गपूर्ण और प्रांजल रूप सर्वप्रथम रामायण के रूप में ही दृष्टि-गोचर होता है। रामायण, संस्कृत भाषा का आदि महाकाव्य है। उसमें भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विकसित रूप स्पष्ट दीखता है। रामायण के आधार पर संस्कृत साहित्य में शताधिक काव्यों और नाटकों की रचना की गई है। अनेक पुराणों तथा महाभारत में इसी के आधार पर रामकथा का वर्णन किया गया है। बौद्धग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवादों में तथा बौद्ध और जैनग्रन्थों में रामायण का अधिकाधिक प्रभाव देखा जाता है। संसार की समस्त रचनाओं में रामायण की कथा सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है। रामायण का अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व है। जिस प्रकार वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद का सर्वप्रथम और प्रधान स्थान है, उसी प्रकार लौकिक संस्कृत के वाङ्मय में रामायण का सर्वोच्च स्थान है।

रामायण के अनन्तर दूसरा स्थान महाभारत का है। इसके सम्बन्ध में यही एक उक्ति पर्याप्त है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'। यद्यपि महाभारत को रामायण के समान महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनेक महाकाव्यों का जनक तो निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। महाभारत वास्तव में इतिहास-ग्रन्थ है।

ये दोनों महाकाव्य हिमाचल और विन्ध्याचल के समान संस्कृत-साहित्य के नगाधिराज हैं, जिनके अक्षय स्रोतों से निकलनेवाली अनेक साहित्य-सरिताओं ने सहस्रों वर्षों से भारत-भूमि को आप्लावित और आप्यायित करते हुए सरस बना रखा है।

काव्य दो प्रकार के होते हैं—श्रव्य और दृश्य। उनमें श्रव्य काव्य के दो महान् स्रोतों के

अतिरिक्त दृश्यकाव्यों के प्रधानाचार्य भरतमुनि भी संस्कृत-साहित्य के अन्यतम स्रोत हैं। साहित्य के लक्षण ग्रन्थों में सर्वप्रथम ग्रन्थ, भरत का नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र का मुख्य विषय दृश्यकाव्य है। यद्यपि भरत ने श्रव्यकाव्यों से सम्बन्ध रखनेवाले रस, अलङ्कार, गुण, वृत्ति, छन्द, नायिका-भेद और काव्य-दोषों की विस्तृत विवेचना नहीं की है, तथापि अनेक अध्यायों में इन विषयों पर प्रकाश डाला है। भरत के परवर्त्ती आचार्यों ने इन विषयों का विस्तृत विवेचन किया है।

उक्त तीनों साहित्य-शास्त्र-प्रवर्त्तकों के समय आदि के सम्बन्ध में पाश्चात्य और तदनुयायी भारतीय विद्वानों ने अनेक निर्मूल कल्पनाएँ की हैं, जिनमें अनेक अप्रामाणिक और हास्यास्पद भी हैं। जैसे—रामायण का महाभारत के बाद निर्माण, दोनों का बुद्धकाल के बाद निर्माण आदि।

महाभारत के अनन्तर विक्रम-संवत् के प्रारम्भ तक मध्यकाल में साहित्य की प्रगति अनेक धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण मन्द थी। लौकिक संस्कृत भाषा में अभी इतना लालित्य और माधुर्य नहीं आया था कि उसमें साहित्य या काव्यों की सृष्टि की जा सके—पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है। किन्तु ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में पाणिनि ने व्याकरण-शास्त्र का निर्माण करने के अनन्तर 'जाम्बवती-विजय' या 'पाताल-विजय' नामक काव्य की रचना की थी। यद्यपि ये काव्य, आज उपलब्ध नहीं हैं; किन्तु कुछ शताब्दी पूर्व तक इनके अस्तित्व का पता लगता है। नवम शताब्दी के राजशेखर ने उनके काव्य की प्रशंसा की है। दशम शतक के क्षेमेन्द्र ने उनके उपजाति-वृत्त की प्रशंसा की है। रुद्रट के काव्यालंकार की टीका और अमरकोष की टीका में उनके काव्यों की चर्चाओं से भलीभाँति उनके कवि होने का प्रमाण मिलता है।

पाणिनि के कुछ परवर्त्ती आचार्य वररुचि के 'कण्ठाभरण' काव्य की चर्चा राजशेखर ने की है। पुष्यमित्र के समकालीन पतञ्जलि ने 'वाररुचं काव्यम्' कहकर उनके काव्य का उल्लेख महाभाष्य में किया है। सूक्तिग्रंथों में वररुचि के अनेक पद्य मिलते हैं। उनकी कविताओं को देखने से वररुचि की उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है।

पतञ्जलि ने महाभाष्य में अनेक श्लोक-खण्डों, कंसवध, बलिबन्धन आदि नाटकों तथा वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी नामक आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। पाणिनि के समकालीन छन्दःशास्त्र के आचार्य पिंगल ने काव्यों में प्रयुक्त होनेवाले अनेक लौकिक छन्दों के लक्षण लिखे हैं; जो नवीन साहित्य में प्रयुक्त होने लगे थे। अतः साहित्य का उदयकाल विक्रम के अनेक शतक पूर्व हो चुका था—यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

विक्रमकालीन महाकवि कालिदास ने जिन भास, रामिल, सौमिल, कविपुत्र आदि कवियों के नामों का उल्लेख किया है, वे उनके समय से पूर्व उत्पन्न हो चुके थे। विक्रम के १५०—२०० वर्ष पूर्व के शिला-लेखों में अत्यन्त ललित संस्कृत-पद्यों में लिखे शिला-लेख प्राप्त होते हैं। अतः विक्रम के पूर्व संस्कृत-साहित्य का पूर्ण विकास हो चुका था—इसमें सन्देह नहीं।

विक्रम-संवत् के प्रारम्भ से संस्कृत-साहित्य का यौवन-काल प्रारम्भ होता है। इस समय संस्कृत के साथ प्राकृत भाषा भी पूर्ण विकसित हो चुकी थी। पैशाची भाषा में लिखी गई 'बृहत्कथा' और 'हाल' की 'गाथासप्तशती' उसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस समय देश में साहित्य का प्रबल रूप से प्रचार होने लगा था। राजा स्वयं कवि होते थे, अतएव वे कवियों का आदर-सम्मान करते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' नियम के अनुसार प्रजा में साहित्य-प्रेम उद्दीप्त हो उठा था। इसी अवसर पर संस्कृत-साहित्य-क्षेत्र के सर्वोत्कृष्ट कलाकार कालिदास ने अपनी अनुपम रचनाओं द्वारा महाकाव्य, खण्डकाव्य और दृश्यकाव्यों की सुसंस्कृत, परिमार्जित और सुस्थिर शैली का आदर्श उपस्थित करके साहित्य-क्षेत्र में नवीन युग का प्रवर्त्तन किया। उनकी रचनाएँ 'न भूतो न भविष्यति' के वास्तविक उदाहरण हैं। अश्वघोष, भारवि, माघ, कुमारदास, श्रीहर्ष, रत्नाकर आदि महाकवियो ने इसी शैली का अनुसरण और परिवृंहण किया है। उनके खण्डकाव्य या गीतिकाव्य एवं मेघदूत के आदर्श पर अनेक दूत-काव्यों की तथा सरस एवं मधुर गीतिकाव्यों की रचना को प्रेरणा मिली और उनके भू-लोक एवं स्वर्लोक का मधुर सामञ्जस्य करनेवाले 'अभिज्ञानशाकुन्तल' ने रूपक-रचना में सर्वोत्कृष्ट आदर्श स्थापित किया। यही कारण है कि वे वास्तविक अर्थ में कविकुल-गुरु थे। उनकी स्थापित परम्परा आजतक अविकृत रूप से समस्त भारत में किसी रूप से जीवित है। पिछले कुछ दशकों तक भी संस्कृत भाषा में महाकाव्यों और गीतिकाव्यों की रचना होती रही है।

छठी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी-पर्यन्त कश्मीर में संस्कृत-साहित्य का अत्यन्त मधुर परिपाक हुआ। इस समय महाकवि मेण्ठ, रत्नाकर, आनन्दवर्धन, शिवस्वामी, जगद्धर भट्ट, क्षेमेन्द्र, शम्भु, बिल्हण, कल्हण, जल्हण, अभिनन्द आदि बड़े-बड़े दिग्गज महाकवि हुए; जिन्होंने पचास सर्गों तक के महाकाव्यों और सैकड़ों गीतिकाव्यों का निर्माण किया। काव्य-कला की प्रौढ़ता, माधुर्य का आतिशय्य और रचना का अलौकिक सौन्दर्य इनकी रचनाओं में चरमसीमा तक पहुँच चुका था। कवियों के समान यहाँ के मातृगुप्त और अवन्तिवर्मा जैसे राजा भी महाकाव्यों का प्रणयन करते थे।

संस्कृत-साहित्य के निर्माण, संरक्षण, संवर्द्धन और प्रसार-कार्यों में भारतीय राजाओं द्वारा सर्वाधिक प्रोत्साहन और प्रेरणा प्राप्त हुई। शूद्रक, साहसाङ्क, विक्रम, हाल, समुद्रगुप्त, हर्षवर्द्धन, मातृगुप्त, कुमारदास, अवन्तिवर्मा, यशोवर्मा, वाक्पतिराज, भोजदेव तथा कर्णाट, केरल आदि दक्षिण-भारत के अनेक राजाओं ने स्वयं उच्चकोटि की रचनाएँ की हैं। इनके द्वारा प्रश्रय-प्राप्त अनेक साहित्यकारों ने उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय राजाओं के दरबारों में कवि और विद्वान् रहा करते थे।

प्राचीन समय से राजाओं के दरबारों में प्रतिवर्ष काव्य-गोष्ठियाँ और परीक्षा-सभाएँ होती थीं, जिनमें दूर-दूर देशों के कवि अपनी-अपनी रचनाएँ सुनाते थे। उत्कृष्ट रचनाओं पर पुरस्कार प्राप्त होते थे। सर्वोत्कृष्ट साहित्यकारों को विशेष प्रमाणपट्ट दिये जाते थे और ब्रह्म-

रथ पर बैठाकर उनकी शोभायात्रा (जुलूस) निकाली जाती थी। राजशेखर ने ऐसी सभाओं की चर्चा की है। पाटलिपुत्र में पाणिनि, वररुचि, पतञ्जलि आदि की परीक्षा तथा उज्जैन में कालिदास, अमर, सूर, भारवि आदि कवियों की परीक्षा, पुरस्कार आदि का निर्देश किया है। इस प्रकार के आयोजनों द्वारा दूर-दूर के साहित्यकारों का सम्मेलन और उनकी रचनाओं का प्रसार बहुत शीघ्र होता था। यही कारण था कि केरल से कश्मीर तक नवनिर्मित साहित्य का शीघ्र ही प्रसार हो जाता था।

कवियों के अतिरिक्त, साहित्य-शास्त्र के महान् आचार्य आनन्दवर्धन, आचार्य अभिनव गुप्त, वामन, रुद्रट, रुय्यक, वक्रोक्तिमार्ग के प्रवर्त्तक भट्ट कुन्तक, मम्मट, महिम भट्ट आदि साहित्य-दर्शन के मर्मज्ञ विद्वानों ने अपनी गम्भीर गवेषणाओं और अखण्ड पाण्डित्य के आधार पर साहित्य को दर्शन आदि गम्भीर शास्त्रों की कोटि में लाकर उसका महान् गौरव बढ़ाया। कश्मीर के सिद्ध-सारस्वत कवियों ने संस्कृत भाषा के साहित्य को बाह्य और आभ्यंतर रूपों से प्रौढ़तम और मधुरतम बनाने एवं संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष बढ़ाने में सर्वाधिक कार्य किया है।

आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज भी साहित्य-सृष्टि का केन्द्र रहा है। स्वयं महाकाव्य के प्रणेता यशोवर्मा, महेन्द्रपाल, महीपाल आदि राजाओं के समय यहाँ भवभूति, राजशेखर, वाक्पतिराज, आर्य क्षेमीश्वर, प्रचण्ड दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष आदि विद्वानों ने उच्च कोटि के दृश्यकाव्यों की रचना द्वारा साहित्य की महनीय सेवा की है। उत्तररामचरित, मालतीमाधव, बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका, चण्डकौशिक जैसे साहित्य-संसार के उच्चतम नाटकों तथा 'नैषधीय चरित' ऐसे अद्भुत महाकाव्य की रचना की गई, जो साहित्य में अत्यन्त गौरवपूर्ण माने जाते हैं।

बंगाल के सेनवंशी राजाओं के समय आचार्य गोवर्धन, महाकवि जयदेव, धोयी, कविराज, शरण आदि महाकवियों ने आर्यासप्तशती, गीतगोविन्द, पवनदूत आदि काव्यों का निर्माण किया, जो संस्कृत के गीतिकाव्यों में युगान्तर उत्पन्न करते हैं। इनमें संस्कृत भाषा की मधुरिमा चरम रूप में दीख पड़ती है।

दसवीं शताब्दी के अनन्तर दक्षिण-भारत में संस्कृत-साहित्य का निर्माण विशेष रूप में प्रारम्भ हुआ। इनकी रचना-शैली अन्य प्रान्तीय शैलियों से भिन्न थी; किन्तु अत्यन्त प्रौढ और आकर्षक। यहाँ कुछ महाकाव्यों के अतिरिक्त खण्डकाव्यों, स्तोत्रकाव्यों, नाटकों, चम्पूग्रन्थों, भाण, प्रहसन आदि रूपकों का प्रचुर मात्रा में निर्माण हुआ। इस युग के अंत में वेंकटाध्वरि पण्डितराज तथा जगन्नाथ के अतिरिक्त अप्पय दीक्षित, नीलकण्ठ दीक्षित आदि महाकवि और साहित्य-दर्शन के प्रचण्ड विद्वान् उत्पन्न हुए। रसगंगाधर और कुवलयानन्द ऐसे प्रौढ, प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों का इनके द्वारा निर्माण हुआ। दक्षिण-देश में संस्कृत-साहित्य पर जो प्रचुर कार्य हुआ है, वह अत्यन्त गौरवान्वित और स्पृहणीय है।

ग्यारहवें शतक में गुर्जर देश में भी संस्कृत-साहित्य के रचनात्मक और विवेचनात्मक कार्य हुए हैं। कायस्थ महाकवि सोड्ढल की 'उदयसुन्दरी कथा' और वास्तुपाल के रूपक इसी शताब्दी में उपलब्ध हुए हैं। इसी समय गुजरात के संस्कृत-प्रेमी राजाओं के प्रश्रय में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। इसमें जैन विद्वानों का अधिक सहयोग रहा है।

पिछली शताब्दियों में राजस्थान में भी संस्कृत-साहित्य का निर्माण हुआ है। इस समय भी अनेक साहित्यकारों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। हम्मीर-विजय, पृथ्वीराज-विजय आदि अनेक महाकाव्यों की रचना हुई है। विक्रम की पिछली शताब्दी में जयपुर के श्रीकृष्णराम कवि प्राचीन महाकवियों की टक्कर के साहित्यकार थे। जयपुर-विलास आदि अनेक ललित रचनाएँ इन्होंने की हैं, जो अब अलभ्य हैं।

साहित्य-निर्माण-काल की अन्तिम अवधि विक्रम की विंश शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक रही है। इस समय भी भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में साहित्य-निर्माण-कार्य चलता रहा है और आज भी किसी रूप में प्रचलित है।

इस शतक में भारत-प्रसिद्ध महाविद्वान् महामहोपाध्याय गङ्गाधर शास्त्री तैलङ्ग का अलिविलासिसंलाप, बंगाल के महामहोपाध्याय पञ्चानन तर्करत्न, बिहार के रामावतार शर्मा पाण्डेय एवं मिथिला के अनेक विद्वानों द्वारा उच्चकोटि के श्रव्य और दृश्यकाव्यों का उल्लेखनीय निर्माण हुआ है।

श्रव्यकाव्यों के अवान्तर भेदों में कुछ स्तोत्र-काव्य भी साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। रस, भाव, अलङ्कार, गुण आदि की दृष्टियों से ये स्तोत्र उत्कृष्ट साहित्य में स्थान प्राप्त करते हैं। कश्मीर के महाकवि जगद्धर भट्ट का स्थान इनमें सभी दृष्टियों से श्लाघ्य है। इनका 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' नामक बृहत्स्तोत्र-संग्रह, अद्भुत कवित्वमय है। सोलह वर्ष के इस शिवभक्त महाकवि की आश्चर्यजनक और प्रसादमय कविता में कुछ अलौकिक आस्वाद और अनिर्वचनीय माधुर्य है। इसके अतिरिक्त बाणभट्ट का चण्डीशतक, मयूर का सूर्यशतक, शङ्कराचार्य की सौंदर्यलहरी, मूककवि के पञ्चस्तव, वेंकटाध्वरि का लक्ष्मीसहस्र, पण्डितराज का लहरीपञ्चक, विष्णुभक्तिकल्पलता आदि अनेक उत्कृष्ट स्तोत्र हैं। इन्हींके आदर्श पर बनाया गया आचार्य रामावतार शर्मा का मारुतिशतक भी इसी कोटि की आधुनिक रचना है।

दृश्यकाव्यों के सम्बन्ध में पिछले प्रघट्टकों में साधारण चर्चा की गई है। इनकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई—यह विषय अत्यन्त जटिल और छान-बीन का है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय नाटकों पर ग्रीक और यूनानी प्रभाव का समर्थन करने का महान् यत्न किया है, जो सर्वथा असार और निर्मूल संकुचित भावनापूर्ण होने के कारण विमर्शनीय नहीं हो सकता। समस्त विद्याओं के मूल आधार वेदों के संवाद-सूक्तों में इसके बीज पाये जाते हैं। 'उर्वशी हाप्सरा : पुरूरवसमैडं चकमे' इस सूत्र के आधार पर कालिदास के विक्रमोर्वशीय रूपक की रचना की गई है। नाट्यविद्या को पञ्चम वेद माना गया है। पाश्चात्य विद्वानों ने यह

स्वीकार किया है कि वैदिककालीन यज्ञों में गायन और नर्त्तन के साथ संवाद-सूक्तों का अभिनय होता था।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार देवताओं की सभा में त्रिपुरदाह नामक डिम और समुद्रमन्थन समवकार का प्रथम अभिनय किया गया था। पाणिनि के पूर्व नटसूत्र नामक सूत्र-ग्रन्थ का पता चलता है, जो नाट्यशास्त्र-विषयक मूलग्रन्थ था। पतञ्जलि ने अपने भाष्य में कंसवध और बलिबन्धन नाटकों के नाम दिये हैं।

लगभग उन्हीं के समय निर्मित भारतीय नाट्यशास्त्र में अनेक नाटकीय विषयों का विस्तार देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि नाटकों की रचना उससे सहस्रों वर्ष पूर्व होने लगी थी। उसका इतना विकसित रूप दो-चार सौ वर्षों में सम्पन्न नहीं हो सकता।

'जवनिका' शब्द को लेकर ग्रीक और यूनान द्वारा भारतीय नाट्यकला का उन्मेष माननेवाले कुछ पाश्चात्य विद्वानों की कल्पनाएँ या तो उनके घोर अज्ञान-प्रसूत हैं या संकुचित मनोवृत्ति के कारण दुराग्रह-ग्रहिल हैं। ग्रीक और भारतीय नाट्य-परम्पराएँ प्रकृत्या भिन्न हैं, उनका लेशमात्र भी सामञ्जस्य सम्भव नहीं है। फिर, ग्रीक और यूनान की सभ्यता के जन्म-ग्रहणकाल तक भारतीय नाट्यकला पर्याप्त मात्रा में परिष्कृत और परिमार्जित हो चुकी थी।

उपलब्ध संस्कृत रूपकों में सर्वप्रथम 'भास' की नाटकावली उपलब्ध होती है, जिसमें तेरह नाटक प्राप्त हुए हैं। इस संबंध में कुछ लोगों का मत है कि 'स्वप्नवासवदत्तम्' को छोड़कर अन्य नाटक भास के नहीं हैं, उनके नाम से कल्पित किये गये हैं। इस सम्बन्ध में इस अवसर पर विचार करना कठिन है। भास के अनन्तर कविकुल-गुरु कालिदास के तीन नाटक उपलब्ध होते हैं, जिनमें अभिज्ञानशाकुन्तल, समस्त रूपक-जगत् में सर्वोच्च कोटि का नाटक माना जाता है। इनके अनन्तर अश्वघोष का 'शारिपुत्र-प्रकरण' है, जो नौ अङ्कों में लिखा गया है। विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', शूद्रक का 'मृच्छकटिक' और भट्ट नारायण का 'वेणीसंहार' अपने-अपने विषय के प्रथम श्रेणी के नाटक हैं। इनके अनन्तर कालिदास की कोटि के भवभूति का समय आता है—इनके तीन नाटकों में करुणरस-प्रधान 'उत्तर-रामचरित' संस्कृत-साहित्य का अमूल्य रत्न है। सम्राट् हर्षवर्धन की 'रत्नावली' और 'नागानन्द' भी उच्चकोटि के रूपकों में हैं। राजशेखर, आर्य क्षेमीश्वर, मुरारि और जयदेव के रूपक साहित्य-क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में अनेक छाया-नाटक और प्रतीक नाटकों की रचना हुई है।

संस्कृत के दृश्यकाव्यों के मुख्यतः दस प्रकार और अट्ठारह उपप्रकार हैं। इस अतिशय मधुर और ललित साहित्य का संस्कृत में श्रव्यकाव्यो की अपेक्षा अधिक विस्तार हुआ है। इन दृश्यकाव्यों में कुछ संस्कृत रूपकों की चर्चा पहले की गई है।

पद्य-काव्यों के अतिरिक्त संस्कृत के गद्य-काव्यों का निर्माण भी अपनी तुलना नहीं रखता। संस्कृत में सर्वप्रथम और सर्वप्राचीन गद्य के दर्शन तो वैदिक संहिताओं से प्रारम्भ

होते हैं, जो अन्त में नव्य न्याय की क्लिष्टतम शैली में पर्यवसित होते हैं। इस शास्त्रीय गद्य के अतिरिक्त साहित्य-गद्य का प्रारम्भ महाकवि सुबन्धु की 'वासवदत्ता' से होता है। इनके पूर्व भी भट्टार हरिचन्द्र के गद्य-प्रबन्ध की चर्चा बाणभट्ट ने की है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं है। संस्कृत-साहित्य में गद्य-शैली का सर्वोत्तम और मधुरतम रूप बाणभट्ट के ग्रन्थों में पाया जाता है।

पद्य-शैलियों के समान गद्य की भी अनेक शैलियाँ हैं। किन्तु गद्य का प्रधान गुण ओज है। ओज के विना गद्य निर्जीव-सा हो जाता है। गद्य, कवि की प्रतिभा और पाण्डित्य की कसौटी है। इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त करनेवाले महाकवि बाणभट्ट का सर्वोच्च स्थान है। उनके अतिरिक्त दण्डी, धनपाल, सोमदेव सूरी, त्रिविक्रम भट्ट, अनन्त, सोड्ढल आदि गद्य के प्रौढ़ महाकवि हैं। इनमें सोमदेव, त्रिविक्रम और अनन्त कवि ने क्रमशः यशस्तिलक, नल और भारत चम्पुओं का निर्माण किया है, जो गद्य-पद्यात्मक हैं; किन्तु उनमें उत्कृष्ट गद्य-भाग साहित्य-दृष्टि से उच्च स्थानीय है। दक्षिण की प्रचण्ड गद्य-शैली 'वरदाम्बिका-परिणय' चम्पू में देखी जाती है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि विश्वेश्वर पाण्डेय की 'मन्दारमञ्जरी' तथा अम्बिकादत्त व्यास की 'शिवराज-विजय' सरल, प्रौढ़ और सुन्दर गद्य-शैली के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

संस्कृत का कथा-साहित्य भी विश्व के साहित्य में प्रभावपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि पाश्चात्य साहित्य में आज इस कथा-साहित्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, तथापि इसका उद्गम भी भारतीय साहित्य के आदिस्रोत ब्राह्मण-ग्रंथों में पाया जाता है। धार्मिक और पौराणिक कथाओं को छोड़कर मनोरंजन-प्रधान लोक-कथाओं का प्रारंभ, अज्ञात काल से प्रचलित था, किन्तु उनका सर्वप्रथम संग्रह महाकवि गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' के नाम से किया, जिसके संस्कृत में तीन अनुवाद प्राप्त होते हैं। इन कथाओं के आधार पर अनेक संस्कृत गद्यकाव्यों तथा नाटकों की रचना हुई। पञ्चतंत्र इस साहित्य की सर्वप्रिय रचना है, जिसका छठी शताब्दी में प्रथम अनुवाद पहलवी भाषा में हुआ और उसके बाद विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित होकर इसने विश्व को एक नवीन शैली प्रदान की। बेताल पञ्चविंशति, शुकसप्तति आदि संस्कृत की कथाएँ भी अपनी लोकप्रियता के कारण अनेक भाषाओं में अनूदित हुई हैं।

संस्कृत-साहित्य के इस ललित निर्माण में बौद्ध-कवियों की रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। कालिदास-युग के अश्वघोष, मातृचेट और आर्यसूर जैसे मर्मज्ञ महाकवियों की बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, जातकमाला आदि रचनाएँ प्रथम श्रेणी की रचनाएँ हैं। जैन-कवियों ने भी संस्कृत-साहित्य के मधुर और सरस निर्माण में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। साहित्य-क्षेत्र में संकुचित साम्प्रदायिक भावनाओं को दूर कर उन्होंने रामायण और महाभारत ही नहीं; भागवत की कृष्ण-लीलाओं के आधार पर भी अनेक महाकाव्यों की रचना हिन्दू-दृष्टिकोण से की है। ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग जैन महाकवियों ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। अमर-चन्द्र सूरि का ४० सर्गों में लिखा गया 'बालभारत' नामक महाकाव्य वैदर्भी रीति का सुन्दर

उदाहरण है। पाण्डव-चरित, नरनारायणानन्द, वसन्त-विलास, धर्मशर्माभ्युदय, हीरसौभाग्य आदि महाकाव्यों के अतिरिक्त अनेक महाकाव्यों और खण्डकाव्यों की रचना की गई है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' जैसे उत्कृष्ट काव्य-रचना-शास्त्र के निर्माण के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण भी किया है।

संस्कृत-साहित्य की सृष्टि में अनेक महिला कवयित्रियों ने भी अत्यधिक योगदान किया है। इनमें महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्णाट, केरल और लाटदेश की कवयित्रियों का अधिक पता चलता है, जिनमें विजया विज्जिका, कर्णाट-राजप्रिया, मधुरवाणी, प्रभुदेवी, सुभद्रा आदि की स्फुट रचनाएँ तो प्राप्त होती हैं, किन्तु उनके निबन्ध नहीं मिलते। दक्षिण-भारत में कुछ कवयित्रियों के प्रबन्ध प्राप्त हुए हैं। राजशेखर ने इनकी चर्चा अपनी प्रशस्तियों में की है। काव्य-प्रकाश ऐसे उच्चकोटि के ग्रन्थों में इनकी रचनाएँ उद्धृत हैं। पिछले दशकों में श्रीमती क्षमाराव ने, जो कर्णाटदेशवासिनी थीं, गान्धीवाद तथा अनेक स्फुट विषयों पर सुन्दर काव्य-निर्माण किया है।

काव्य के मध्ययुग में चित्रकाव्य-रचना की ओर कवियों का ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ प्रतीत होता है। सर्वप्रथम भारवि के 'किरातार्जुनीय' में एक सर्ग चित्र-रचना का है, जिसमें एकाक्षर और द्व्यक्षर श्लोक तथा मुरज, कमल आदि बन्धों द्वारा आश्चर्य और कौतूहलपूर्ण चित्र-निर्माण किया गया है। इस परम्परा को माघ ने परिवृंहित किया है। आगे चलकर इस रचना की ओर कवियों का झुकाव अधिक दीखता है। अनेक चित्र-काव्य निर्मित हुए। इसके अन्तर्गत क्रियागुप्त, कारकगुप्त, प्रहेलिका और कूट-रचनाएँ भी होने लगीं और इनपर कुछ लक्षण-ग्रन्थ भी लिखे गये।

उच्च साहित्य की दृष्टि से यह तृतीय श्रेणी का काव्य माना गया है और साहित्य के तृतीय युग में ही ऐसी रचनाएँ अधिक उपलब्ध भी हुई हैं। तृतीय श्रेणी की रचना होने पर भी इसमें कवि की प्रतिभा, पाण्डित्य, सूझ-बूझ और व्यापक ज्ञान का पता चलता है। ऐसी रचनाएँ पिछली तीन-चार शताब्दियों के इधर अधिक मात्रा में देखी गई हैं। आज भी संस्कृत के ऐसे अनेक कलाकार विद्यमान हैं।

संस्कृत-साहित्य की चर्चा में लक्ष्य-चर्चा के साथ लक्षण-चर्चा भी आवश्यक है। लक्षण-ग्रन्थों में काव्यों के लक्षण, स्वरूप, प्रकार, उनके गुण, दोष, अलङ्कार, शैली, वृत्ति, रस, ध्वनि और अन्यान्य अनेक निर्माण-सामग्री आदि का विवेचन किया गया है। यह एक अतिविस्तृत और गहन विषय है। इसमें अलङ्कार, रस, वक्रोक्ति, औचित्य आदि अनेक सम्प्रदाय हैं।

काव्य-लक्षण-सम्बन्धी सर्वप्रथम चर्चा अग्निपुराण में की गई है। इसके अनन्तर मेधावी रुद्र, भामह, दण्डी, वामन, रुय्यक आदि अलङ्कारवादी विद्वानों ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं। अलङ्कार और रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले ये प्राचीन आलङ्कारिक हैं। नवम शतक के कश्मीरी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि पर अत्युत्कृष्ट

और गंभीर ग्रन्थ लिखा है, जो साहित्य का प्रामाणिक और मूल ग्रन्थ माना जाता है। ये ध्वनिमत-प्रतिष्ठापनाचार्य कहे जाते हैं। अभिनवगुप्त और मम्मट ने इस मत को शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिष्ठित किया है। ये ही तीन, ध्वनि-रसशास्त्र के प्रधान और प्रामाणिक आचार्य हैं।

कश्मीर के महिमभट्ट ने, जो प्रचण्ड तार्किक थे, ध्वनि के खण्डन में 'व्यक्ति-विवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की है। कश्मीर के ही भट्टकुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते हुए 'वक्रोक्तिजीवित' नामक सूक्ष्म मीमांसापूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

दशम शतक के गम्भीर समालोचक क्षेमेन्द्र ने औचित्य पर नवीन मीमांसा की है। इनके अनन्तर साहित्य-दर्पण, रसगंगाधर—ये दो अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ निर्मित हुए।

इनके अतिरिक्त मीमांसक कवि राजशेखर ने काव्य-रचना-शास्त्र के सम्बन्ध में नवीन और सूक्ष्म मीमांसा-पद्धति का आरम्भ किया। उनकी शैली का अनुकरण करते हुए भोजदेव, जैनाचार्य हेमचन्द्र, शारदातनय आदि ने सरस्वती-कण्ठाभरण, काव्यानुशासन आदि संग्रहात्मक ग्रन्थों का निर्माण किया है।

संस्कृत-साहित्य का क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तृत है कि उसकी चर्चा सीमित पृष्ठों में नहीं की जा सकती। उसके अवान्तर भेद-प्रभेद भी अत्यधिक हैं। यदि कलाओं को भी साहित्य के अन्तर्गत माना जाय तो इसका विस्तार और भी अधिक हो जाता है। चौंसठ कलाएँ और चार सौ उपकलाएँ हैं। भामह ने लिखा है—

न तच्छास्त्रं न सा विद्या न तच्छिल्पं न सा कला
जायते यन्न काव्याङ्गं अहो भारो महान् कवेः!

हम इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त करते हुए यही चाहते हैं कि समस्त प्रान्तीय भाषाओं को और विशेषतः राष्ट्रभाषा को उन्नत बनाने के लिए इसकी रक्षा की जाय, इसके उपयोगी वाङ्मय का हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद किया जाय और नवसाहित्य का निर्माण करनेवालों के लिए इसका अध्ययन अनिवार्य हो। इस भाषा और साहित्य की उपेक्षा करना अपनी अक्षय और अनन्त सम्पत्ति से वंचित होकर अपने अस्तित्व की उपेक्षा के समान होगा।

—केदारनाथ शर्मा सारस्वत

◉

तमिल् भाषा और साहित्य

आमुख—तमिल् द्राविड़-परिवार की भाषाओं में प्रमुख और समृद्ध भाषा है। यह संसार की प्राचीनतम मौलिक भाषाओं में एक है। इस भाषा की प्रथम साहित्यिक रचना कब हुई, कहना कठिन है। प्राप्त प्रमाणों से इतना निश्चित है कि ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व यह भाषा सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित थी तथा इसमें अनेक उत्तमोत्तम रचनाएँ हो चुकी थीं। प्रचलित भारतीय भाषाओं में तमिल् ही एक ऐसी भाषा है, जो संस्कृत शब्दों की सहायता के बिना हर प्रकार के विचार को अभिव्यंजित करने में समर्थ रही है। यद्यपि गत कई शताब्दियों से संस्कृत से तमिल् भी प्रभावित हुई है, फिर भी अन्य द्राविड़ भाषाओं की अपेक्षा तमिल् में संस्कृत के शब्द अत्यल्प मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। तमिल्-साहित्य पर विस्तार से विचार करने के पूर्व तमिल्भाषी क्षेत्र, लिपि और भाषा की विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालना असंगत नहीं होगा।

क्षेत्र—आज तमिल्भाषी प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग पचास हजार वर्गमील है और तमिल् बोलनेवालों की संख्या लगभग तीन करोड़ है। कुछ विद्वानों के मतानुसार ईसा से सदियों पूर्व तमिल्भाषी प्रदेश, पूर्व में जावा द्वीपसमूह से लेकर दक्षिण-पश्चिम में अफ्रिका तक फैला हुआ था। उस भूखण्ड को 'लेमोरिया' कहते थे। प्राकृतिक उथल पुथल के कारण वह भू-भाग जलमग्न हो गया और दक्षिण-भारत तथा श्रीलंका ही शेष रह गये। इसके अतिरिक्त मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेष ने भी द्राविड़ जाति और भाषा की प्राचीनता और विस्तार को प्रमाणित किया है।

लिपि—कई लोगों का मत है कि नागरी की तरह तमिल् लिपि का आधार ब्राह्मी लिपि है। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि इसका संबंध एक स्वतंत्र और मौलिक लिपि से है। इसको गोल-लिपि (वट्टेलुत्तु) कहते थे। तमिल् में बारह स्वर और अठारह व्यंजन हैं। नागरी की भाँति तृतीय अक्षर और महाप्राण अक्षर नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'क' वर्ग से लेकर 'प' वर्ग तक केवल प्रथम और अंतिम अक्षर हैं (कुल १० अक्षर); फिर य, र, ल, व चार अक्षर हैं। इन चौदह अक्षरों का रूप नागरी लिपि में लिख सकते हैं। इनके अतिरिक्त चार वर्ण और हैं, जो तमिल् के विशेष वर्ण हैं। वे हैं—ल़ (Zha), ळ (Lla), ऱ (Rra), ऩ (Nna)। इनमें पहला 'ल़' तमिल् का प्राण है।

संस्कृत के प्रभाव के कारण बहुत-से संस्कृत के शब्द तमिल् में सम्मिलित कर लिये गये। महाप्राण अक्षर के अभाव में इन शब्दों के लिखित रूप को शुद्ध-शुद्ध पढ़ना कठिन हो गया था। अतः ग्रन्थ-लिपि का प्रचलन हुआ। यह लिपि आकार-प्रकार में द्राविड़-भाषाओं से मिलती-जुलती थी, लेकिन उच्चारण और क्रम में, नागरी तथा इसमें कोई अंतर नहीं था। परन्तु साहित्य-क्षेत्र में यह लिपि नहीं चली; केवल चार वर्णों का दान करके यह धार्मिक ग्रन्थों तक सीमित रह गई। वे चार अक्षर हैं—ज, स, ष, ह।

तमिल्-साहित्य का प्रारम्भ—प्राप्त प्रामाणों से विद्वानों का मत है कि ईसा से ५-६ सौ वर्ष पूर्व से ही तमिल् में सुव्यवस्थित साहित्य-रचना आरंभ हो गई थी। साहित्य-सृजन के

कार्य को उस समय के पांडिय राजाओं ने पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था। इसके लिए उन्होंने अपने तत्त्वावधान में साहित्य-परिषद् की स्थापना की थी, जिसे तमिल् में 'संग्रम' कहते हैं। इस प्रकार के तीन संघ एक के बाद एक स्थापित हुए, जिनके सदस्यों ने अद्वितीय ग्रन्थों की रचना करके तमिल्-साहित्य को समृद्ध किया। प्रथम दो संघों के समय के रचे ग्रन्थ नहीं मिलते। केवल तृतीय संघ के समय के रचे ग्रन्थ ही मिलते हैं। आगे इन संघों को आधार मानकर तमिल्-साहित्य का काल-विभाजन किया जायगा और प्रत्येक काल की साहित्य-रचनाओं और उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायगा।

काल-विभाजन—सुविधा की दृष्टि से तमिल्-साहित्य के इतिहास को निम्नलिखित विभागों में विभाजित कर लेना समीचीन होगा—

(१) संघपूर्वकाल ; (२) संघकाल ; (३) संघोत्तरकाल; (४) भक्तिकाल; (५) कंबनकाल (प्रबंध-काव्यकाल); (६) मध्यकाल ; (७) आधुनिक काल।

१. संघपूर्वकाल—अन्यत्र लिखा जा चुका है कि तीन साहित्य-परिषदें या संघ थे। इनमें प्रथम दो संघों के समय के अधिकांश ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। केवल तृतीय संघ के समय के ग्रन्थ **प्राप्त हैं**। अतः तृतीय संघ का काल, 'संघकाल' कहा जाता है और शेष दो संघों के काल 'संघपूर्वकाल' कहलाते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व प्रथम संघ की स्थापना 'कयचिनवलुति' नामक राजा ने दक्षिण मधुरा में की थी। ग्रंथों से यह भी विवरण प्राप्त है कि प्रथम संघ में कुल ५४८ विद्वान् सदस्य थे। इनमें प्रथम व्याकरण 'अगत्तियम' के प्रणेता अगस्त्य प्रमुख थे। पश्चात् द्वितीय संघकाल में जो व्याकरण रचा गया, वह इसीके आधार पर रचा गया।

दक्षिण मधुरा के जलमग्न हो जाने के कारण 'कवाटपुरम्' पांडिय-राजधानी बना। यहाँ द्वितीय संघ का आविर्भाव हुआ। वाल्मीकि रामायण, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और महाभारत में कवाटपुरम् का उल्लेख मिलता है—

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणि विभूषितम्।
युक्तं कवाटं पांड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानराः॥

—किष्किन्धाकांड, सर्ग ४१, श्लोक १७

इस संघ में, प्रारंभ में ५१ विद्वान् सदस्य थे, जिनमें तोलकाप्पियर भी एक थे। इन्होंने ही तमिल् का पुराना उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' का, १२७८ सूत्रों के रूप में, प्रणयन किया था। तमिल्-साहित्य का इससे पुराना ग्रंथ अबतक प्राप्त नहीं हुआ है। ये अगस्त्य के शिष्य बताये जाते हैं। यद्यपि 'तोलकाप्पियम्' तमिल् की सबसे प्राचीन रचना है, फिर भी उसके प्रणयन के पूर्व ही तमिल् में संस्कृत-शब्दों का समावेश हो चुका था।

'तोलकाप्पियम्' में अनेक प्राचीन लेखकों का उल्लेख है। वह पूर्ववर्ती तमिल्-समाज का भी वर्णन करता है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—

(१) एलुत्तधिकारम् (वर्ण-विचार); (२) शोल्लधिकारम् (शब्द-विचार); (३) पोरुल-धिकारम् (अर्थ-विचार)। हर अध्याय आठ-नौ उपभागों में विभक्त है। प्रत्येक विभाग में व्याकरण के नियम सूत्रों के रूप में दिये गये हैं। प्रथम विभाग में अक्षरों की प्रयोग-विधि, ध्वनि-भेद, शुद्ध लेखन आदि पर शास्त्रीय निबंध हैं, जिनमें आधुनिक विचार-शैली और

दृष्टिकोण मिलता है। दूसरे विभाग में शब्दों के निरुक्त, व्युत्पत्ति, प्रकृति-प्रत्यय आदि का विवेचन किया गया है। लेखक ने शब्दों के चार विभाग किये हैं :—(१) इयल-शोल (ठेठ तमिल् के शब्द), (२) तिरिशोल् (तद्भव शब्द); (३) वडशोल (उत्तर के शब्द, अर्थात् संस्कृत के) तथा तिशैचोल (अन्य भाषाओं के शब्द)। इस श्रेणी-विभाजन में तोलकाप्पियर की दूरदर्शिता ज्ञात होती है। उन्होंने भाषा के चारों ओर कोई लौह-भित्ति खड़ी नहीं की। विकासशील एवं सजीव भाषा के लक्षण को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने तमिल् में अन्य शब्दों के प्रवेश के लिए भी गुंजाइश कर रखी थी। इस द्वितीय अध्याय की दूसरी विशेषता शब्दों के लिंग-संबंधी सूत्र हैं। तमिल् में शब्दों के लिंग का निर्णय उनकी ध्वनि के आधार पर नहीं, परन्तु अर्थ के आधार पर है। स्त्रीलिंग और पुँल्लिंग मनुष्यों और देवों के लिए ही हैं। पशु-पक्षी, वृक्ष तथा अन्य निर्जीव वस्तुओं का बोध करानेवाले शब्द नपुंसक लिंग माने गये हैं।

तीसरा है—'पोरुलधिकारम्'। तमिल् में 'पोरुल' के तीन अर्थ हैं—अर्थ (Meaning), धन और वस्तु (विषय)। इस दृष्टि से इस अध्याय में व्याकरण-सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त जीवन और प्रकृति-सम्बन्धी विषयों की भी चर्चा की गई है। इसमें साहित्य के तीन विभाग किये गये हैं—(१) इयल (पाठ्य साहित्य), (२) इशै (गेय साहित्य) और (३) नाटकम् (नाटक-साहित्य)। इनमें से केवल 'इयल' (पाठ्य साहित्य) पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है। इसमें पद्य, छन्दःशास्त्र, अलंकार, कवि-समय आदि का विमर्श किया गया है। रस आठ माने गये हैं और वे पद्य के प्राण हैं। उनके प्रयोग में ही कवि की प्रतिभा प्रकट होती है। शृंगार-रस के विभिन्न रूपों का यहाँ अध्ययन किया गया है। उपमा और रूपक कवि-कल्पना के मर्म को प्रकट करते हैं। अन्य अलंकार इन्हींके भिन्न रूप हैं। उन दिनों मुक्तक पद्यों की साहित्य में प्रधानता थी। सामाजिक जीवन और उसकी व्यवस्थाओं का अच्छा परिचय इसमें मिलता है। बोलचाल की भाषा तथा शिष्टसम्मत शास्त्रीय शैली में आबद्ध नई-पुरानी हास्य-कथाएँ, दन्त-कथाएँ, लोक-कथाएँ इसमें उल्लिखित हैं। नाटकीय स्वगत भाषणों में ध्वनि का विशिष्ट महत्त्व है।

तोलकाप्पियम् के अनुसार प्रतिपाद्य विषय को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया था—(१) अहम् (Subjective—आंतरिक), (२) पुरम् (Objective—बाह्य)। 'अहम्' में आन्तरिक विषय जैसे प्रेम, भक्ति और अन्य भावात्मक विषय और 'पुरम्' में बाह्य विषय, जैसे युद्ध, शासन-विज्ञान, नीतिशास्त्र आदि आते थे।

द्वितीय संघ का अन्त ईसा से लगभग दो शताब्दी पूर्व अचानक समुद्र के उमड़ आने से हो गया। इस जल-प्लावन ने कवाटपुरम् और उसके आस-पास के क्षेत्रों को जल-मग्न कर दिया। पांडियों की राजधानी कवाटपुरम् बहुमूल्य सम्पत्ति और अमूल्य साहित्य-रत्नों को लेकर समुद्र के गर्भ में विलीन हो गया। इस घटना की ऐतिहासिकता श्रीलंका के बौद्ध-इतिहास 'राजावली' में वर्णित घटनाओं और अन्य विवरणों से प्रमाणित होती है। तृतीय अर्थात् अन्तिम संघ के एक सदस्य ने एक कविता में जल-प्लावन में धीरे-धीरे डूबनेवाले एक पर्वत का

वर्णन यों किया है—"समुद्ररानी लहरों के नूपुर पहने, कल्लोल करती हुई, पर्वत-शिखर पर नृत्य करने लगी। उसके वेग से अचल पर्वत भी सिहर उठा।"

२. संघकाल—इसके पश्चात् तृतीय संघ की स्थापना वर्त्तमान मधुरा नगरी में ई० पूर्व १५० वर्ष के आस-पास हुई। यह काल तमिल्-साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इस काल की बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु महामहोपाध्याय डा० स्वामिनाथय्यर के अथक परिश्रम के फलस्वरूप कुछ रचनाएँ प्रकाश में लाई गई हैं। वे हैं—१. एट्टुतोगै (आठ-संग्रह), २. पत्तुप्पाट्टु (दस कविताएँ) और ३. पतिनेणकीलकणक्कु (अठारह नीति-सम्बन्धी लघु कविताओं का संग्रह)।

१. एट्टुतोगै (आठ संग्रह) के अंतर्गत आठ बृहत् संग्रह-ग्रंथ आते हैं। उनके नाम यों हैं—(१) कलित्तोगै, (२) परिपाडल, (३) ऐंगुरुनूरु, (४) पदिट्रुपत्तु, (५) अगनानूरु, (६) पुरनानूरु, (७) नट्रिणै और (८) कुरुंतोगै।

कलित्तोगै अँगरेजी के सॉनेट जैसे गीतों का संग्रह है। परिपाडल लम्बा और आडंबर-पूर्ण गीतों का संग्रह है। ऐंगुरुनूरु चेर राजाओं की प्रशस्तियों का संग्रह है। नट्रिणै और कुरुंतोगै प्रेम-प्रगीतों को संग्रह है। पुरनानूरु (पुरम्-साहित्य) में ४०० पद्य हैं। जैसा पहले उल्लेख हो चुका है, पुरम्-काव्य का अर्थ बाह्य जगत् की कविता है। ये प्रेम-गीत नहीं हैं। इनमें संघम्-युग के राजाओं और सामन्तो के राजसी वैभव, शौर्य, औदार्य और विजयों का वर्णन है। अहनानूरु में अंतर-जगत् की कविता है। इन गीतों के रचयिताओं ने बाह्य जगत् का जितना विशद निरीक्षण किया, उतना ही मानसिक जगत् की विभिन्न परिस्थितियों, भाव-परिवर्त्तनों, उद्‌गार-उमंगों, आहों-कराहों का गूढ़तम अन्वेषण भी किया है। उस समय के लोगों ने प्रकृति में रमकर स्वच्छ मन से जीवन बिताया। उनकी कविता का विषय जैसा प्रेम था, वैसी ही वीरता एवं दानशीलता भी कविता की सामग्री थी।

२. 'पत्तुप्पाट्टु' में दस लंबी-लंबी कविताओं का संग्रह है। तमिल् में पाट्टु का अर्थ अधिक पंक्तियोंवाली कविताएँ है। कई कविताओं में छह सौ तक पंक्तियाँ हैं। पत्तुप्पाट्टु की दस कविताओं में 'तिरुमुरुकाट्रुपड' एक है। इसमें भगवान् कार्त्तिकेय जहाँ-जहाँ विराजमान हैं, उन-उन तीर्थस्थानों का रोचक वर्णन है। शैव लोग इसे महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ मानते हैं। शेष ग्रंथों में क्रमशः राजाओं के साहित्य-प्रेम और उदारता का, शासन और व्यापार-संबंधी बातों का, युद्ध में गये पति के विरह में तपनेवाली पत्नी की मनोदशा का, पर्वतीय दृश्यों एवं वहाँ के लोगों के जीवन का वर्णन अतीव मनमोहक ढंग से किया गया है। यहाँ एक गीत का उद्धरण देना उपयुक्त होगा—

शुडर्तोडी केलाय्—तेरुविल नाम आडुम्
मणल शिट्रिल कालिल शिदैया अडैचिय
कोदैप्परिन्दु, वरिपन्दु कोण्डोडी
नोदक्कच्चेय्युम शिरुपट्टी, मेलोरनाल्
अन्नैयुम यानुम इरुन्देमा इल्लीरे
उण्णनीर वेट्टेनयेनवन्दाकु, अन्नै

अडपोंचिरकत्ताल वाक्की शुडरिलाय्
'उराणुनीर ऊट्टी वा' येन्ड्राल, येन यानुम्
तन्नैरियादु शेन्ड्रेन ; मटरु एन्नै
वलै मुन्कै पट्टी नलियत्तेरुमन्दिट्ट
'अन्नाये' ! इवनोरुवन शेय्ददुकाण येन्ड्रेना
अन्नै अलरीप्पडरतर तन्नैयान
'उराणुनीर विक्किनान !' येन्ड्रेन, अन्नैयुम्
तन्नै पुरम्वलित्तु नीव मेट्रेन्नै
कडैक्कणाल कोल्वानपोल नोक्की
नहैक्कूट्टम् शेय्दान अक्कल्वन महन

—'कलित्तोगै' से

[अर्थात् उज्ज्वल कंकणवाली ! सुनो । मैं जब सखियों के साथ घरौंदे बनाकर खेलती थी, तब वह (प्रेमी) उन्हें नष्ट करता था, कसकर बँधी वेणी को प्रेम से खोल देता था तथा गेंद को उठाकर ले जाता था । इस प्रकार हमें दिक करनेवाला, उस दिन जब मैं माता के साथ बैठी थी, उस समय जल पीने के बहाने हमारे घर आया था । माता ने मुझसे कहा—'जाओ, सोने के लोटे में उसको पानी दो ।' (उसकी उपस्थिति से मुग्ध होकर) मैं भी अपने को भूली हुई भीतर गई । वह तो जल पीने आया ही, परन्तु मुझे एकांत में पाकर उसने मेरा प्रकोष्ठ ग्रहण किया । मैं सिर से पैर तक सिहर उठी और उच्च स्वर में बोली—'माताजी, इसको देखो तो ।' माताजी दौड़ी हुई भीतर आईं । मैंने उसकी रक्षा करने के विचार से वास्तविक बात को छिपाकर कहा—'कुछ नहीं, माताजी, पानी पीते समय इसको हिचकी आ गई ।' माताजी ने उसकी पीठ सहलाई । तब वह मनचोर अपने नेत्रों की कोर से मुझे देखता हुआ मुसकुराया और चला गया । सखी, उसका स्मरण करते ही मेरे मन में वेदना होती है ।]

ऐसे रसमय पदों से 'कलित्तोगै' नामक संग्रह-ग्रंथ भरा हुआ है ।

३. पतिनेण की कीलकणक्कु (नीतिग्रंथ और सूक्तिग्रंथ)—गीतों और वर्णनात्मक कविताओं के पश्चात् सूक्तियों का युग आरंभ होता है । वास्तव में सूक्तियों का महत्त्व संघकाल में बढ़ गया था । अबतक अर्थात् ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व तक दक्षिण में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव पड़ चुका था । इन नये धर्मों के कारण शील, कविता का मुख्य विषय बन गया । दीर्घ मुक्तक छन्दों का स्थान चतुष्पदियों और द्विपदियों ने ले लिया । इस समय अठारह नीतिग्रंथ रचे गये । उनमें छह प्रेम-प्रधान हैं । शेष में अधिकांश पुरमूकाव्य हैं, जिनमें युद्ध आदि का वर्णन और नैतिक सूक्तियाँ हैं । इनमें तीन ग्रंथों के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध तीन औषधियों पर रखे गये हैं । इस प्रकार के नामकरण का तात्पर्य यही है कि आध्यात्मिक रोगों के निवारण के लिए इन ग्रन्थ-रूपी औषधियों की आवश्यकता है । कुछ सूक्तियाँ संस्कृत के सुभाषितों की भाँति हैं । जिस प्रकार संघकाल की काव्यधारा प्रेमोपासक मानव का चित्रण करती है, उसी प्रकार सूक्ति-साहित्य नैतिक और आचारपरायण जीवन का निरूपण करता है ।

इस प्रकार के सत्रह सूक्ति-ग्रंथों की रचना के पश्चात् अठारहवाँ ग्रंथ आता है—विश्वविख्यात 'तिरुक्कुरल' या 'तमिल् वेद', जिसके रचयिता 'तिरुवल्लुवर' थे । अनुमान

किया जाता है कि 'तिरुवल्लुवर' आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुए थे। संघकाल के उत्तरार्द्ध में जब साहित्य जीवन की वास्तविकताओं से कुछ दूर हो गया तब तिरुक्कुरल ने समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। कहा जाता है कि किसी धनी व्यापारी के पुत्र को शिक्षा देने के लिए तिरुवल्लुवर ने अनेक सूक्तियाँ बनाई और उनका संग्रह किया। इसीका नाम तिरुक्कुरल पड़ा। विद्वानों ने इस ग्रन्थ की महत्ता जानी और मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की। तिरुक्कुरल के तीन विभाग हैं—(१) अरत्तुप्पाल (धर्म-भाग); (२) पोरुट्पाल (अर्थ-भाग); (३) कामत्तुप्पाल (काम-भाग)। तीन पुरुषार्थ तो आ गये, परन्तु चौथे पुरुषार्थ 'मोक्ष' का समावेश तिरुवल्लुवर ने प्रथम विभाग, धर्म में ही कर दिया है। तीनों विभागों में कुल मिलाकर १३३० द्विपदियाँ (कुरल) हैं। धर्मवाले भाग के ३८ अध्याय हैं। इस भाग में प्रथमतः ईश्वर की जो वंदना की गई है, वह किसी विशेष धर्म या संप्रदाय के देवता की वंदना नहीं है। विश्व के सृष्टि-संबंधी वैदिक सिद्धांत ही इसमें प्रतिपादित हैं।

अकर मुदलेलुत्तेल्लाम आदि
भगवन मुदट्रे उलगु।

(अर्थात् समस्त अक्षर-राशियाँ अकार से आरम्भ होती हैं। वैसे ही समस्त विश्व का आरम्भ आदिपुरुष भगवान् से है।)

ईश्वर-वन्दना के पश्चात् धर्म का महत्त्व बतलाया गया है और उस अध्याय के अन्त में गृहस्थ और वानप्रस्थ जीवन के संबंध में लिखा गया है। अर्थवाले भाग के कुल ७० अध्याय हैं। इनमें राजा, अमात्य, सेना, देश, प्राचीरें, धन, मित्रता आदि के लक्षण तथा शासन-विज्ञान, अर्थनीति, समर-शास्त्र आदि के वर्णन हैं। आक्रमण और रक्षा के उपाय, समय, क्षेत्र एवं साधन-सम्बन्धी ज्ञान की विशद शिक्षा इन अध्यायों में दी गई है। काम-सम्बन्धी विभाग के २५ अध्याय हैं। प्रथम पाँच अध्यायों में संयोग और शेष अध्यायों में वियोग के सम्बन्ध में लिखा गया है। तिरुवल्लुवर की जीवन-रसज्ञता एवं सहृदय कवित्व-शक्ति का अमर प्रमाण है 'कामत्तुप्पाल'। कूटनीतिज्ञ तथा उपदेशक तिरुवल्लुवर यहाँ पूर्णरूप से कवि के रूप में प्रकट हुए हैं।

कुरल में मानवीय प्रकृति का गंभीर अध्ययन और परिशीलन है। इसमें वर्णित प्रेम का स्वरूप, कामशास्त्रों में वर्णित प्रेम से भिन्न है। २५० द्विपदियों में संघकाल के विशुद्ध तथा आदर्श प्रेम का साक्षात्कार होता है। यह ग्रन्थ सार्वकालिक और सार्वदेशीय है; क्योंकि इसमें चिरंतन सत्यों का प्रतिपादन है, जो देश, काल आदि की परिधि से परे हैं। तमिल् भाषा और भारतीय साहित्य इस अद्वितीय ग्रंथ पर गर्व कर सकता है। तमिलभाषी तो इसे तमिल्वेद ही कहते हैं। संसार की लगभग २०० भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

३. संघोत्तरकाल—१००—६०० ई० (काव्य-काल)—विद्वानों का अनुमान है कि दूसरी सन् शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किसी कारण से तृतीय संघ का विघटन हो गया। अतः इस तृतीय संघ को अंतिम संघ भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्य-रचना का काम अवरुद्ध हो गया। स्वतंत्र रूप से कविगण साहित्य-सृजन के काम में संलग्न रहे। अबतक अर्थात् तृतीय संघ तक केवल स्फुट कविताएँ ही रची जाती थीं। परन्तु घटना-प्रधान या

वर्णनात्मक महाकाव्य और खंडकाव्य की रचना नहीं हुई थी। इस युग में महाकाव्य का प्रणयन होना प्रारंभ हुआ।

इससे पूर्व इसका उल्लेख हो चुका है कि प्रथम शताब्दी में जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों का आधिपत्य आरंभ हो गया था। जब यहाँ के लोगों का जीवन अत्यंत सुखमय था और इसलिए उन्हें जीवन-लक्ष्य पर विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, उस समय बौद्धधर्म अपने क्लिष्ट एवं शुष्क विचार और नीति-नियमों को लेकर आया। धीरे-धीरे लोगों के स्फटिक-से मन पर नवीन धर्म की विचार-लहरियों का प्रभाव पड़ा। परिणाम-स्वरूप नीति-ग्रन्थ और सूक्ति-ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनके बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। इन जैनियों और बौद्धों के प्रयत्न से तमिल् में पाँच महाकाव्य रचे गये—(१) शिलप्पधिकारम्; (२) मणिमेखलै; (३) जीवक चिंतामणि; (४) वलयापति; (५) कुण्डलकेशी।

तमिल्-साहित्य का प्रथम महाकाव्य है 'शिलप्पधिकारम्'। इसके रचयिता चेर-नरेश के भाई 'इलंगो' मुनि थे। इन्होंने युवावस्था में जैनधर्म ग्रहण कर लिया था। इस काव्य में कण्णकी नामक सती-साध्वी की कथा है। कण्णकी का पति 'कोवलन' सुन्दर भावनाओं से जाग्रत् हृदयवाला तथा युग के ज्ञान और विश्व के अनुभवों से युक्त था। दोनों धनी परिवार के थे और इस कारण दोनों का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता था। परन्तु इस शान्ति के बाद उनके जीवन में आँधी आई। उन्हीं की नगरी में माधवी नामक एक नर्त्तकी रहती थी। एक दिन उसका नृत्य देखने 'कोवलन' गया। कलाकार के रूप में पहले उसके मन में जो प्रेम और प्रशंसा के भाव उत्पन्न हुए, जो आगे चलकर उस वारांगना के प्रति विलासमय प्रेम के रूप में परिणत हो गये। कोवलन अपनी पत्नी को भूलकर वारांगना माधवी के साथ रहने लगा। सारी संपत्ति उसके भेंट हो गई। एक दिन किसी विषय पर कोवलन और माधवी में मतभेद हुआ। कोवलन को इस समय अपनी सती-सध्वी पत्नी का स्मरण आया। पुनः कण्णकी उसके मन में छा गई और वह उसकी ओर बढ़ा। चूँकि अब सारा धन समाप्त हो गया था, अतः कोवलन कोई धंधा करने के उद्देश्य से पांडिय-राजधानी मधुरा गया। कण्णकी भी साथ गई। परन्तु दुर्भाग्य ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। जब कोवलन मधुरा में अपनी पत्नी के नूपुर का विक्रय करने गया, तब एक सोनार से उसकी भेंट हुई। वह वही सोनार था, जिसने मधुरा की रानी के नूपुर चुरा लिये थे। रानी के नूपुर और कण्णकी के नूपुर में समता देखकर सोनार को एक उपाय सूझा। वह तत्काल ही राजा के पास जाकर बोला—'महाराज, रानी के नूपुर चुरानेवाला चोर पकड़ा गया है।' सुखभोग में निमग्न राजा में इसपर विचार करने की क्षमता नहीं रही। उसने आज्ञा दी—'चोर का वध कर नूपुर ले आओ।' जो होना नहीं चाहिए था, वह होकर ही रहा।

अज्ञात देश में असहाया सती कण्णकी में पति की मृत्यु के पश्चात् असाधारण साहस आ गया और प्रतिशोध की भावना से उनका सारा शरीर जलने लगा। वह तत्काल ही राज-सभा में गई और प्रमाणित किया कि उसका पति निरपराध था। राजा को जब अपने अन्याय का भान हुआ तो मूर्च्छा आई और थोड़े ही क्षण में उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। उसकी सती रानी भी मृत्यु को प्राप्त हुई। कण्णकी के क्रोध से सारा मधुरा नगर जल गया। इस

प्रकार अपने क्रोध को शांत कर लेने के बाद वह अपने सतीत्व के बल से स्वर्ग चली गई। इस सती के स्मारक के रूप में चेर-नरेश ने एक मंदिर बनवाया, जिसके लिए हिमालय पर्वत से पाषाण लाये गये।

इस महाकाव्य की प्रधान विशेषता सतीत्व का बल है। समाज की भलाई के लिए सती स्त्री वर्षा ला सकती है तो अन्याय-दमन के लिए नगर को भस्म भी कर सकती है। सतीत्व की महत्ता और अन्यायी का अंत ही इस महाकाव्य का संदेश है। इसी कारण यह कहानी सैकड़ों वर्षों बाद भी लोकप्रिय है। दूसरी बात, यद्यपि तमिल् देश राजनीतिक दृष्टि से एक नहीं था, परंतु इस काव्य में उसे एक सांस्कृतिक इकाई बताया गया है। कोवलन और कण्णकी चोल देश के रहनेवाले थे। वे पांडिय देश में धंधा करने के विचार से गये और अन्त में चेर देश में जाकर वह कण्णकी स्वर्ग को प्राप्त हुई। अतः तीनों राज्यों में सतीत्व की महिमा के कारण कण्णकी की प्रशंसा हुई।

इस महाकाव्य में, काव्य तथा नाट्य दोनों शीर्षस्थानीय हैं। इसके अतिरिक्त इसमें राज-नर्त्तकों, आखेट करनेवालों तथा पर्वतीय लोगों के अनेक लोकगीत और नृत्य भी हैं। यत्र-तत्र गद्य-शैली में भी कुछ अंश लिखा गया है। अतः 'शिलप्पधिकारम्' प्रथम महाकाव्य ही नहीं, वरन् तमिल् के गद्य का प्रथम आधार भी है।

इस समय का दूसरा महाकाव्य 'मणिमेखलै' है। कथानक की दृष्टि से यह काव्य शिलप्पधिकारम् का उत्तरार्द्ध ही है। गणिका माधवी और कोवलन से उत्पन्न लड़की मणिमेखला की कहानी इसमें वर्णित है। कोवलन द्वारा त्यागी हुई माधवी विरक्ता होकर बौद्ध भिक्षुणी बनती है और बाल्यावस्था में ही अपनी पुत्री को भिक्षुणी बना देती है। राजकुमार उदयकुमारन उसे चाहने लगा। परन्तु मणिमेखला उससे अलग की जाती है और अंत तक भिक्षुणी बनी रहती है। इस काव्य के रचयिता 'शात्तलैचत्तनार' हैं, जो महापंडित थे। इस काव्य की भाषा-शैली अद्भुत और कवित्व-शक्ति अद्वितीय है।

तीसरा महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' है, जिसके रचयिता जैन मुनि 'तिरुत्तक्कतेवर' हैं। इस काव्य में जीवक नामक राजकुमार की जीवनी का, उसके जन्म से लेकर सिद्धलोक-यात्रा तक, विशद रूप से वर्णन है। कहा जाता है कि श्रीपुराण में वर्णित जीवक-चरित्र के आधार पर यह रचा गया। कथावस्तु संस्कृत की होने पर भी कवि ने तमिल् देश के राजनीतिक, सामाजिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन का वास्तविक तथा सजीव वर्णन किया है। संस्कृत-रचना-शैली को अपनाकर लिखा गया प्रथम तमिल् ग्रन्थ यही है। इसके पदों की गेयता एवं मधुरता श्लाघ्य है। पश्चात् रची गई रामायण के लेखक कंबन ने भी इसकी चुस्त शैली को अपनाया। राजनीति तथा शासन-प्रबंध में किस प्रकार अहिंसा के सिद्धान्त को क्रियान्वित किया जा सकता है, इसका संदेश यह कृति देती है।

शेष दोनों महाकाव्य आज उपलब्ध नहीं हैं। इन दोनों की कथा का सारांश दूसरे ग्रन्थों में दिये गये उद्धरणों से अनुमान द्वारा जाना जा सकता है।

इन पाँच महाकाव्यों के अतिरिक्त नीलकेशी, शूलामणी यशोधरकाव्यम्, नागकुमार काव्यम्, उदयणन् कथै आदि खण्डकाव्य भी इस युग में रचे गये। ये पाँचों महाकाव्य और

पाँचों खंडकाव्य जनकवियों द्वारा रचे गये। पाँच महाकाव्यों की भाँति इन खण्डकाव्यों में भी नवरस और कल्पना का प्राचुर्य है। काव्यमर्मज्ञों का विचार है कि काव्योचित लक्षण की अपेक्षा धर्म-प्रचार की बातें इनमें अधिक हैं। संघकाल के ग्रन्थों में जीवन की प्रधानता का परिचय मिलता है, परन्तु काव्य-काल के ग्रन्थों में धार्मिक तर्क-वितर्क एवं धर्म-प्रचार की बातें बहुत मिलती हैं।

४. भक्तिकाल (सन् ६००–६०० ईसवी)—वस्तुतः भक्ति-प्रधान ग्रन्थों की रचना दो सौ वर्ष पूर्व ही आरंभ हो गई थी, परन्तु उनकी संख्या एक-दो ही थी। इसी युग में अधिक संख्या में भक्तिप्रधान ग्रन्थ रचे गये। अबतक जैनों और बौद्धों का प्रभाव सामाजिक जीवन में और साहित्य-क्षेत्र में बढ़ चुका था। इस समय हिन्दू-धर्म के पक्षपाती शैव और वैष्णव संत-कवियों का आविर्भाव हुआ। अपनी साहित्य-रचनाओं और धर्म-प्रचार द्वारा हिन्दू-धर्म की ओर लोगों को खींच लाने का श्रेय इन्हीं संत-कवियों को है। इस कारण से आज भी इन शैव और वैष्णव संत-कवियों को अवतार मानकर लोग पूजते हैं। संस्कृत भाषा तथा भावों से प्रभावित होने के कारण इनकी रचनाओं में एक मिश्रित शैली दृष्टिगोचर होती है। उस शैली को 'मणिप्रवालम्' शैली कहते हैं। इस नवीन शैली-रूपी माला में संस्कृत और तमिल् भाषा के शब्द मणि और प्रवाल की तरह पिरोये गये। अर्थात्, तमिल् और संस्कृत के शब्द संतुलित रूप से प्रयुक्त होने लगे। इन संत-कवियों ने काव्य का विषय ईश्वरोन्मुख प्रेम बना लिया। इनके गीत एक ओर साहित्यिक आनन्द देते हैं और दूसरी ओर पाठकों को उद्वेलित करते हैं। वे इन गीतों का पाठ करते समय अनुभव करते हैं कि हम स्वप्नलोक में हों अथवा ईश्वर से रहस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रहे हों।

सन्त-कवि दो संप्रदाय के थे। एक शैव सम्प्रदाय को माननेवाले थे, जिन्हें 'नायन्मार' कहते हैं, और दूसरे, वैष्णव-संप्रदाय के थे, जिन्हें 'आलवार' कहते हैं। शैव-संप्रदाय के कवियों में चार मुख्य हैं:—(१) माणिक्कवाचकर; (२) तिरुज्ञानसंबंधर; (३) अप्पर; (४) सुन्दरमूर्त्तिस्वामिगल। इनमें माणिक्कवाचकर अन्य कवियों से बहुत पूर्व के हैं। ये शिव के अद्वितीय भक्त थे। ये पांडिय राजा के अमात्य थे। परन्तु पीछे अपना पद छोड़कर धर्म-प्रचार में लग गये। इन्होंने तर्क द्वारा बौद्धों को परास्त कर दिया था और अनेक बौद्ध इनके तर्कों से प्रभावित होकर हिन्दू बन गये। 'तिरुवाचकम्' इनके भक्तिपूर्ण पदों का संग्रह है। इन पदों की विशेषता है कि ये प्रचलित लोकगीतों के तर्ज में रचे गये। इन पदों में गूढ़तम आध्यात्मिक तत्वों को अत्यंत सरल भाषा में प्रकट किया गया है। करुणामय, दीनवत्सल भगवान् पर लिखे गये इन गीतों को पढ़ने से पाषाण-हृदय भी द्रवित हो जाता है। उनका एक गीत इस प्रकार है—

अम्मैये अप्पा, ओप्पिला मणिये
अन्पिनिल् विलैन्द आरमुदे
पोय्मैये पेरुक्की प्पोलुदिनै शुरुक्कुम्
पुलुत्तलै पुलैयनेन तनुक्क

च्चेम्मैये आय शिवपदम् अलित्त
शेल्वमे शिवपेरुमाने
इम्मैये उन्नै शिक्केन पिडित्तेन
एंगेलुन्दरुलुवदिनिये।

[अर्थात्—हे प्रेमपूर्ण तथा अमृत समान शिवजी! तुम्हीं मेरे माता, पिता तथा अद्वितीय मणि हो। मैं एक क्षुद्र जीव हूँ और असत्य बोलकर अपना जीवन व्यतीत करता हूँ। तुमने मुझपर कृपाकर मुझे शाश्वत शिवपद दिया। मैंने इस जीवन में तुम्हें दृढ़ता से प्राप्त कर लिया। तुम मेरे मन में सदा विराजने की कृपा करो।]

तिरुक्कोवैयार इनका दूसरा ग्रन्थ है, जिसमें रहस्यवादी भावना से भरी हुई कविताएँ संगृहीत हैं। प्रत्येक पद के दो अर्थ हैं—एक ऐहिक और दूसरा पारलौकिक।

अप्पर, सुन्दरर और सम्बन्धर 'देवारम' कवि कहलाते हैं। इन तीनों कवियों ने अनेक तीर्थस्थानों का भ्रमण किया, मंदिरों में गये तथा उन मंदिरों में विराजमान देवता की प्रशस्ति गाई थी। इन गीतों का संग्रह ही 'देवारम' कहा जाता है। 'देवारम' का अर्थ है (दे-देवता; आर-हार) देवताओं के हार। ये तीनों संत-कवि बड़े निर्भीक और स्वतन्त्र विचार के थे। एक कवि लिखते हैं—

नामार्कुम् कुडियल्लोम् नमनैयंजोम्
नरत्तिलिडर पडोम् नडलैयिल्लोम्
एमाप्पोम् पिणियरियोम पणिवोमल्लोम्
इन्वमे येन्नालुम तुन्पमिल्लै,
तामार्कुम् कुडियल्लात्तन्मैयान
शंकरन् नर्चगंवेण कुलैयोर कादिल
कोमार्कें नामेन्ट्रम मीला आलाय्
कोय्मलर्चेवडियिणैये कुरुकिनोमे

[अर्थात्—हम किसी की प्रजा नहीं हैं, यम से हमें कोई भय नहीं, नरक में तो जाने का अवसर ही नहीं आयगा, हम झूठा अभिमान नहीं करेंगे, अस्वस्थता क्या वस्तु है, हमें ज्ञात नहीं है, किसीके सम्मुख शीश नहीं नवायेंगे, सदा आनंदपूर्वक रहेंगे, कभी दुःख नहीं होगा, यदि हम किसी की प्रजा हैं, तो शंकर की ही प्रजा हैं।]

ये कवि भगवान् को प्रकृति को प्रत्येक वस्तु में देखते या अनुभव करते थे—

माशिल् वीणैयुम, मालैमतियमुम्
वीशु तेन्ट्रलुम, वींगिल् वेनिलुम,
मूशु वण्डरै पोय्कैयुम पोन्ट्रते
ईशन एन्दै इणैयडी नीलले

[अर्थात्—सुस्वर वीणा, सायंकालीन चन्द्र, बहता मलय पवन, उत्फुल्ल मधुमास और मधुकर-गुंजित कमल-सर के समान है मेरे भगवान् की चरणछाया।]

इनके अतिरिक्त ६० संत-कवि और हुए, जो विभिन्न जातियों के थे। इन्होंने इन्हीं चार संतों के मार्ग पर चलकर हिन्दू-धर्म का प्रचार किया। साहित्य की दृष्टि से इनके गीतों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शैव संतों (नायन्मारों) की भाँति वैष्णव संतों (आलवारों) ने भी भक्ति के भावों से ओतप्रोत अनेक पद रचे। इस प्रकार के बारह आलवार हुए, जिन्होंने कुल मिलाकर चार हजार गेय पदों की रचना की थी। इन गीतों के संग्रह को 'नालायिर दिव्यप्रबन्धम्' कहते हैं। इन आलवारों में विष्णुचित्त, जिन्हें पेरियालवार (बड़े संत) कहते हैं, वात्सल्य-रसप्रधान कविताएँ लिखने में अद्वितीय थे। श्रीकृष्ण के शिशुरूप और सारल्य ने उनके भावुक हृदय को आकृष्ट कर लिया। माता के हृदय के उद्गारों का, बालकृष्ण की लीलाओं और शिशु के विभिन्न रूपों का मनमोहक वर्णन इनके गीतों में मिलता है। घुटनों के बल चलनेवाला बालकृष्ण चन्द्रमा की ओर उँगली दिखाकर उसे बुलाता है। तब माता यशोदा चन्द्रमा से कहती हैं—"हे चन्द्र! मेरा लाल गोविन्द, जिसके माथे पर आभूषण डोल रहे हैं और स्वर्ण की किंकिणी निनाद कर रही है, धूल-धूसरित शरीर से घुटनों के बल चलकर तुमको बुला रहा है। यदि तुम्हारी आँखें हों, तो मेरे कान्ह की लीला देखने नीचे उतर आओ।" इसी भक्तकवि के सरस वातावरण में दक्षिणी मीराँ आण्डाल (गोदा) का लालन-पालन हुआ। एक दिन पेरियालवार जब फूल तोड़ने पुष्पवाटिका में गये, तब एक बालिका उन्हें पड़ी मिली। यही बालिका भविष्य में 'आण्डाल' के नाम से विख्यात हुई। भगवान् के प्रेम में विभोर होकर गोदा ने अनेक गीत गाये, जो 'तिरुप्पावै' और 'नाच्चियार तिरुमोली' नामक दो संग्रह-ग्रंथों के रूप में हैं। 'नम्मालवार' तीसरे प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ आलवार-कवि हैं। ये सातवीं शताब्दी के माने जाते हैं। इनके गीत शुद्धाद्वैत के मूलस्रोत हैं एवं दक्षिणी दर्शन के आधार हैं। पश्चात् के संत-कवियों ने प्रमाणित किया है कि ईश्वरत्व में निमग्न रहने के कारण (जिसे भगवद्गुणानुभव कहते हैं) इनकी वाणी से जो तत्त्व फूट पड़े, वे सब वेदों तथा उपनिषदों का सार बन गये हैं।

व्याकरण और अन्य ग्रन्थ (६०० –१४०० ईसवी तक) – इस काल में चोल-साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर था। धर्म का प्रचार करनेवाले आलवार तथा नायन्मारों को इन चोल राजाओं ने पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। इन सबके पदों का संग्रह कर ग्रंथों का रूप देने का श्रेय इन्हीं राजाओं को है। इन राजाओं की सेवाओं का विवरण ताम्रपत्रों और शिलालेखों के द्वारा मिलता है।

इस समय कुछ नाथ-संप्रदायी लोगों का भी प्रभाव दक्षिण के सामाजिक जीवन और साहित्य पर पड़ा। इन्होंने वैद्यक शास्त्र, तन्त्रशास्त्र, योगशास्त्र आदि के बारे में ग्रंथ लिखे। ये अगस्त्य को अपना आदिगुरु मानते थे। इनके वैद्यक-शास्त्र को माननेवाले आज भी दक्षिण में मिलते हैं, जो 'सिद्ध वैद्यर' कहलाते हैं। आयुर्वेद से यह शास्त्र मिलता-जुलता है। इनके लिखे अनेक ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से उत्तम माने जाते हैं। इनकी विशेषता, सरल और बोलचाल की भाषा में दार्शनिक विषयों को पद्य के रूप में उपस्थित करना है। ये पद्य आज भी लोगों में प्रचलित हैं।

शैव और वैष्णव संतों के कारण अबतक जैनों का प्रभाव थोड़ा कम हो गया था। बारहवीं शताब्दी में पुनः वे साहित्य-क्षेत्र में चमकने लगे। ये अपने को 'शमणर' (श्रमण) कहते थे। इस समय उनके द्वारा और ग्रन्थ रचे जाने लगे। कांचीपुरम् के आसपास के निवासी वामन नामक जैनमुनि ने 'मेरु मंदरपुराणम्' की रचना की। इन्होंने काव्य और नीतिग्रंथ के अतिरिक्त व्याकरण तथा निघंटु लिखना भी आरंभ कर दिया। याप्पिलक्कणम्,

वीर-शोलियम्, नेमीनाथम्, नन्नूल आदि इनके लिखे हुए प्रसिद्ध और लक्षण-ग्रन्थ हैं। इस प्रकार जैनों का प्रभाव १३वीं शताब्दी तक रहा।

५. प्रबंध-काव्य-काल—इस बीच में कुछ प्रबंधकाव्यों की फिर से रचना हुई। 'पेरिय-पुराणम्', जिसमें ६३ शैव संतों की जीवनियाँ हैं तथा 'कन्दपुराणम्', जो संस्कृत की 'शंकरसंहिता' के आधार पर है, लिखे गये। नैषधचरित के आधार पर लिखा गया 'नलवेण्पा' इसी समय का है। इसके पश्चात् प्रसिद्ध तमिल्-महाकाव्य 'श्रीमद्रामायण' की रचना हुई। इसके रचयिता तमिल् के अद्वितीय कवि कंबन थे। इनका समय १२वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने वाल्मीकि रामायण के आधार पर ही अपनी रामायण की रचना बारह हजार 'विरुत्तम' छंदों में की है।

इसे 'कंबन' का दृश्यकाव्य कहना चाहिए। इस काव्य के कथानक, पात्रों के चरित्र-चित्रण और संवाद में मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। इस काव्य में उन्होंने तमिलवालों की संस्कृति, आचार-विचार, कला-प्रेम आदि का परिचय दिया है। सशक्त शब्दों और गंभीर शैली का प्रयोग करने में कंबन अद्वितीय थे। कंबरामायण तमिल् साहित्य-पर्वतमाला का सबसे ऊँचा शिखर है। ऐसी रचना को देखकर कंबन ने केवल तमिलनाडु के ही नहीं, वरन् संसार के श्रेष्ठ कवियों में अपना स्थान बना लिया।

इसी काल में संस्कृत से महाभारत, भागवत और अन्य धर्म-ग्रन्थों का पद्यानुवाद बड़ी सफलता से हुआ।

६. मध्यकाल—१३वीं शताब्दी के पश्चात् लगभग दो सौ वर्ष तक, प्रथम तमिल्-व्याकरण तोल्काप्पियम् से लेकर शैव और वैष्णव आचार्यों के काल तक जितने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये, उनकी टीकाएँ लिखी जाने लगीं। संघकालीन ग्रन्थों के अध्ययन में इन टीकाओं से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। १६वीं शताब्दी में कालनेघम-जैसे व्यंग्यप्रधान और श्लेषयुक्त कविताएँ लिखनेवाले कवि हुए। १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक विद्वान् संत थे, 'श्रीकुमरगुरुपरर', जिन्होंने भारत-भर का भ्रमण किया था। शैव-संप्रदाय के प्रचार के लिए ये पुण्यपुरी काशी में जाकर रहने लगे। कहा जाता है कि इन्होंने हिन्दी सीखकर तत्कालीन मुसलमान बादशाह से वाद-विवाद किया था तथा काशी में शैव मठ बनवाने की अनुमति माँगी। आज भी उनका स्थापित किया हुआ मठ और धर्मशाला बनारस में 'हनुमान घाट' पर 'कुमरगुरुपरर स्वामिगल मठ' के नाम से स्थित है। इन्होंने भगवान् विश्वनाथ की स्तुति में कई पद बनाये, जो 'काशिकलंबकम्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि वे गंगाघाट पर कंबरामायण का प्रवचन किया करते थे, जिसे सुनने के लिए काशी नगरी के अनेक भक्त एकत्र होते थे।

इस समय शैव और वैष्णवों में कुछ कट्टरता-सी आ गई थी। दोनों सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं में यह भावना दिखाई पड़ने लगी। इस अवांछनीय परिस्थिति को दूर करने के लिए संत कवि तायुमानवर और रामलिंग स्वामिगल ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रयत्न किया। 'अरुणाचल कविरायर' नामक कवि ने गेय पदों में रामायण की कथा लिखी। भाषा सरल और लोकप्रिय होने के कारण ये पद बहुत प्रसिद्ध हुए।

अबतक ईसाई पादरियों ने आकर दक्षिण को अपना निवास-स्थान ही नहीं बना लिया था; परंतु तमिल् साहित्य का गहन अध्ययन भी कर लिया। इन लोगों ने नवीन ढंग से व्याकरण और कोष लिखे। फादर बेस्की (वीरमामुनिवर) नामक एक पादरी ने 'तेंबावाणी' नामक महाकाव्य तमिल में रचा, जिसमें महात्मा ईसा की जीवनी वर्णित है। इन पादरियों ने गद्य-साहित्य का भी विकास किया। वीरमामुनिवर ने 'परमार्थ गुरुकथै' के नाम से हास्यकथाएँ लिखीं। ईसाइयों के अतिरिक्त मुसलमान कवियों ने कविता और गद्य लिखकर तमिल्-साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया। मध्यकाल के अंत में सरल भाषा में काव्य और ग्रन्थ लिखे जाने के कारण लोकगीतों और लोक-नृत्यों का भी विकास हुआ। कुछ कवियों ने ज्यौतिष-शास्त्र पर भी पद्य-ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार १७वीं शताब्दी तक काव्य के साथ गद्यशैली का भी पर्याप्त विकास हो चुका था।

७. आधुनिक काल (१६ वीं शताब्दी और उसके पश्चात्)—१६वीं शताब्दी के आरंभ में गत शताब्दी की तरह छोटे-मोटे काव्य रचे गये। इनके अतिरिक्त कुछ नाटक और गद्य भी लिखे गये। महाकाव्य की रचना एक प्रकार से बंद-सी हो गई। इस समय धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रन्थों के साथ-साथ लोकगीत और लोकनृत्य के साहित्य भी बने। संघकालीन ग्रन्थ और बाद के महाकाव्यों की टीकाएँ भी लिखी गई। मेघदूत, श्रीमद्भगवद्-गीता, हितोपदेश, पंचतंत्र, उपनिषद् और अन्य अनेक प्रमुख संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद हुए। बालोपयोगी साहित्य पर्याप्त मात्रा में रचा गया।

श्रीलंका के कई विद्वानों ने, जो संस्कृत और तमिल् के धुरंधर विद्वान् थे, तमिल्-साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया। ऐसे विद्वानों में आरुमुखनावलर, नागनाथ पंडितर, दामोदरम् पिल्लै आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महाविद्वान् मीनाक्षीसुंदरम् पिल्लै ने अपनी अपार विद्वत्ता के बल पर बीसों लघुकाव्य लिखे। इन्होंने अनेक युवकों में साहित्य-अध्ययन की पिपासा उत्पन्न कर दी। दाक्षिणात्य कलानिधि, महामहोपाध्याय डॉ० उ० वे० स्वामिनाथय्यर, वेदनायकम् पिल्लै जैसे साहित्य-महारथी इन्हींके शिष्य थे। वेदानायकम् पिल्लै ईसाई थे और अँगरेजी के बड़े विद्वान् थे। ये अनेक स्थानों पर जिला-मुन्सिफ् का काम करते हुए साहित्य-सर्जन के काम में योग देते रहे। इन्होंने कहानियाँ, कविताएँ आदि लिखीं। इनकी रचनाएँ सरल और हास्यरसपूर्ण हैं। गोपालकृष्ण भारती 'नंदन-चरित्रम्' की रचना लोकगीत-शैली में करके अमर कीर्त्ति को प्राप्त हुए। इस शताब्दी के अंत में डॉ० काल्डवेल ने दक्षिण की भाषाओं का गहन अध्ययन किया और तुलनात्मक व्याकरण लिखा। डा० जि० यु० पोप महोदय ने शैव सिद्धांत-ग्रन्थों का अध्ययन किया और चौथी शताब्दी का शैव-ग्रन्थ 'तिरुवाचकम्, तिरुक्कुरल नालडियार का अँगरेजी में स्वयं अनुवाद किया।

बीसवीं शताब्दी में अँगरेजी राजभाषा होने के कारण मातृभाषा उपेक्षित-सी रही। फिर भी, अँगरेजी के प्रभाव के कारण साहित्य के सभी पहलुओं का विकास हुआ। कविता, नाटक, कहानियाँ, उपन्यास, आलोचना-ग्रन्थ आदि पर्याप्त मात्रा में लिखे जाने लगे। अबतक की ग्रन्थ-शैली पुरानी बोझिल शैली थी। इस समय अनेक प्रतिभावान् व्यक्तियों ने

तमिल् साहित्य में समयानुकूल नवीन शैली का प्रयोग किया। अब उपर्युक्त विभिन्न साहित्य-पहलुओं के विकास पर क्रम से प्रकाश डाला जायगा।

कविता—आधुनिक कविता-क्षेत्र में तिरुवनंतपुरम् महाराजा कॉलेज के दर्शनशास्त्र के आचार्य सुन्दरम् पिल्लै और कृष्ण पिल्लै अग्रणी हैं। श्रीसुन्दरम् पिल्लै ने नाटकीय ढंग पर 'मनोन्मणीयम्' नामक काव्य की रचना की। श्रीकृष्ण पिल्लै हिन्दू थे और पश्चात् ईसाई बन गये। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का प्रयोग धर्म-प्रचार के लिए ग्रन्थ-रचना करने में किया। अँगरेजी ग्रन्थ 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' की कथावस्तु के आधार पर इन्होंने 'इरक्षणीय यात्रीकम्' नामक काव्य रचा। इनके इस काव्य-ग्रंथ पर कंबरामायण और संत-कवियों के गीतों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इनके पश्चात् अमरकवि 'सुब्रह्मण्य भारती' आते हैं। अबतक देश में राष्ट्रीय जागृति हो गई थी। लोगों में एकता और देश-प्रेम की भावना उत्पन्न हुई। भारती ने सरल बोलचाल की भाषा में समयानुकूल रचना करके सारे प्रांत में उथल-पुथल मचा दी। वे हर प्रकार के बंधन के विरोधी थे। नवीनता के पक्षपाती होते हुए भी प्राचीनता के प्रति उदासीन नहीं थे। इन्होंने कविता, उपन्यास, कहानियाँ, बालोपयोगी साहित्य, स्तुति-गीत, दार्शनिक लेख आदि लिखे। इनके 'देशीय गीतंगल' (राष्ट्रीय गीत) बहुत प्रसिद्ध हैं। भारती ने देश की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्ता का पग-पग पर वर्णन किया है। वे जात-पाँत को नहीं मानते थे। आर्थिक असमानता और दारिद्र्य देखकर उनके मन में विप्लव का ज्वालामुखी फूट पड़ा, जो लावा के रूप में उनकी कविताओं में प्रवाहित होने लगा। उनका एक गीत है—

भारत समुदायम वाऴकवे—वालक वाऴ्क
भारत समुदायम वालकवे—जय जय जय (भारत)
मुप्पतु कोटी जनंगलिन संघ मुलुमैक्कुम पोतु उडैमै
ओप्पिलाद समुदायम उलगत्तुक्कारु पुदुमै—वाऴ्क (भारत)
मनि रुणवै मनितर परिक्कुम वऴक्कम इनियुण्डो ?
मनितर नोह मनितर पार्कुमवालक्क इनियुण्डो ?—पुलनिल
वाऴ्क्कै इनियुण्डो—नम्मिलन्द वाऴ्क्कै इनियुण्डो ?—वाऴ्क (भारत)

*   *   *

इनियोरु विधि शेयवोम, अदै येन्दनालुम काप्पोम
तनियोरुवनुक्कुणविलैयेनेल जगत्तिनै यलित्तिडुवोम—(वाऴ्क भारत)
येल्लोरुम ओर कुलम् येलोरुम ओरिनम
येल्लोरुम इन्दिय मक्कल !
येल्लोरुम ओर निरै, येल्लोरुम ओर विलै
येल्लोरुम इन्नाट्टु मन्नर !—नाम
येल्लोरुम इन्नाट्टु मन्नार !... (वाऴ्क भारत)

अर्थात्—"जय हो भारत-संघ की। यह भारत-संघ ३० करोड़ जनों की सम्पत्ति है। यह अद्वितीय देश समूचे संसार के लिए एक नवीन वस्तु प्रतीत होगा। मनुष्य-मनुष्य के आहार को छीनने का कार्य क्या भविष्य में भी चलेगा ? एक मनुष्य दुःख में पड़ा रहे और

दूसरा उसे देखता रहेगा ? नहीं, कदापि नहीं। आगे यह नहीं होगा। हम यह नियम बनायेंगे और उसका पालन सदा करेंगे कि एक को भी भर-पेट खाना न मिले, तो हम समूचे संसार को नष्ट कर देंगे। हम भारतवासी एक वर्ण के, एक वंश के हैं। हम एक तोल के और एक मोल के हैं। हम सब इस देश के शासक हैं।" ऐसी क्रांतिकारी एवं आवेशयुक्त कविताएँ आज से ५० वर्ष पहले भारती ने बनाईं।

भारती ने 'कुयिल पाट्टु' (कोयल-गीत), 'पांचाली शपथम्' जैसे खण्डकाव्य भी लिखे हैं। बालकों के लिए इन्होंने सुन्दर छोटे-छोटे शिक्षाप्रद पद लिखे हैं। भारती ने हर प्रकार से इस युग का दिशा-दर्शन कराया है, अतः इस युग को भारती-युग कहते हैं। भारती की परम्परा के अनेक कवि हुए हैं, जिन्होंने विषय, शैली आदि में भारती का अनुकरण किया है। उनमें 'देशिक विनायकम् पिल्लै', 'भारती दासन', 'नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै', 'शुद्धानंद भारती' आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट गीत लिखनेवाले और अनेक कवि हुए हैं। भारती ने लोकगीतों की जिस शैली और ग्रामीण भाषा में कविता लिखना आरंभ किया, उसे कई कवियों ने अपनाया। वर्त्तमान तमिल् साहित्य भारती की अनुबद्ध शृंखला है तथा इस काल के उत्साही कवि इनके पथ पर चलकर तमिल् की श्रीवृद्धि करने लगे हैं।

नाटक—बौद्धों और जैनों के पहले तक नाटक पर्याप्त मात्रा में रचे गये। परन्तु, इनके धर्म-प्रचार के पश्चात् नाटक उतने लोकप्रिय नहीं रहे। बीच-बीच में कुछ पद्य-नाटक अवश्य रचे गये। परंतु रंगमंच के योग्य नाटक अधिक नहीं थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में 'नल्लतंगाल नाटकम्', 'हरिश्चन्द्र नाटकम्' जैसे लोक-नाटक ग्रामीण रंगमंच पर प्रदर्शित किये गये। अब शिक्षित लोगों का आकर्षण भी नाटकों की ओर बढ़ा। श्रीसम्बन्ध मुदलियार ने लगभग ८० से अधिक नाटक रचकर लोगों की इच्छा की पूर्त्ति की। इस समय देश में कई नाटक-कंपनियाँ उठ खड़ी हुईं, जो नाट्य-कला की अभिवृद्धि के साथ-साथ जनसाधारण के मनोरंजन के लिए नाटकों का प्रदर्शन करती थीं। ऐसी कंपनियों में राजमाणिक्कम और टी० के० एस० भाइयों की दो नाटक-मंडलियाँ अब भी सफलतापूर्वक इस कार्य को करती आ रही हैं। इनके दिग्दर्शन के परिणामस्वरूप ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक कथानकों को लेकर कई नाटक रचे गये, जो अभिनेय भी थे और पाठ्य भी। अपने रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक लिखवाये, जिनका तमिल्-साहित्य में अच्छा स्थान है। इन नाटकों के अतिरिक्त एकांकी और रेडियो-रूपक-प्रहसनों के सर्जन में भी पर्याप्त प्रगति हुई है।

उपन्यास—कहानी की तरह उपन्यास भी पर्याप्त संख्या में लिखे गये हैं। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध तक अच्छे-अच्छे उपन्यास लिखे गये। प्रतापमुदलियार-चरित्रम्, कमलांबाल चरित्रम्, पदमावती चरित्रम्, जटावल्लभर आदि उपन्यास इसी समय के लिखे हुए हैं। आरणी-कुप्पुस्वामी मुदलियार ने अँगरेजी उपन्यासों की कथावस्तु के आधार पर अनेक जासूसी उपन्यास लिखे। वडुवूर दुरैस्वामी अय्यंगार और रंगराज ने सामाजिक उपन्यास लिखे। गत कुछ वर्षों से सुधारवादी लेखकों ने अनेक सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। सुधारवादी उपन्यासकारों में रा० कृष्णमूर्त्ति अग्रणी हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यास

'शिवकामियिन शपथम्' (शिवकामी की शपथ) तथा 'पार्तिपन कनवु' (पार्तिपन का स्वप्न) स्थायी महत्त्व के हैं। अन्य उपन्यासकार में महादेवन, पी० एम० कण्णन, जीवा, जी०एस० मणि तथा स्त्रियों में लक्ष्मी, गुहप्रियै, सरस्वती अम्माल, अनुत्तमा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कहानियाँ—इधर कहानियों के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई है। व० वे० सु० अय्यर, भारती और के०एस० वेंकटरमणी १९वीं शताब्दी के कहानीकार हैं, जिन्होंने नवीन ढंग की कहानियाँ लिखने का श्रीगणेश किया। इनके पश्चात् अनेक लेखकों ने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, भावात्मक तथा हास्यरस-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं। ऐसी कहानियाँ सफलतापूर्वक लिखनेवालों में सैकड़ों के नाम लिये जाने चाहिए। चक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी; पुदुमैपित्तन, कु०प० राजगोपालन, रा० कृष्णमूर्त्ति, अखिलन रंगनाथन, सरस्वती अम्माल पिच्चमूर्त्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें कइयों की कहानियाँ तो सर्वकालीन और सार्वदेशिक हैं।

इस काल में अँगरजी और भारतीय भाषाओं की कहानियों और उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ। प्रेमचंद, शरत्चंद्र, बंकिमचंद्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, खांडेकर आदि के समस्त उपन्यासों और कहानियों का प्रतिभावान् व्यक्तियों द्वारा अनुवाद हो चुका है। राजनीतिक और साहित्यिक व्यक्तियों की जीवनियाँ, संस्मरण तथा यात्रा-साहित्य लिखनेवालों में उ०वे० स्वामिनाथय्यर, शुद्धानन्द भारती, व० रा० आदि प्रमुख हैं। महाभारत की कथा, कण्णन काट्टिय वालि (गीतासार), भजगोविन्दम्, रामकृष्ण-उपनिषद् आदि की रचना कर चक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी ने अपने व्यस्त राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण साहित्य-सेवा की है। महामहोपाध्याय डा० उ० वे० स्वामिनाथ अय्यर, रा० राघवय्यंगार, का० सुब्रह्मण्य पिल्लै, सोमसुन्दर भारती, वैयापुरि पिल्लै, पूर्णलिंगम् पिल्लै, नीलकंठ शास्त्री आदि ने तमिल् के प्राचीन साहित्य पर परिशोधपूर्ण लेख, टीकाएँ आदि लिखी हैं। उन टीकाओं और लेखों के कारण प्राचीन साहित्य का अध्ययन करना सरल हो गया है।

नवीन ढंग पर आलोचना करनेवालों में व० वे० सु० अय्यर, रा० राघवय्यंगार, टी० के० चि० सेतुपिल्लै, पि० श्री० आचार्या, सोमसुन्दर भारती, भास्कर तोण्डमान, आ० श्रीनिवासराघवन, मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै आदि प्रसिद्ध हैं। लोकसाहित्य, बाल-साहित्य, विज्ञान-संबंधी लेख आदि भी यथारीति प्रगतिशील हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ—वैसे तो सैकड़ों मासिक, साप्ताहिक दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। इनमें कलैमंगल, अमुदसुरभि, कावेरी जैसी मासिक पत्रिकाएँ; आनंदविकटन, कलकी, स्वदेशमित्रन, कदिर आदि साप्ताहिक पत्रिकाएँ; दिनमणि, स्वदेशमित्रन आदि दैनिक पत्र बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं। इनमें कहानियाँ, धारावाहिक उपन्यास, लेख, आलोचना-स्तंभ, व्यंग्य-चित्र एवं राजनीतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक निबंध छपते हैं। इस प्रकार तमिल्-साहित्य बहुत प्रगति कर रहा है।

साहित्य एक प्रवहमान प्रक्रिया है। इसकी अपनी दिशा होती है और एक अपना विकास-क्षेत्र। साहित्यिक मूल्य अवश्य परिवर्त्तित होते हैं, मूल्यों की भाषा कुछ भी हो। यह हर्ष का विषय है कि तमिल्-साहित्य परंपरागत रूप से प्रगतिशील रहा है और रहेगा।



—श्री एन्० सुब्रह्मण्यम् 'साहित्यरत्न'

तेलुगु भाषा और साहित्य

दक्षिण में पाँच द्रविड़ भाषाएँ हैं। इनका जन्म द्राविड़ भाषा से हुआ है, इसलिए इनका संबंध द्राविड़ भाषाओं से घना है। इतने घनिष्ठ संबंध के होते हुए भी दक्षिण की तरफ आई हुई आर्य-संस्कृति के प्रभाव से ये भाषाएँ प्रभावित हुए बिना न रह सकीं। यों तो आज सब दक्षिणी भाषाएँ आर्यभाषा संस्कृत से प्रभावित हैं। इनमें तेलुगु भी एक है, जिसने अधिक मात्रा में संस्कृत और प्राकृत की शब्दावली को आत्मसात् कर लिया है। यह अन्य चार भाषाओं, अर्थात् कन्नड, तमिल, मलयालम और तेलुगु से अधिक लोगों में प्रचलित है। यह भाषा आर्यभाषाओं के प्रभाव से ही नहीं, बल्कि जिन द्रविड़ भाषाओं से यह घिरी हुई है, उनके प्रभाव के कारण भी, अधिक समयानुकूल शब्दावली से संपन्न है। इसी संपन्नता और भावाभिव्यक्ति की क्षमता के कारण इस भाषा में शक्तिशाली और रागात्मिका सभी वृत्तियों के अभिव्यक्तीकरण के लिए आवश्यक माधुर्य आ गया है। इस भाषा के इन्हीं अभिज्ञात गुणों के कारण यह भारत की 'इटालियन' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

आरम्भ-युग : सन् ६०० से १०२० ई० तक

इस भाषा का आरंभ कब से हुआ और साहित्यिक सृष्टि किस काल से हुई, यह अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उपलब्ध साहित्य से इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'नन्नय' ही इस भाषा के प्रथम साहित्यिक हुए हैं। इनका समय करीब सन् १०२० ई० है। इनकी काव्य-शैली, इनकी भाषा और रचना-पद्धति काफी प्रौढ है। श्रीनन्नय के इस साहित्य के अनुशीलन से यह निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि इनके पहले भाषा-शैली या शब्दावली काफी प्रौढ और भावाभिव्यक्ति की क्षमता रखनेवाली रही होगी। तत्कालीन शिलालेख आदि से इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है। सन् ८४४ और ८८६ तथा ९२७ और ९३४ ई० के बीच के शिलालेखों में भी सुन्दर पद्य-रचना के नमूने हमें प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम उपलब्ध शिलालेख सन् ६०० ई० का है, इसलिए हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि सन् ६०० ई० तक भाषा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी तथा तत्कालीन परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने की योग्यता पा चुकी थी। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि 'नन्नय' को भाषा की यह विरासत सहज ही प्राप्त हुई।

पुराण-युग : सन् १०२० से १५१० ई० तक

यह युग श्रीनन्नय कवि से आरंभ होकर करीब ५०० साल तक, अर्थात् श्रीकृष्णदेवराय के समय तक रहा है। यह पुराण-युग इसलिए कहलाता है कि इस युग में रामायण, महाभारत, भागवत, पद्मपुराण आदि पुराणों का संस्कृत से तेलुगु में अनुवाद हुआ। इन पुराणों के

रचयिताओं में 'नन्नय' प्रथम थे और उनकी शैली संस्कृत-शब्दावली से अधिक प्रभावित थी। तत्कालीन तेलुगु-शब्दावली को भी लिये हुए उत्तम काव्य-शैली में लिखा हुआ होने के कारण उनकी भाषा काफी प्रौढ तथा काव्य-साहित्यशास्त्र से संगत था।

महाभारत के तीन पर्वों का ही अनुवाद हो सका। पूर्ण होने के पहले ही नन्नय का देहावसान हो गया। इस अपूर्ण महाभारत के अनुवाद को 'श्रीतिक्कन सोमयाजी' ने पूर्ण किया। श्रीतिक्कन सोमयाजी ने तेलुगु की संस्कृतनिष्ठता को कम कर तेलुगुपन को अधिक प्रधानता दी। इतना ही नहीं, इस अनूदित काव्य को मूल महाभारत से अधिक सुन्दर बनाया। 'नन्नय' के अनुवाद के सिलसिले में एक बात और कहनी है। उनके अनूदित तीन पर्वों में तीसरे पर्व (अरण्यपर्व) का कुछ अंश रह गया था। इसको 'येर्रन्ना' ने पूर्ण किया, इसीलिए नन्नय, तिक्कन और येर्रन्ना कवित्रय कहलाते हैं।

इस कवित्रय में तिक्कन और येर्रन्ना ने महाभारत का ही नहीं, बल्कि और भी कई पुराणों का अनुवाद किया। जैसे महाभारत का अनुवाद एक से नहीं हो सका था, वैसे ही रामायण और भागवत का भी अनुवाद एक ही कवि से नहीं हो सका। भास्कर आदि चार कवियों ने रामायण का और बम्मेर, पोतराजु आदि चार कवियों ने भागवत का अनुवाद किया। वरंगल के निवासी महाकवि पोतना ने भागवत के अधिकांश का अनुवाद किया। इनका समय सन् १४०५ से १४७० ई० तक है। इनकी कविता भक्तिरसपूर्ण तथा कोमलकांत पदावली से आकर्षक है। मूल से भी अधिक रोचक है। इस युग में अन्य कई महान् कवि हुए हैं। उनमें, उत्तरहरिवंश के स्वेच्छानुवाद करनेवाले 'नाचर सोमय्या' ने सन् १३६०—१३७७ ई० में पुराण-शैली को छोड़ प्रबंध-शैली को अपनाया। श्रीनाथ सन् १३७०—१४४० ई० में हुए थे। आप संस्कृत और तेलुगु के प्रकांड पंडित थे। बचपन से ही आप कविता करते थे। शृंगार-नैषधकाव्य का तेलुगु में संस्कृत से अधिक सुन्दर और आकर्षक रीति से अनुवाद किया। शैव-मतावलम्बी होने के कारण शैव-पुराणों का प्रचुर मात्रा में अनुवाद किया। गाथा (Ballad)-पद्धति में रचा हुआ 'पलनाटिवीरचरित' आपका सर्वथा मौलिक काव्य है। यही तेलुगु-साहित्य की प्रथम मौलिक रचना है। आपकी छन्दोपद्धति साधारण प्रचलित द्विपदी-पद्धति थी, परंतु सर्वप्रिय साहित्य के निर्माता आप नहीं थे। आपके पहले 'पालकुरिकि' सोमनाथ (सन् १२८०—१३३० ई०) कवि ने लोक-साहित्य की नींव डाली थी। ये कट्टर शैव थे। इनका शैव, वीर शैव था। इसी का इन्होंने प्रचार किया। लोकभाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनका 'बसवपुराण' और 'पंडिताराध्यचरित' द्विपदी छंद में, सरल भाषा में रचे गये। जैसा यह वीर शैव समकालीन ब्राह्मण-धर्म के प्रति विप्लवकारी था, वैसे ही इनकी सरल रचना-पद्धति, साहित्य-क्षेत्र में संस्कृत-छंदोपद्धति तथा संस्कृत-शब्दावली के विरुद्ध विप्लवकारी मानी जाती है।

इस युग में 'शतक'-साहित्य की रचना भी आरंभ हुई। इन शतकों में 'सुमतिशतकम्' और 'वेमनशतकम्' आज भी बहुत लोकप्रिय हैं। भाषा सरल होने के कारण आज भी इस प्रांत के बालक-बालिकाएँ उन्हें पढ़ते हैं।

प्रबंध-युग : सन् १५१० से १६३० ई० तक

एक सौ वीस साल का यह युग तेलुगु-साहित्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। विजय-नगर-साम्राज्य (सन् १५१०—१५३० ई०) के काल में, श्रीकृष्णदेवराय की संरक्षकता में, काव्यकला चरम सीमा को पहुँची। कृष्णदेवराय स्वयं संस्कृत और तेलुगु के महान् पंडित थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक काव्य तथा नाटकों की रचना की, जिनमें 'जाम्ववतीकल्याणम्' एक प्रसिद्ध नाटक है। उन्होंने तेलुगु में 'आमुक्तमाल्यद' नामक प्रवंध-काव्य की रचना की। 'आमुक्तमाल्यद' में राजनीतिक सिद्धांतों पर महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है। यह उनके और तत्कालीन अन्य राजाओं के राजकीय व्यवहार का पथ-प्रदर्शक वना। इनके दरवारी कवि, 'अलसानि पेद्दना' (सन् १५१०—१५३५ ई०) ने 'स्वारोचिषमनुचरितम्' लिखा, जो वहुत सुन्दर प्रवंध-काव्य है। इन 'आमुक्तमाल्यद' और 'स्वारोचिषमनुचरितम्' ने तेलुगु-साहित्य के इतिहास में एक नया युग आरंभ किया। श्रीकृष्णदेवराय ने उनको 'आंध्र-कविता-पितामह' की उपाधि देकर राजगौरव से विभूषित किया। उनके समकालीन तथा वाद के कवियों ने इस प्रवंध-शैली का अनुकरण किया। तेलुगु-प्रदेश तथा भारत के अन्य प्रदेशों में भी साहित्यिकों को राजाओं की संरक्षकता प्राप्त हुई थी। इस संरक्षकता ने जहाँ साहित्य की वृद्धि में योग दिया, वहाँ एक हानि भी पहुंचाई। इस तरह के राज-संरक्षण से काव्यकला-पंडितों और राजाओं के अनुरंजन की ही चीज वनी रही, उसका जन-साधारण से संवंध नहीं रहा। यही नहीं, साधारण जनता की रचनाएँ उपेक्षित और तिरस्कृत थीं। तत्कालीन पंडित, द्व्यर्थक, त्र्यर्थक काव्यों के वौद्धिक व्यायाम में एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते थे। यह युग हिन्दी के रीतिकालीन युग की तरह वाहरी आडंवर से परिपूर्ण था। फिर भी, कुछ श्रेष्ठ कवि और काव्य भी इस काल में हुए थे। १७वीं शताब्दी के कवि 'पिंगलि सूरना' ने 'कलापूर्णोदय' नामक सुन्दर मौलिक काव्य रचा, जो कल्पनाप्रधान और चमत्कारपूर्ण है। उनका 'प्रभावती-प्रद्युम्न' काव्य हरिवंश की कथावस्तु पर आधृत होने पर भी अधिक आकर्षक ढंग से रचा गया है। इसी युग में 'मोल्ल' (कुम्हारिन) की लिखी रामायण सरल शैली में है, परन्तु कवयित्रियों में यही प्रथम नहीं। सन् १४५० ई० में ही 'तालपाक हिम्मक्का' ने 'सुभद्राकल्याणम्' की द्विपदी में रचना की।

क्षीण युग (पतन-काल) : सन् १६३० से १८६० ई० तक

यह वह युग था, जवकि तेलुगु में प्रभूत मात्रा में साहित्य तो उत्पन्न हुआ; परन्तु ठोस साहित्य कुछ भी नहीं हुआ। यह शब्दाडंवरप्रधान, वाहरी तड़क-भड़कवाली भावहीन तुकवन्दी-मात्र थी। पंडित और कवि श्लेषप्रधान शब्दावली को चुनकर अपनी रचनाओं को अलंकृत करना चाहते थे। 'कनकेति पापराजु' अकेले ही इस युग के श्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। इनका 'उत्तररामचरित' एक ऐसा सुन्दर काव्य है कि जिसमें पुराण-युग की आकर्षक वर्णन-पद्धति, प्रबंध-युग की कलात्मकता तथा समकालीन अलंकार-योजना का विवेकपूर्ण सामंजस्य है।

सर्वोदय-युग : सन् १८६० से १९५० ई० तक

सन् १८६० ई० में पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव ने, विशेष तौर पर साहित्य के प्रभाव ने, तेलुगु-साहित्य की प्रगति में अत्यधिक प्रभावशाली परिवर्त्तन किया। यह परिवर्त्तन केवल तेलुगु में ही नहीं, अपितु अन्य भारतीय भाषाओं के विषय में भी हुआ है।

यदि सन् १८६० ई० से तेलुगु-साहित्य के परिमाण को आँका जाय, तो हमें तत्कालीन साहित्य में चंपूकाव्य, भाषानुशासन, अलंकार, छन्द और अन्य शतक-साहित्य आदि विभिन्न तरह की सैकड़ों कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। ये सब पंडितमान्य और ठोस साहित्य के अंतर्गत हैं। परन्तु, भाषा क्रमशः पंडिताऊ होने के कारण सर्वबोधगम्य नहीं रही। सर्वसाधारण बोली में सर्वबोधगम्य रीति से लिखी गई पुस्तकें गद्यशैली में थीं, तो भी वे पंडिताऊ भाषा में न होने के कारण इनके प्रति तत्कालीन साहित्यक उदासीन रहे। जब मुद्रण-यंत्रों द्वारा प्रकाशन की सुविधा हुई, तब ऐसी ही पुस्तकें छापी गईं, जो काव्योचित भाषा में लिखी गई थीं। यही समय था, जबकि मद्रास के सरकारी कॉलेज में 'चिन्नयसूरि' तेलुगु-पंडित नियुक्त हुए। आप काव्य-भाषा के इतने प्रेमी थे कि आपने जन-साधारण की भाषा में गद्य-निर्माण हो सकने पर भी इस कार्य के लिए काव्य-भाषा को ही उपयुक्त माना, साधारण जनता की बोली की उपेक्षा की। उसी तरह की काव्य-भाषा में आपने 'मित्रभेद' एवं 'मित्रलाभ' नामक पंचतंत्र के दो कथानक लिखे।

'चिन्नयसूरि' ने गद्य और पद्य दोनों के लिए उपयोग किये जाने लायक व्याकरण की भी रचना की। किन्तु, वह व्याकरण अपूर्ण था। इनके व्याकरण के सूत्रों के आधार पर यदि बड़े-बड़े कवियों के प्रयोगों की जाँच की जाय, तो वे गलत प्रमाणित हो जायेंगे। उनकी गद्य-शैली प्रासबद्ध और कृत्रिम होने के कारण साधारण जनता के लिए दुर्बोध्य रही। तो भी वही दो पीढ़ियों के साहित्यिकों के लिए नमूना बना रहा; क्योंकि सरकार ने उसे मान्यता दी। इस तरह नमूना बनकर रहने का दूसरा कारण यह था कि भाषा की प्रासबद्ध शब्दावली कुछ समय के लिए लोगों के आकर्षण की चीज बनी रही। इस कार्य ने नवीन और उत्तम गद्यनिर्माण के प्रबल स्रोत को रोक दिया। इसके थोड़े ही समय बाद रावबहादुर 'वीरेशलिंगम् पन्तुलु' मद्रास-कॉलेज के पंडित नियुक्त हुए। वे स्वयं एक जबरदस्त समाजसुधारक थे। स्वभावतः भाषासुधारक भी वे बन सकते थे। परन्तु, उन्हें दो जबरदस्त शक्तियों ने ऐसा नहीं होने दिया। उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन एक मामूली हैसियत से और थोड़ी-सी साहित्यिक पूँजी के साथ आरम्भ किया। शुरू-शुरू में उन्होंने भी वही कार्य किया, जो साधारणतया 'चिन्नयसूरि' द्वारा तबतक चलाया गया था। किन्तु, उन्होंने तुरन्त ही समझ लिया कि काव्य-भाषा द्वारा गद्य-निर्माण करना किसी काम का नहीं होगा और साधारण जनता के लिए उससे कोई लाभ भी नहीं होगा। मगर, उनमें साधारण बोली में लिखने का साहस नहीं रहा। यह साहस इसलिए नहीं रहा कि समकालीन पंडितों द्वारा कहीं अपमानित न हो जाय और पंडित लोग यह न समझ बैठें कि वीरेशलिंगम् काव्य-भाषा नहीं जानते। इसलिए, उन्होंने अपनी कृतियों में, अर्थात् नाटकों और प्रहसनों में साधारण

पात्रों के द्वारा—जैसे संस्कृत-नाटकों में साधारण पात्रों के द्वारा प्राकृत का प्रयोग कराया गया है, वैसे ही लोगों की भाषा को स्थान दिया। अगर ऐसी कृतियों में काव्य-भाषा का उत्तम पात्र-निर्वहण की दृष्टि से प्रयोग भी किया, तो उसे भी सर्वबोधगम्य बनाने की या ऐसे आसान प्रयोगों के द्वारा ही भावाभिव्यक्ति की कोशिश की। इस पद्धति ने भावुक नवयुग के कलाकारों को आकृष्ट किया। इस कार्य ने चिन्नयसूरि की उस काव्यमय दुर्बोधता से मुक्ति दी। भाषा को आसान बनाने मात्र में ही यह सुधार नहीं था, बल्कि विभिन्न साहित्य के अंगों के विकास पर भी इस कार्य का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। अँगरेजी-साहित्य से परिचित 'वीरेशलिंगम् पन्तुलु' ने अँगरेजी के विभिन्न तरह के साहित्यों का अनुसरण और उसकी अभिव्यंजना-पद्धति अपनाकर तेलुगु के नवीन उत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उनके समय तक तेलुगु-साहित्य में उपन्यास, निबन्ध या नाटक नहीं थे। इन सभी साहित्यिक अंगों का निर्माण श्रीवीरेशलिंगम् पन्तुलु ने किया। नाटक-साहित्य के निर्माण में धर्मवरमुकृष्णमाचारी, चिलकमर्त्ति, लक्ष्मीनरसिंहम्, पानुगण्टि नरसिंहम् आदि ने वीरेशलिंगम् का सहयोग किया। आज करीब एक हजार तेलुगु-नाटक, एक हजार उपन्यास और कथा-कहानियाँ तेलुगु-साहित्य में मौजूद हैं।

१८वीं और १९वीं सदियों में भक्तिपूर्ण और शृंगारिक गीति-रचना हुई थी। उनमें 'त्यागराज' के कीर्तन और 'क्षेत्रय्या' के पद बहुत प्रसिद्ध हैं। ये कीर्त्तन और पद साधारण लोगों की भाषा में प्रचलित शब्दावली में लिखे होने के कारण पंडितों ने इन्हें साहित्य की उपाधि से भूषित नहीं किया।

सन् १९१० ई० के करीब अँगरेजी-भाषा के आमतौर पर शिक्षणालयों में प्रचलित हो जाने के कारण उस नई भाषा के प्रति लोगों का आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक था और इस स्वाभाविक आकर्षण ने मातृभाषाओं के प्रति एक उदासीनता पैदा कर दी, जिससे तत्कालीन पढ़े-लिखे युवक अपनी भाषा में बोलने और लिखने में असमर्थ ही नहीं थे; बल्कि इसे अपना अगौरव भी समझने लगे थे। इस कारण पाठशालाओं में मातृभाषा द्वारा निबन्ध लिखना शिक्षण का एक अनिवार्य अंग मानकर सरकार के द्वारा घोषित किया गया। तब सवाल यह था कि ऐसे निबन्ध काव्य-भाषा में लिखे जायँ या प्रचलित भाषा में। इस सवाल का जवाब यह था और निर्णय भी यही था कि अँगरेजी में चॉसर और मिल्टन को पढ़कर जैसे चलती भाषा में लिखा जाता है, वैसे ही प्राचीन काव्यों का अध्ययन करने पर भी चलती भाषा में ही लिखा जाना चाहिए। मगर, पंडितों ने इसे नहीं माना, उलटे काव्य-भाषा में ही निबन्ध लिखने पर जोर दिया। उनका विचार था कि चलती भाषा देहाती होने के कारण साहित्यिक नहीं हो सकती। इस समय इस लेखक के पिता रावसाहब श्री जी० वी० राममर्त्ति पन्तुलु ने साहित्यिक रंगमंच पर प्रवेश किया और इस लोकभाषा के द्वारा किये जा सकनेवाले महान् कार्यों की ओर संकेत कर साहित्यिक क्षेत्र के अग्रगन्ता नेता हुए। उन्होंने सारे आंध्रदेश का भ्रमण किया और सभी शिक्षणालयों का संदर्शन किया और लोगों को समझाया कि—

१. प्रचलित भाषा जो शिष्ट-प्रयुक्त है, वह ग्रामीण नहीं कही जा सकेगी।

२. भाषा जनसाधारण की हो और उसी भाषा में काव्य-निर्माण हो तथा उन काव्यों के प्रयोगों के अनुकूल व्याकरण आदि हों। यही स्वाभाविक है और प्रगति का मूलमंत्र है। इससे भिन्न कोई भी क्रम विकास में वाधक है।

३. आदिकाल से भी हमारे कवियों ने तत्कालीन प्रचलित प्रयोगों को अपनाया है। उन प्रयोगों का अनुशीलन किये विना व्याकरण के सूत्रों की कसौटी पर कसकर उन्हें गलत कहना भारी भूल है। ऐसे अपूर्ण व्याकरणों की दृष्टि से जव पंडितों की भाषा में ही ऐसे प्रयोगों का होना दुस्साध्य है, तव विद्यार्थियों को इस तरह के वन्धन में वाँध देना वहुत ही क्रूर कार्य है।

४. हरिजन, समाज का एक प्रमुख अंग होते हुए भी उनको वरावरी का स्थान उन प्राचीन शास्त्रों ने जैसे नहीं दिया था, वैसे ही भाषा के अंतर्गत होकर प्रचलित और नित्य काम देनेवाले तिङ् और सुवंत शब्दों के रूप, जिन्हें प्राचीन व्याकरणों ने असाधु कहकर वहिष्कृत किया, उन्हें आज भाषा में वरावरी का स्थान अवश्य मिलना चाहिए। इसके लिए यदि शास्त्र को वदलना भी पड़े, तो कोई आपत्ति हमें नहीं होनी चाहिए।

श्रीराममूर्त्ति पंतुलुजी के ये सिद्धांत नवयुवकों को अच्छे लगे। समकालीन सनातनी पंडितों को यह नया परिवर्त्तन सकारण प्रतीत होने पर भी अपने कट्टरपन के कारण स्वीकार्य नहीं था और इस तेज वहनेवाली पहाड़ी धारा को रोक सकने का ताव उनमें नहीं था।

तेलुगु-भाषा का दुर्भाग्य था कि श्रीराममूर्त्ति पंतुलुजी का देहावसान सन् १९४० ई० में हुआ। मगर, वे अपने जीवनकाल में ही तेलुगु-भाषा को जिस प्रचचित रूप में देखना चाहते थे, देखा। प्रत्रिकाओं ने तथा अन्य साहित्यिक ग्रंगों ने उनकी मनोनीत भाषा को अपनाया था। आज प्रचचित भाषा में निर्मित साहित्यिक कृतियाँ यद्यपि सरकारी स्कूलों और विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक हैं, तथापि उस भाषा पर अभी तक सरकार और विश्वविद्यालयों ने अपनी मुद्रा नहीं लगाई है, यह वाकी रह गया है।

आज वीसवीं सदी में भाषा में ही परिवर्त्तन नहीं, वल्कि विचार-पद्धति और साहित्य-निर्माण की विविध रीतियों में काफी परिवर्त्तन आ चुका है। श्रीपंतुलुजी के समकालीन साथी 'श्रीगुरुजाड़ अप्पारावजी' के मुक्तक काव्य आज के नवयुवक कवि के लिए पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। उनका नाटक 'कन्याशुल्क' ने तो अमर कीर्त्ति पाई है। श्रीअप्पारावजी के अलावा 'श्रीरायप्रोलु सुव्वारावजी' भी अपनी मौलिक रचनाओं के कारण आज के काव्य-निर्माताओं के लिए आदर्श वने हैं। इन नये कवियों के एक समूह के लिए 'श्रीतल्लाकज्झल शिवशंकरशास्त्रीजी' गुरुतुल्य बने हैं, तो दूसरे समूह के लिए कविसम्राट् 'विश्वनाथ सत्यनारायण' गुरुतुल्य हैं।

'श्रीदेवुलपल्लि कृष्णशास्त्री' अपनी काव्य-माधुरी के लिए प्रसिद्ध हैं। सैकड़ों की संख्या में युवक कवि आज आंध्रदेश में पाये जाते हैं। उनमें प्रधान-प्रधान कवियों के नाम गिनाने के लिए भी काफी समय चाहिए। फिर भी, कुछ लोगों का परिचय कराना आवश्यक है। 'वेंकट पार्वतीश्वर' यमल कवि हैं। ऐसे ही 'काट्टूरि वेंकटेश्वर पिंगलिलक्ष्मीकांतम्' यमल कवि हैं।

कविकोकिल दुव्वूरि रामिरेड्डी, त्रिपुरनेनि रामस्वामी चौधरी, तुम्मुल सीतारामर्मूत्ति चौधरी, जोषुआ आदि प्रसिद्ध आधुनिक कवि हैं। चालीस-पचास तक कवयित्रियाँ भी हैं। नडुरि सुब्बारावजी के 'येंकि पाटलु' ने जन-मन को बहुत आकृष्ट किया है। बाल-साहित्य ने भी आज तेलुगु में काफी उन्नति पाई है।

तेलुगु-साहित्य की एक विशेषता है। इसमें अष्टावधान, शतावधान तथा आशुकवित्व की प्रधानता है। यह तेलुगु की अपनी संपत्ति है। 'श्रीभाडभूमि वेंकटाचारी' सर्वप्रथम और ख्यातिप्राप्त अवधानी थे। देवुलपल्लि कृष्णशास्त्रीजी के पिता और चाचा, रायकृष्ण यमल कवि और कोप्परपु भाई आदि इस आशुकविता में ख्यातनामा थे। किंतु, इनमें सर्वप्रथम और विशेष ख्यातिप्राप्त कवि तिरुपति वेंकटेश्वर थे। इन तिरुपति कवियों में एक चल्लपल्लि वेंकटशास्त्रीजी मद्रास-सरकार के सर्वप्रथम कविसार्वभौम (आस्थान कवि) थे। उनके दिवंगत होने के बाद दूसरे जिन्होंने कविसार्वभौम की पदवी पाई, वे कविसार्वभौम महामहोपाध्याय कलाप्रपूर्ण श्रीश्रीपाद कृष्णमूर्त्तिशास्त्रीजी हैं।

इन दोनों कवियों की साहित्यिक विचार-पद्धति में भिन्नता है। श्रीवेंकटशास्त्रीजी श्रीराममूर्त्तिपंतुलुजी के सिद्धांत को माननेवाले थे और उन्होंने उसी तरह की प्रचलित भाषा में जन-मन को प्रिय लगनेवाले साहित्य का निर्माण किया। वे आज के अनेक युवक कवियों के लिए गुरुतुल्य थे।

श्रीश्रीपाद कृष्णमूर्त्तिशास्त्रीजी प्राचीन सनातन पद्धति के अनुयायी हैं। इन्होंने अकेले ही रामायण, महाभारत और भागवत का पद्यमय अनुवाद संस्कृत से तेलुगु में किया है। इनकी करीब १५० कृतियाँ आज तेलुगु-साहित्य में प्रतिष्ठित हैं।

आज के कविसार्वभौम, श्रीश्रीपाद कृष्णमूर्त्ति के अनुयायियों में कड़पा-जिला के जनमंत्रि शेषाद्रि शर्मा और गडियरे वेंकट शेषय्या आदि अनेक कवि पर्याप्त प्रसिद्ध हैं।

तेलिंगाना के गोलकोंडा-प्रदेश में आज ३०० कवि मौजूद हैं। संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि आज आंध्रदेश काव्योचित प्रतिभा से परिपूर्ण है। इस प्रतिभा का प्रवाह विशेष रूप से राष्ट्रीय जागरण को लिये हुए काव्य-निर्माण करने में पूँजीवादी समाजतंत्र के विरुद्ध जन-जागरण का प्रतीक बनकर दीन-दुःखियों की सहानुभूति से अनुप्राणित हुआ है। तात्पर्य यह है कि आज तेलुगु-साहित्य उस जनता के जीवन को प्रतिबिंबित करनेवाला दर्पण है।

—डॉ० जी० वी सीतापति

⊙

कन्नड भाषा और साहित्य

यह कहना आसान नहीं कि कन्नड भाषा में काव्य की रचना कबसे आरंभ हुई। अबतक ९वीं शताब्दी के पूर्व की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। पर, कई ऐसे शिलालेख मिल चुके हैं, जो ९वीं शताब्दी के पूर्व के कहे जा सकते हैं। यह जानी हुई बात है कि वेलूर (रियासत मैसूर का प्राचीन नगर) सारे दक्षिण-भारत में शिल्पकला की खान है। उस नगर के पास ही 'हल्मडी' में सन् ४५० ई० का एक शिलालेख प्राप्त है। कहा जा सकता है कि यही शिलालेख सबसे पुराना है—उनमें, जो अबतक मिले हैं। इसमें आरम्भ में संस्कृत का एक श्लोक खुदा हुआ है और बाकी जो है, वह तो कन्नड-गद्यशैली में। सन् ७०० ईसवी का एक दूसरा शिलालेख 'बादामी' (जिला बीजापुर) में मिला है। उसमें जो पद है, वह तो ठेठ कन्नड छन्द का है। पद में संगीत की मिठास है और भाषा में प्रवाह। सातवीं सदी के आसपास श्रवणबेलगोल (गोम्मटेश्वर-क्षेत्र) में सैकड़ों शिलालेख मिले हैं। इन शिलालेखों की भाषा पुरानी कन्नड है। इन पदों में संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता और संस्कृत-साहित्य की परम्परा की छाप बहुत है। पदों की प्रौढ़ता पर ध्यान देने से पता चलता है कि कन्नड में काव्य-रचना अवश्य हुई होगी, पर वे काव्य लिपिबद्ध न हुए होंगे।

'कविराजमार्ग' ग्रन्थ अब मिला है। इस ग्रन्थ के प्रमाण से यह अनुमान होता है कि कन्नड भाषा में काव्यों की रचना बराबर जारी रही। अबतक मिले ग्रन्थों में 'कविराजमार्ग' ही सबसे प्राचीन है। इसके रचयिता हैं—राजा नृपतुंग, जो राष्ट्रकूट राजघराने के थे। यह लक्षणग्रन्थ है। प्राचीन कवियों के नाम और उनके लिखे कई पद इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं। इसकी तुलना संस्कृत-भाषा के 'काव्यादर्श' से की जाती है। कविराट् (नृपतुंग) अपने इस ग्रन्थ में लिखते हैं कि कन्नड-राष्ट्र का फैलाव कावेरी नदी से गोदावरी नदी तक है। जनता के बारे में कवि कहते हैं कि जनता काव्य पढ़ती नहीं, बल्कि काव्य की पारखी है। मतलब यह है कि जनता में काव्यों के पढ़ने की आदत नहीं, पर जनता इन ग्रंथों का श्रवण करती है। बार-बार सुनने से काव्य के मर्म को समझकर उसकी आलोचना करने में निपुण है। यों तो अबतक कन्नड-भाषा में संस्कृत और कन्नड इन दोनों भाषाओं के मेल से उत्पन्न एक ऐसी शैली का उत्कर्ष रहा, जो चंपू-शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। काव्य-रचना की यही रीति जारी रही। इस शैली को अपनाते हुए आदि कवि पंप ने अपनी कृतियों से कन्नड-भाषा को सजाया। नृपतुंग के बाद पंप की गिनती है। सन् ९४२ ईसवी कवि पंप का रचना-काल माना जाता है, तो भी पंप कन्नड के आदिकवि कहलाते हैं। इन्हींसे कन्नड-काव्यधारा बहने लगती है। इनके समकालीन और अपर-

कवि, सबने पंप की शैली का ही अनुकरण किया है, इसलिए यह पंपयुग कहा जा सकता है। इसका काल ईसवी-सन् ९०० से १२०० तक है। कन्नड के महान् कवि लगभग इसी समय के हैं। सब-के-सब एक-से-एक बढ़कर कवि हुए। यह तो कन्नड का स्वर्णयुग कहलाता है।

इस समय कर्नाटक में जैनधर्म अपने उत्कर्ष पर था। कवियों में भी जैन कवियों की ही संख्या अधिक थी। इन जैन कवियों की रीति थी—आत्मतृप्ति के लिए पुराण लिखना और साथ-साथ अपने अभिभावक और जनता को रिझाने के लिए काव्य की रचना करना। इस तरह पंप ने भी 'आदिपुराण' और 'भारत' की रचना की है। आदिपुराण में आदि तीर्थंकरों की कथा है। संस्कृत के 'पूर्वपुराण' ग्रंथ में इस कथा का उल्लेख है। पंप-भारत और व्यास के महाभारत, दोनों में मेल नहीं है। पंप ने अपने ही ढंग से इसकी रचना की है। कथा-प्रसंगों में दोनों में समता नहीं। पंप-भारत में तो द्रौपदी के पाँच पति नहीं होते। श्रीकृष्ण की, जो भगवान् के अवतार माने जाते हैं, प्रधानता नहीं। अर्जुन ही इस काव्य का नायक है। पंप ने घटनाओं के वर्णन में कलम ही तोड़ डाली है। काव्य में पद-योजना की प्रणाली किसी से सानी नहीं रखती। रस-निष्पत्ति और योजना-चातुरी बहुत उच्च श्रेणी की है।

आदिकवि पंप के बाद कवि 'रन्न' की बारी है। ईसवी-सन् ९९२ रन्न का समय है। इनका पेशा था—चूड़ियाँ बेचना और बनाना। कवि ने 'अजित तीर्थंकर' पुराण लिखा है। 'गदायुद्ध' इनका महाकाव्य है। यह काव्यग्रंथ बहुत लोकप्रिय है। कवि को अपनी रचना पर बड़ा अभिमान है। उनका दावा है कि यह काव्य सरस्वती के भंडार की लूट है। इस काव्य की कथावस्तु को लेकर आधुनिक कन्नड के आचार्य 'श्री' (बी० राम० श्रीकंठय्या) ने गदायुद्ध नाटक लिखा है। 'रन्न' की शैली ओजपूर्ण है। काव्य को पढ़ते-पढ़ते चित्त में वीरता का आवेश उत्पन्न होता है। भावव्यंजना की शैली ऐसी है कि शब्दों का चुनाव, भाव और अर्थ के साथ मेल खाता है। 'रन्न' शब्द का अर्थ है—रत्न। वास्तव में 'रन्न' कवियों में रत्न ही थे।

यह युग पद्य का ही था। काव्यधारा अबाध रूप से बह रही थी। गद्यकाव्य की रचना नहीं के बराबर थी। 'चावुंडराय', 'गंगवाडी' राजाओं के सचिव थे। संस्कृत 'महापुराण' का अनुकरण कर चावुंडराय ने 'चावुंडरायपुराण' नामक गद्यकाव्य की रचना की। कहा जाता है कि इन्होंने ही श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर महामूर्त्ति को बनवाया। गद्यकाव्य का दूसरा एक प्राचीन ग्रंथ मिला है। इसका नाम है 'वोड्डा राधण'। इसके रचयिता हैं शिव कोट्याचार्य। इस काल के विशेष उल्लेखनीय और दो ग्रंथ हैं। एक है कवि नागवर्मा का 'छन्दोम्बुधि', जो लक्षण-ग्रंथ है। दूसरा ग्रंथ है—'कन्नड-कादंबरी।' यह संस्कृत-कादंबरी का अनुवाद है। बाणभट्ट ने अपनी आख्यायिका संस्कृत-गद्यशैली में लिखी है, पर नागवर्मा की कृति पद्य में है। कन्नड जनता को पद्य ही बहुत प्रिय है। इसलिए, कहा जाता है कि इन काव्यों (पद्य-रचना) को लिपिबद्ध होकर ग्रन्थ के रूप में परिणत होने में समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी। गद्य का ध्येय है लेखन-

शैली में व्यक्त होना ; पर काव्य की साधना है गेय पदों के रूप में संगीत—सुरीली तान पर आरूढ होना । 'कर्णाटका: टङ्कारोत्तरपाठिन:' यह लोकोक्ति कन्नड जनता में चरितार्थ हुई है । धनुष्टंकार के समान गंभीर स्वर में लय होकर, काव्य को अपनी ही धुन में गाने का श्रेय कन्नड जनता को परंपरा से मिला है । यही कारण है कि इन कवियों के लक्षण-ग्रंथ, शब्दमणिदर्पण, छन्दोम्बुधि आदि पद्यमय रचनाएँ हैं ।

नागवर्मा के समय में ही कन्नड-काव्यरचना-शैली में यह परिवर्त्तन होना दिखाई पड़ा कि संस्कृत के शब्द-प्रयोग की बहुलता कम हुई । इनका ग्रंथ तो संस्कृत का अनुवाद है, तो भी उसमें सरस कन्नड-शब्द-लालित्य की भरमार है । कवि नागचन्द्र की ख्याति अभिनव पम्प के नाम से हुई है । नागचन्द्र ने 'मल्लिनाथपुराण' और 'रामायण' ये दो काव्य लिखे हैं । वाल्मीकीय रामायण और नागचन्द्र की रामायण—दोनों के कथावस्तु-वर्णन में अपार अन्तर है । इसमें पुत्रकाम्येष्टि का कोई वर्णन नहीं । विश्वामित्र और वसिष्ठ का अस्तित्व ही लुप्त है । महाबली हनुमान् समुद्र को नहीं लाँघते, पर विमान में आरूढ हो, उसे पार करते हैं । वाली संन्यास ग्रहण करते हैं । राम के हाथों रावण का वध नहीं होता । उनका वध लक्ष्मण द्वारा होता है । सबसे बढ़कर अंतर रावण के चरित्र-चित्रण में है । उसका चित्रण इस भाँति है कि रावण जितेन्द्रिय और धर्मपरायण है । वह परनारी को, जो उससे मोहित होकर अपना प्रेम जताती है, उपदेश देता है । लेकिन वही रावण सीता को देख; चलितमनस्क होता है, परनारी से विरत रहने के अपने व्रत को सहसा भूल बैठता है । इस तरह, रावण दुरन्त नायक के रूप में चित्रित हैं । यह चित्रण-शैली काव्य की मार्मिकता को उद्दीप्त कर उसकी महत्ता को बढ़ाती है ।

पंपयुग की विशेषता यह है कि काव्य-निर्माण का ध्येय और ही था । ग्रंथ-निर्माण की वस्तु धार्मिक धारणाओं से ओतप्रोत रहती थी । इसकी साधना और चेतना यह थी कि धर्म का प्रचार भली भाँति हो जाय । इस काल में केवल साहित्य-सर्जन करनेवाले कवि बहुत विरले हैं । नेमिनाथ और आंडय्य—ये दोनों ऐसे कवि हुए कि केवल काव्य-रचना ही उनकी साधना रही । नेमिनाथ ने 'लीलावती-प्रबन्ध' नामक काव्य की रचना की, जो प्रेमकाव्य है । 'कावन गेल्ल' तो आंडय्य का वह काव्य है, जो 'मन्मथविजय' कहा जा सकता है । आंडय्य का भाव-व्यंजना से ही काव्य का माधुर्य छलकता हुआ दिखाई देता है । यही उनकी साधना थी ।

राजा-महाराजाओं का आश्रय पाकर, इस युग के साहित्यरथी काव्य रचा करते थे । अनेक राजा भी सुन्दर कवि हुए हैं । काव्य की कथावस्तु, उसकी वृत्ति और उसके छंद आदि संस्कृत-काव्य-परम्परा से प्रभावित थे । कुछ छन्दों की पद-योजना ऐसी थी कि पूरा पद संस्कृत का-सा प्रतीत होता था ।

कवि 'जन्न' का समय ईसवी ११७० से १२३५ तक माना जाता है । 'यशोधरचरित्र' इनकी काव्य-रचना है । कवि ने अपने इस काव्य में बड़ी मार्मिक व्यंजना के साथ दया की महिमा, अहिंसा की उत्कर्षता आदि का वर्णन किया है । काव्य का सर्जन धर्म की भित्ति पर नहीं हुआ है । चरित्र-निर्माण में कवि ने कमाल हासिल किया है । कथा-

प्रवाह में एक ऐसी घटना का वर्णन है कि आटे से बनी मुर्गी के बलि चढ़ाने की बात ठहरती है। इस प्रस्तुत परिस्थिति में हृदय की विकलता और अनुताप की व्यंजना को कवि 'जन्न' ने इतनी निपुणता और मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है कि यह दृश्य भावुक हृदय पर अपना असर किये बिना नहीं रहता। जो काम दसों धर्मग्रन्थ कर सकते थे, उसे जन्न की भावाभिव्यंजन-शैली ने बड़ी सफलता से संपन्न किया है। इस अनोखी निपुणता के कारण जन्न को 'कविसम्राट्' की उपाधि मिली।

बारहवीं शताब्दी में ही कन्नड-काव्यधारा का दूसरा युग प्रारम्भ होता है। संस्कृत की काव्य-परम्परा की कड़ियों से छुटकारा पाकर, कन्नड-काव्यकला अपने ही स्वच्छंद छंद से अलंकृत हो, निखरने लगी। पुरानी प्रथा के अनुसार यद्यपि धर्म का प्रचार ही काव्य-रचना का आशय था, तथापि कविहृदय उसे जनता तक पहुँचाने के लिए लालायित हो उठा। यही समय था कि समाजसुधारक बसवेश्वर का जन्म हुआ। बसवेश्वर केवल कवि ही नहीं, बल्कि 'वचन'-साहित्य के जन्मदाता हैं। समाजसुधारक तो थे ही; पर उनकी महान् अभिलाषा यही थी कि ये सूक्तियाँ जनता के हृदय में अपना घर बना लें। 'वचन'-काव्य की शैली सरल है। शब्द-योजना ललित है। कन्नड-काव्यधारा की यह नवीनता है। इस साहित्य की भाषा मार्जित है। इसमें बनावट नहीं। पद नुकीले और सूक्तियाँ छोटी-छोटी हैं। वचन-काव्यगद्य-सा प्रतीत होता है। 'वचन'-साहित्य के सभी कवि भक्त और संसार से विरक्त हैं। उनकी जीवनी पवित्रता का प्रतीक है। इसलिए, इस साहित्य ने दोनों (लौकिक और आध्यात्मिक) ओर से पुष्टि पाई। धर्म की भित्ति पर 'वचन'-साहित्य का निर्माण हुआ है। कविराण महाशिव की शरण में रमनेवाले हैं। इन सूक्तियों ने कन्नड जनता में बड़ी क्रांति मचाई। भक्तिधारा ने नूतनता की राह ली और जनता सामशील बनी। इसी अरसे में स्त्रियाँ भी कवि बनीं। एक नहीं, बहुतों ने ख्याति पाई।

इसी परम्परा में 'हरिहर' कवि हुए। ये तो कन्नड के नवीन छंद के प्रणेता हैं। यह नूतन छंद कन्नड भाषा में 'रगले' कहलाता है। आगे के कवि इसी छंद का अनुकरण करने लगे। कवि हरिहर के बाद राघवांक ने कीर्त्ति पाई। ये भी नवीन छंद के निर्माता हैं। यह छंद 'षट्पदी' (छप्पय) के नाम से प्रसिद्ध है। इनका 'हरिश्चन्द्र-काव्य' बड़ी उत्तम कृति है। अब षट्पदी काव्य-कृतियों की बौछार होने लगी। कुमारव्यास और लक्ष्मीश षट्पदी कवियों में ख्यातनामा हैं। कुमारव्यास लोककवि हुए। इनका 'भारत' घर-घर में, गाँव-गाँव में पढ़ा जाता है। 'भारत' पढ़-पढ़कर जनता आनन्द के मारे झूमने लगती है। पंप-'भारत' से कुमारव्यास की कृति सानी रखती है। जब काव्य-वाचन होता है, तब ऐसा विदित होता है कि श्रोताओं की आँखों के सामने भीम, अर्जुन, द्रौपदी, कृष्ण आदि पात्र जैसे चित्रित हो उठते हैं। कलियुग द्वापर में बदल जाता है और महाभारत की लड़ाई दृष्टिपथ में होती दिखाई पड़ती है। उत्तर भारत मे जैसे तुलसी-रामायण घर-घर में पढ़ी जाती है, वैसे ही कुमारव्यास के 'भारत' का हाल है कन्नड देश में।

'जैमिनी-भारत' लक्ष्मीश की अमर कृति है। उक्ति-चातुरी इनके काव्य की जान है। छन्दों की नस-नस में मधुरिमा भरी है। संगीत-लय में छन्द नाच उठता है। ऐसी प्रसिद्धि अन्य किसी कवि को नहीं मिली है। इन दोनों कवियों की रचनाएँ कन्नड जनता को इतनी प्रिय हैं कि इनके सामने रामायण का कोई मूल्य ही न रहा। इन्हीं कवियों के साथ रत्नाकर वर्णि का नाम भी लिया जाता है। इस कवि की रचना है 'भरतेशवैभव', जो एक अमूल्य तत्त्वग्रंथ है। नवरसों की पुष्टि इस कृति में भली भाँति हुई है और जानपद शैली इस रचना में अच्छी तरह सिद्धि पा गई है। शोलापुर के पंडित वर्द्धमान शास्त्री ने इसका अनुवाद हिन्दी में किया है।

सोलहवीं सदी की विशेषता है—कन्नड-भाषा में गेय साहित्य की श्रीवृद्धि होना। वैष्णव भक्तों ने इस दिशा में अच्छी तरह हाथ बटाया। माधुर्यपूर्ण, रसीले गेय पद बना-बनाकर वैष्णव भक्त देश-भर में घूम-घूमकर गाने लगे। देश-भर में भक्ति की भागीरथी बह निकली। भक्ति का प्रचार करने में 'वचन'-साहित्य के समान यह गेय काव्य भी जनप्रिय बना और जानपद साहित्य कहलाने लगा।

इन भक्त कवियों में पुरंदरदास प्रमुख हैं। परम वैष्णव भक्त होने से ये अपने को दास कहते थे। कन्नड (कर्नाटक)-संगीत के आदि आचार्य पुरंदरदास ही हैं। इन दास-कवियों के पद इतने लोकप्रिय हैं कि जनता अपनी ही धुन में इन पदों को सदा-सर्वदा गाती रहती है। इन पदों की रोचकता ऐसी है कि ये पद लोकोक्तियों के समान व्यवहृत होते हैं। इस साहित्य में जीवन-संबंधी कई तत्त्वों की विश्लेषणात्मक आलोचना हुई है और दासगण की उपमान-योजना बड़ी ही उत्तम है।

जब साहित्य की धारा नाना भागों में बह रही थी, दुर्भाग्यवश कर्नाटक-साम्राज्य विजय-नगर का नाश हुआ। अराजकता के कारण साहित्य की प्रगति रुक-सी गई। लंबे अरसे के बाद मैसूर में राजाओं का आश्रय पाकर साहित्य की धारा फिर से बहने लगी। राजा चिक्कदेवराय स्वयं कवि थे। इनके समय में अन्य बहुत-से कवि हुए हैं। इनमें कवयित्री 'होन्नम्मा' का बड़ा नाम है। चिकुपोध्याय कवि ने संस्कृत के 'गीतगोविन्द' का अनुकरण कर 'गीतगोपाल' नामक काव्य की रचना की।

सत्रहवीं सदी में कवि षडक्षरदेव और भट्टाकलंक हुए। कन्नड-व्याकरण की रचना संस्कृत-भाषा में भट्टाकलंक ने की है। यही जमाना था कि गद्य-साहित्य की ओर कन्नड-काव्यधारा मुड़ने लगी। मैसूर के राजा मुम्मडि कृष्णराज ने 'गद्यभारत' की रचना की। संस्कृत के कई नाटक कन्नड में अनूदित हुए। इसका श्रेय 'बसप्प' शास्त्री को है, जो अभिनव कालिदास के नाम से प्रख्यात हैं। इस सदी के और दो प्रसिद्ध कवि हैं। सर्वज्ञ उनमें से एक हैं। कन्नड जनता सर्वज्ञ को जानपद कविसम्राट् कहकर पुकारती है। ये उच्च श्रेणी के आशुकवि थे। उठते-बैठते कविताएँ रचकर लोगों को सुनाते थे। तेलुगु-भाषा में 'वमन' और तमिल में 'अव्वयार' ऐसे ही कवि हुए हैं। सर्वज्ञ की कविताएं लड़ियों में बँधकर काव्य का रूप धारण नहीं करती; बल्कि फुटकर पद कहलाती हैं। ये पद बहुत ही रोचक हैं, सुन्दर सुभाषित के समान इनकी वस्तु है—जीवन

का तत्व और नीति। उपमानों की योजना में कोई कृत्रिमता नहीं। वे सीधे हैं और जनजीवन से मेल खाते हैं। इनकी कविताओं की छाप जनता पर इतनी जोरदार है कि आये दिन लोग वार्त्तालाप में इन उक्तियों का उल्लेख करते हैं। 'मुद्दण' इसी काल के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं। ये तो १९वीं सदी के हैं, तो भी १६वीं और १७वीं सदी के कवि-जैसे रसपूर्ण ललित भाषा में गद्य-काव्य की रचना कर गये हैं। 'रामाश्वमेध' इनका गद्यकाव्य है। बाणभट्ट की कादम्बरी के समान इस गद्यकाव्य का भाषा में प्रवाह है, लोच है और मिठास भी।

अब से कन्नड का आधुनिक काल आरम्भ होता है। आज का साहित्य सर्वतोमुखी होकर विपुल प्रगति पाने लगा है। इसकी विशालता इतनी व्यापक है कि पूरा वर्णन करने के लिए अलग लेख लिखना होगा।

बीसवीं सदी के आरम्भ में कन्नड-साहित्य ने अपनी आवश्यकता के अनुसार नया रूप धारण कर लिया। अब गद्य-साहित्य की धारा अनेक रूपों में विभाजित होकर बहने लगी। पहले-पहल उपन्यास की ओर उसका झुकाव हुआ। बेंकटाचार्य ने बंगला से बंकिमचन्द्र के उपन्यासों का अनुवाद लेकर, इसकी वृद्धि की। 'गलगनाथ' भी मराठी उपन्यासों का अनुवाद करने लगे। पुट्टण्ण, वासुदेवाचार्य आदि लेखकों ने मौलिक उपन्यास लिखे। आगे चलकर कन्नड-उपन्यास-लेखक अनेक हुए। इनमें 'कारंत' और 'अ० न० कृष्णराय' बहुत सफल हुए हैं। कारंत की एक कृति का अँगरेजी-संस्करण छप चुका है, जिसका नाम है 'Black to the Soil'। उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति अब कुछ धीमी पड़ी, तो छोटी-छोटी कहानियों का स्वागत होने लगा। कन्नड-साहित्य में इनकी संख्या बहुत है। इस कहानी-साहित्य के आचार्य हैं 'मास्ती'। मास्ती कहानीसम्राट् की उपाधि से भूषित हैं। इनकी कहानियाँ सरलता के लिए किसी आदर्श की ओर उन्मुख होती हैं। इनकी रोचकता प्रशंसनीय है। कृत्रिमता का नाम नहीं, सीधेपन के साथ आख्यायिका की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इनका अनुकरण कर कई उत्तम कहानी-लेखक हुए हैं। कुछ स्त्रियाँ भी कहानी की निपुण लेखिका हुई हैं। गल्प-साहित्य के अभाव की पूर्त्ति ही 'मास्ती' की अनुपम देन है, कन्नड-वाङ्मय के लिए।

उपन्यास तथा गल्प-साहित्य के साथ-साथ पद्यकाव्य की धारा भी प्रवाहित हो रही थी। नवीन कन्नड का पद्यकाव्य अब प्रगति-पथ पर अग्रसर होने लगा। अनेक कवि अपने स्वतंत्र मार्ग पर आगे बढ़ते हुए मातृभाषा की सेवा करते रहे, यह इस युग की विशेषता है। इस प्रसंग में 'बेंद्रे' तथा 'पुटप्पा' इन दोनों आधुनिक कवियों का नाम लेना उचित है। बेंद्रे की कविता उनके निवास-स्थान की निजी परम्परा से प्रभावित रहती है। जानपद शैली में अपनी प्रतिभा और उन्नत कला के सहारे बेंद्रे ने, अद्भुत साहित्य का निर्माण किया है। ग्रामगीतों की शैली और लावणी छन्द में, बोलचाल की भाषा में ही यह अद्भुत साहित्य-भांडार सजा हुआ है। पुटप्पा की कविता प्रौढ शैली की ओर प्रवृत्त है। मैसूर की परम्परा का विकास इनकी कविता में नहीं हुआ, पर वही परम्परा निखरती हुई प्रगति पा रही है। दोनों कवियों ने अबाध रूप से अपनी-अपनी कला और शैली में विशाल वाङ्मय का सर्जन किया है। इस युग के ललित कवि

(Lyric poet) का नाम है—पु० ति० नरसिंहाचार्य। भावनाओं की कोमलता और संगीत की मिठास के साथ-साथ गेय पदों के परिधान में नरसिंहाचार्य की काव्यकला प्रकट हुई है। ये वड़े लोकप्रिय कवि बने हैं। वेंद्रे आध्यात्मिक कवि हैं, तो पुटप्पा वीर-कवि कहलाते हैं। और भी अनेक आधुनिक कवि हैं। उनकी कला उत्तम काव्यों की रचना कर रही है।

नाटक-रचना भी अपने उत्कर्ष पर है। नाटक-साहित्य नवीन कला की ओर झुका हुआ है। यह श्रेय प्रहसन-पितामह कैलासम् को है। कन्नड-साहित्य में नाटक-रचनाशैली तथा कला में नूतनता लाने और उत्तम प्रहसनों की रचना में कैलासम् की वरावरी और कोई नाटककार नहीं कर सकता। कैलासम् की अनोखी कला को अपनाकर 'पर्वतवाणी', 'क्षीरसागर' और 'कस्तूरी' जैसे उच्च कोटि के नाटककार हुए हैं।

कन्नड-गद्य की उन्नति नाना दिशाओं में हो रही है। कन्नड-वाङ्मय की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए, स्वर्गीय 'श्री' ने जोरदार आन्दोलन चलाया। उसका अमिट प्रभाव अपना काम कर गया। अपने शिष्यवर्ग को 'श्री' ने वड़ी स्फूर्त्ति दी। 'श्री' के अचूक साहस के कारण कन्नड-साहित्य पूर्णतया सम्पन्न वना। अनेक शास्त्र-ग्रन्थ और प्रौढ शैलीवाले उच्च कोटि के गद्य-ग्रन्थ कन्नड-सरस्वती के भाण्डार में आने लगे।

कन्नड-काव्यधारा की गवेषणा के वाद कहा जा सकता है कि यह साहित्य आदिकाल से लोकजीवन के साथ मिल-जुलकर पनपने लगा है। जैसा यह साहित्य जनजीवन के संग मिल गया है, सम्भव है कि अन्य साहित्यों की वैसी दशा न रही हो। लगभग १६वीं सदी से यह वात देखने में आई है कि जानपद कवियों की ही संख्या अधिक है। यही कारण है कि कन्नड-साहित्य में शृंगारी कविताएँ वहुत कम मिलती हैं। जीवन-सम्वन्धी स्थूल तथ्य को पहचान कर अपनी कला के द्वारा उसे सीधे और सरलता के साथ जनता के सामने, हमारे कवियों ने अपनी कृतियों में रखा है। इसमें इन कवियों का आशय यही था कि जनता अपने स्वार्थ को त्याग दे। अज्ञान को मिटाकर दुरभिमान को दूर करे। भोगी जीवन से विरत होकर सांप्रदायिक अन्ध-विश्वास से हट जाय और सन्मार्ग में चलने लग जाय। इसी परम्परा के प्रभाव से, ऐसा विदित होता है कि हमारे कविगण नवयुग की वास्तविकता-रूपी मरीचिका के शिकार नहीं हुए। लेकिन, इक्के-दुक्के लेखक इस मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हैं, तो भी वहुत-से साहित्यिक सार्वत्रिक, सार्वजनीन हित-साधना-हेतु, अपनी-अपनी कला को कन्नड-साहित्य-रंगभूमि पर दिखा रहे हैं।

—सिद्दवन हल्लीकृष्ण शर्मा

◉

मलयाला-साहित्य

आपलोग जानते होंगे कि मैं भारत के उस भू-विभाग से आया हूँ, जिसका नाम केरल है। भारत के सबसे दक्खिन में अरबसमुद्र और पश्चिमी पहाड़ों के बीच गोकर्ण से कुमारिका तक फैला हुआ भू-विभाग ही 'केरल' है। इसका दूसरा नाम भार्गव-क्षेत्र है। कहा जाता है कि भार्गव ने ही हजारों साल पहले इसे समुद्र से ऊपर उठाया था।

प्राकृतिक सुन्दरता में कश्मीर से ही इस भू-विभाग की तुलना की जा सकती है। बड़े-बड़े फलों के बोझ से लदे हुए ऊँचे-ऊँचे नारियल के पेड़, लहलहाते हुए खेत, कलरव करते हुए छोटे पहाड़ी झरने, गिरि-कन्दराएँ आदि प्रकृति माता की देन हैं। यहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता के बारे में यों कहा जा सकता है कि भारत के दक्खिनी और उत्तरी (कश्मीर) भूभाग में प्रकृति माता ने अपनी सारी खूबियाँ बिखेरकर बाहर से आनेवालों की आँखें चकाचौंध कर दी हैं और करती रहती हैं।

ऐश्वर्य में भी यह भू-विभाग और कहीं से पिछड़ा नहीं है। नारियल, काली मिर्च आदि अमूल्य वस्तुओं के अलावा हाल में ही तोरियम आदि प्रधान खनन-पदार्थ भी निकाले जा चुके हैं। यद्यपि चावल के सम्बन्ध में स्वयं सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता, तथापि विदेशों से चावल और अन्य जरूरी चीजें पाने के लिए जिस डालर की जरूरत है, उसे सबसे अधिक कमानेवाला यही भू-विभाग है। भारत का सबसे अधिक सुन्दर और काम का बन्दरगाह भी यहीं है, जिसमें होकर भारत के विदेशी व्यापार का एक बहुत बड़ा हिस्सा चलता रहता है।

धार्मिक बातों में भी हम पीछे नहीं रहे। सारे भारत को अपने अद्वैतवाद के संदेश से प्रकाशित करनेवाले श्रीशंकराचार्यजी ने इसी देश में जन्म लिया था। उनके सिद्धान्त और आदर्श आजकल भी हमारे धार्मिक सिद्धान्तों के आगे चमकते रहते हैं। बुद्धिवाद के आधार पर कहा जाय, तो सारे भारत को आजकल भी हमारा छोटा-सा केरल प्रभावित कर रहा है। आप किसी भी सरकारी या गैर-सरकारी दफ्तर में चले जाइए, वहाँ काम करनेवालों में काफी 'मेनोन' होंगे। संक्षेप में, यों कहा जा सकता है कि केरल के लोग अपनी अक्लमन्दी और होशियारी के कारण सारे भारत में प्रसिद्ध हैं।

केरल की जनता में अधिकांश न शुद्ध द्राविड़ हैं, न शुद्ध आर्य। यहाँ आर्यों और द्राविड़ों का सांस्कृतिक सम्मेलन ही न हुआ, बल्कि रक्त-संबंध भी हुआ। भार्गव राम के जमाने से ही यहाँ के द्राविड़ों और आर्यों में सांस्कृतिक और वैवाहिक सम्बन्ध हो रहा था। इसी तरह यहाँ की भाषा पर भी आर्यभाषा संस्कृत का प्रभाव पड़ गया, तो भी आदि द्राविड़ भाषा से ही उसकी उत्पत्ति हुई है। यह तमिल, तेलुगु, कनरीस आदि द्राविड़ भाषाओं की बहन है।

इसका साहित्य बहुत पुराना है। करीब डेढ़ हजार साल पुराना साहित्य उपलब्ध है। इसका रूप मंदिरों में पूजा-पाठ आदि दैवी कामों में आनेवाले गीतों में मिलता है। इसके पूर्व के साहित्य के बारे में हम कुछ नहीं जानते।

पुराने साहित्य की खोज करने पर देखा गया है कि केरल-साहित्यधारा दो शाखाओं में बही है—एक तो संस्कृत से प्रभावित और दूसरी शुद्ध द्राविड़ी शैली। पहली शैली में संस्कृत का प्रभाव खूब देखा जा सकता है; दूसरी में ठेठ द्राविड़ी भाषा का रूप। पहली शाखा को, जिसमें विभक्त्यन्त संस्कृत-शब्द और केरल-भाषा-शब्द मिलाकर प्रयुक्त होते थे, साहित्यशास्त्रज्ञ 'मणिप्रवाल' कहते हैं। इस साहित्य में उतनी नैसर्गिक सुन्दरता रहती है, जितनी मणि और प्रवाल के सम्मिलन में। संस्कृत और केरल-भाषा के शब्दों का सम्मिलन इतना सुन्दर हुआ है, जिससे यह नाम पड़ गया।

दूसरी शाखा को 'पाट्टु' (गीत) कहते हैं। इसमें ठेठ द्राविड़ भाषा के शब्द ही मिलते हैं। यदि संस्कृत-शब्दों का प्रयोग इधर-उधर हुआ है, तो उन्हें द्राविड़ी बनाकर प्रयुक्त किया गया है। इसके भी दो रूप हैं। एक तो वे ग्रामीण गीत हैं, जो शादी आदि अवसरों में गाये जाते थे और दूसरा वीराराधना के गीत। मलयाला-साहित्य की वीरगाथा और हिन्दी-साहित्य की वीरगाथा में एक बहुत बड़ा फर्क है। हिन्दी में वीरगाथा के कवि किसी राजा के आश्रय में रहते थे और आश्रयदाता की प्रशंसा में ही गीत गाते थे। मलयालम में ऐसा नहीं हुआ है। मलयालम में पहले-पहल वीरगाथा-गीत ग्रामीण गीतों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

गीत-साहित्य का पहला प्रकाशित ग्रन्थ है—'रामचरित'। श्रीराम कवि—ट्रावनकोर के रामवर्मा राजा ही इसके रचयिता हैं। वे करीब आठ सौ साल पहले जीवित थे। प्रबन्ध-रूप में सैनिकों के गाने के लिए वाल्मीकीय रामायण के युद्धकांड के आधार पर ही यह रचा गया है। इसके एक सौ साल बाद माधव कवि ने भगवद्गीता का अनुवाद किया। यह गीता का भारतीय देश-भाषाओं में पहला या दूसरा अनुवाद है। उसी जमाने में इसके भतीजे राम पणिक्कर ने रामायण, भारत और भागवत का अनुवाद किया। करीब इन्हीं के जमाने में एक 'कृष्णभक्त कवि रहते थे, जिनका नाम है—चेसुशेरी नम्बूतिरी। उनकी कृति का नाम है—'कृष्णगाथा'। जैसा नाम से ही विदित होता है, इसमें भागवत के दशम स्कंध की कथा स्वतन्त्र रूप से कही गई है।

अबतक जिनका जिक्र किया गया, वे गीत-साहित्य के हैं। आगे मणिप्रवाल-शाखा की कृतियाँ हैं। वे अधिकतर संस्कृत के अधार पर ही रची गई हैं। इस शाखा में संस्कृत के सभी साहित्यिक रूप या तो अनुवाद के रूप में या मौलिक अनुकरण के रूप में मलयालम में आये हैं। सन्देशकाव्य, चम्पू, खण्डकाव्य, नाटक, गद्यकाव्य, लक्षणग्रन्थ आदि सब मिले हैं।

इन दोनों शाखाओं का सम्मिश्रण करनेवाले हैं—भक्त कवि 'तुञ्चत रामानुजाचार्य'। केरल के लोग बड़ी भक्ति से इनका आदर करते हैं—जैसे उत्तर भारत के लोग तुलसी, सूर, कबीर आदि भक्त-कवियों का या तमिल लोग 'कम्बर' का। इन्होंने रामायण, भारत, भागवत आदि

कई ग्रन्थ लिखे। तुलसीदास के रामचरितमानस को उत्तर भारत में जितना प्रचार मिल गया है, उतना प्रचार इनकी रामायण को केरल में मिल गया। तुलसीदास और रामानुजाचार्य दोनों समकालीन कहे जा सकते हैं। दोनों पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के धार्मिक उत्थान के प्रतिनिधि कवि हैं।

'कथकलि', जो आजकल लोकप्रसिद्ध हो गई है, और कलालोक के लिए एक बहुत बड़ी देन है, केरल में ही पैदा हुई थी। यह कला बहुत पुराने जमाने से ही केरल में प्रचलित है, पर उसमें जिक्र करने लायक कोई साहित्य न था। इसकी पहली साहित्यिक कृति के रचयिता 'कोट्टारक्करा राजा' हैं। ये श्रीरामानुजाचार्य के बाद जीवित थे।

इनके बाद एक-एक करके, एक-एक जमाने में कोट्टयम राजा, उरणायी वारियर, इरयिम्मन तम्पी, अश्वति तिरुनाल महाराजा आदि कई कवियों ने कथकलि-साहित्य की इस शाखा की श्रीवृद्धि की है। इनमें उरणायी वारियर और इरयिम्मन तम्पी की कृतियों में साहित्य, संगीत और अभिनय, तीनों सम्मिलित हैं।

केरल के सबसे बड़े हास्य-साहित्यकार हैं—कुञ्चन नम्बियार। ये दुनिया के किसी भी हास्य-साहित्यकार से पीछे नहीं हैं। ये तीन सौ साल पहले जीवित थे। 'तुल्लल' प्रस्थान-पद्धति के जन्मदाता ये ही हैं। महाकवि और अभिनयकुशल कुञ्चन नम्बियार की कृतियाँ सिर्फ पढ़े-लिखे लोगों को ही नहीं, अपितु आम जनता को मुग्ध कर देनेवाली हैं। ये यथार्थ में जनता के कवि हैं। इनका अनुकरण करनेवाले कई कवि हुए हैं। गान गाकर नाच दिखलानेवाली 'तुल्लल' नामक एक नृत्यकला आज भी केरल में प्रचलित है।

अँगरेजी-शिक्षा के प्रचार से जैसे सारी भारतीय देश-भाषाओं में एक नवोत्थान हो गया है, उसी प्रकार मलयाला-साहित्य भी नये-नये भावों और कलाशैलियों से अलंकृत हो गया है। इसकी प्रारम्भिक दशा में कोडुङ्ङल्लूर कुञ्ञुकुट्टन तम्पुरान, के० सी० केशव पिल्लै, वेण्मणी नुम्पूतिरी आदी कई महाकवि हुए हैं। तो भी केरलवर्मा और ए० आर० राजराजवर्मा ने इस नवोत्थान का मार्ग सुगम और साफ बनाया। इनमें केरलवर्मा को केरल-कालिदास और राजराजवर्मा को केरल-पाणिनि कहते हैं। इन मामा-भानजों ने ही मलयाला-भाषा के विकास की नींव डाली है। केरलवर्मा ने अधिकतर काव्य रचे हैं। राजराजवर्मा ने अधिकांश आधुनिक रीति के लक्षण-ग्रन्थ रचे हैं।

इनके बाद मलयाला-साहित्य में तीन महाकवि हुए—महाकवि कुमारन आशान, उल्लूर और वल्लत्तोल। ये तीनों, वर्माओं के बाद मलयाला-साहित्य में आधुनिक नवोत्थान का प्रतिनिधित्व करनेवाले त्रिमूर्त्ति हैं। कुमारन आशान ने हिन्दू-समाज के रूढिगत अन्ध-विश्वासों के खिलाफ अपनी कलम चलाई है। 'करुणा', 'चण्डाल-भिक्षुकी', 'नलिनी' आदि इनके प्रसिद्ध खण्डकाव्य है। उल्लूर हिन्दू-संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। ये संस्कृत के बड़े पण्डित हैं। 'उमाकेरलम्' नाम के महाकाव्य से ये मशहूर हुए हैं। 'पिङ्गल' आदि खण्डकाव्य भी लिखे हैं। महाकवि वल्लत्तोल, जो हाल ही में 'अस्थान महाकवि' उपाधि से विभूषित हो गये हैं, केरल के राजनीतिक उत्थान के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके देशभक्ति के गीत, केरल के कोने-कोने में पहुंच गये हैं। उन्होंने 'चित्रयोगम्' नामक महाकाव्य लिखा है। 'कोच्चुसीता', 'मगदलन मरियम', 'अनिरुद्धन' आदि कई खण्डकाव्य भी लिखे हैं।

उनकी फुटकर कविताओं का संग्रह 'साहित्यमञ्जरी' नाम से आठ भागों में प्रकाशित हुआ है । इन तीनों में पहले दोनों कवि अब जीवित नहीं हैं । वल्लत्तोल अब भी साहित्यिक रचनाएँ कर रहे हैं और उनसे अब भी हमें बहुत बड़ी आशा है ।

आधुनिक जमाने में अँगरेजी-साहित्य की सभी नई-नई पद्धतियाँ मलयालम में आई हैं । इस ओर काम करनेवालों में श्रीशंकर कुरुप और चङ्म्पुषा कृष्ण पिल्लै के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । छायावाद, रहस्यवाद, दुःखवाद आदि सभी भावात्मक शैलियों का खूब प्रचार हुआ है । श्री जी० शंकर कुरुप ने उमरखय्याम की 'रुबाइयात' का अनुवाद किया है । इसके अलावा छायावाद और रहस्यवाद की कई कविताएँ लिखी हैं । इनके प्रभाव से साहित्य की यह शाखा खूब फूली-फली है । चङ्म्पुषा ने रूढिगत आचार-विचारों का खण्डन किया है । उनके प्रेम के गीतों की शब्द-माधुरी अद्भुत है । उनके 'रमणन' नामक खण्डकाव्य के पचीसों संस्करण निकल चुके हैं । खेद की बात है कि ये जवानी में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करके हमसे विदा ले चुके हैं । युवक-समाज पर इनका बड़ा प्रभाव है । मलयालम में मुक्तक छन्दों के निर्माता भी ये ही हैं । दुःखवाद भी इन्हीं की देन है । इनके अलावा बालामणि अम्मा वैलोप्पिल्ली, वेण्णिकुलम्, अक्कित्तम्, ओलप्पमण्ण, एन० वि० कृष्ण वारियर आदि कई नौजवान कवि आजकल हमारे साहित्य की सेवा कर रहे हैं ।

गद्य-साहित्य के बारे में भी कुछ कहे बिना इसे समाप्त करना अनुचित होगा । हमारी भाषा में बहुत पुराने जमाने का—करीब एक हजार वर्ष पहले का—गद्य-साहित्य उपलब्ध है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र का गद्य में अनुवाद और रामायण, महाभारत, भागवत आदि का गद्य-विवर्त्तन भी हुआ था । वैद्यक, ज्यौतिष आदि के गद्य-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं ।

पर, नवीन शैली के गद्य का विकास अँगरेजी के जमाने से ही हुआ है । जिन परिस्थितियों में हिन्दी-गद्य का विकास हुआ है, उन्हीं परिस्थितियों में मलयाला-गद्य का भी विकास हुआ है । इसका श्रीगणेश भी केरलवर्मा के दिनों में ही हुआ । उन्होंने अँगरेजी से 'अकबर' नामक एक उपन्यास का अनुवाद किया और कई अन्य लेख लिखे । उनके अनुयायियों में सि० वि० रामन पिल्लै, चन्दु मेनोन, अप्पन तम्पुरान आदि उपन्यास-लेखक हुए हैं । श्री सि० वि० रमन ने ऐतिहासिक उपन्यास और चन्दु मेनोन ने सामाजिक उपन्यास लिखे हैं । अप्पन तम्पुरान ने ऐतिहासिक, सामाजिक और जासूसी उपन्यास लिखे हैं । इसके बाद साहित्य-क्षेत्र में उपन्यासों का एक प्रवाह ही आ गया । अब सैकड़ों उपन्यास निकले हैं । हाल ही में गल्पों का ज्यादा प्रचार होने लगा है । तकषी, केशवदेव और पोट्टेकाट ही कहानीकारों में अग्रगण्य हैं । तकषी की एक कहानी अनूदित हो गई है और उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'रण्टिटङ्षी' का भी अनुवाद हो चुका है । इसके अनुकरण में हजारों कहानियाँ निकली हैं और निकल रही हैं । कहानियों की अखिलभारतीय प्रतियोगिता में मलयाला-कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला है । यह हमारे लिए बड़े गौरव की बात है । एकाङ्की, जीवनचरित्र, निबन्ध, समालोचना, हास्य-साहित्य, बाल-साहित्य वैज्ञानिक निबन्ध आदि के जिक्र करने का समय नहीं । आखिर इतना ही कहकर समाप्त करते हैं कि हमारे साहित्य की कृतियाँ भारत के ही नहीं, बल्कि विश्व के साहित्य की उच्च श्रेणी के भी समान मानी जा सकती हैं ।

◉ —श्री पी० वी० कृष्णन् नायर

गुजराती-साहित्य

यों तो गुजराती भाषा का क्षेत्र वर्तमान इतर प्रांतों की भाषाओं के क्षेत्रों की अपेक्षा अल्प-सा है। गुजराती की भगिनी बोली मारवाड़ी का क्षेत्र अधिकतर विस्तृत है। मेवाड़ी, मालवी एवं जयपुरी भी विस्तृत हैं ही। परन्तु, साहित्य-समृद्धि की दृष्टि से देखा जाय, तो ये सब भगिनी बोलियाँ केवल बोलियाँ ही रही हैं, उलट पक्ष गुजराती आज बोली नहीं है, विस्तृत प्रौढ सर्जनवाली भाषा बन चुकी है। अंतिम आठ शताब्दी से वह अपने विविध गद्य-पद्यात्मक साहित्यिक सर्जनों से समृद्धि पाकर नवीन युग में भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकी है।

बारहवीं शताब्दी में यों तो गुजरात की भूमि पर अपभ्रंश-भाषा का प्रभुत्व था। गुजरात के कलिकालसर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरिजी ने अपने समृद्ध 'सिद्धहैम' व्याकरण के अन्तिम भाग में सारा आठवाँ अध्याय प्राकृत भाषाओं के व्याकरण से भर दिया है। उस आठवें अध्याय के अन्त-भाग में अपभ्रंश का स्वरूप देने का प्रशस्त प्रयत्न जो हुआ, उससे तत्कालीन गुजरात की देश-भाषा के स्वरूप का निश्चय करना सरल हो जाता है। यहाँ इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय गुजरात की सीमा इतनी परिमित नहीं थी; न केवल आज का गुजरात ही गुजरात था, प्रत्युत आबू से जयपुर तक का सारा प्रदेश भी गुजरात की विशाल सीमा में समाविष्ट होता था। ग्यारहवीं शताब्दी के अरब-मुसाफिर अलबेरूनी ने जिस गुजरात—उसके उच्चारण से 'गुज्रात'—का वर्णन किया है, वह तो आबू और जयपुर का मध्यवर्ती प्रदेश ही था, जहाँ गोपालन के व्यवसाय पर आजीविका करती हुई गुजर-प्रजा बस रही थी; न केवल बस रही थी, उनमें से कितने के कुल राजत्व पा चुके थे, और प्रतिहार, परमार, चौहाण, चावड़ा, सौलंकी आदि राजवंश भी आगे जाकर मारवाड़, मालवा, मेरवाड़ा एवं गुजरात के शासक बन चुके थे। इस विस्तृत प्रदेश में मौखिक लोक-साहित्य का अच्छा विकास हुआ था। आचार्य 'हेमचन्द्र' ने अपभ्रंश-स्वरूप का परिचय दिया है। इसमें लोक-साहित्य के वैसे बहुत-से पद्यों की भरमार कर दी है। आचार्य श्री के समय में अपने देश की व्यापक भाषा का यों अच्छा परिचय मिल जाता है। उस प्राकृत-व्याकरण का अधिकतर भाग 'जैन महाराष्ट्री' प्राकृत से भरा है। बेशक उन्होंने नाम 'प्राकृत' ही रखा है, उसी तरह चतुर्थ पाद के अन्तिम सूत्रों में 'गौर्जर' अपभ्रंश भर दिया है—बेशक उन्होंने नाम अपभ्रंश ही रखा है। गतानुगतिक न्याय से ऐसा स्वीकृत-सा हो चुका है कि आचार्य हेमचन्द्र ने जो अपभ्रंश दिया है, वह है 'नागर'। मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' नामक प्राकृत भाषाओं के व्याकरण में प्रधान अपभ्रंश को 'नागर' कहा और उसको वहाँ शौरसेनी-प्राकृतोपजीव्य बतलाया। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश के स्वरूप को देते हुए आखिर में 'शौरसेनीवत्' कहा। उस साम्य से आचार्य हेमचन्द्र के अपभ्रंश को 'नागर' कहना प्रामाणिक नहीं हो सकता। टाक्क, नागर, गौर्जर, आभीर, आवंत्य, ये पाँच अपभ्रंश निकटतर थे—उनके बहुत-से अंश आचार्य हेमचन्द्र के अपभ्रंश में सुरक्षित हैं ही। वैसा मिश्रण ही उस अपभ्रंश की विशालता का

द्योतक है, जो भ्रमणशील गुजर-प्रजा की व्यवहार के वोली के सभी अंशों को समाविष्ट कर गया था ।

आचार्य हेमचन्द्र के वाद मारवाड़ एवं गुजरात की भूमि में साहित्योपासकों ने सर्जन की अविच्छिन्न धाराएँ बहाईं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग में गुजराती भाषा के आदिकवि भक्तप्रवर नरसिंह महता ने ऊर्मिमय रसभर पदसाहित्य का आविष्कार किया । यहाँतक भी जैन विरक्त साधुओं ने सैकड़ों की संख्या में धार्मिक कथाओं से भरे हुए रासों की एवं लालित्य से भरे हुए फागुओं की रचना कर दी थी । कतिपय साधुओं ने गद्यलेखन भी शुरू कर दिया था । अनुवाद एवं टीका-टिप्पणी के रूप में वालाववोधी की रचना सर्वसामान्य थी । इनमें कोई विशेष आश्चर्योत्पादकता नहीं थी; परन्तु इनमें उदाहृत किये हुए कथानकों से पता चल जाता है कि छोटी-छोटी कहानियाँ गुजरात में जो प्रचलित थीं, वे भी इसी तरह वालाववोधों में ग्रंथस्थ हो जाती थीं । तरुणप्रभ का वालाववोध वि० सं० १४११ (ई० सन् १३५५) का है ।

परन्तु आश्चर्यकारक कृति तो गद्यशैली की प्रासानुप्रास-रचनावली 'पृथ्वीचन्द्रचरित' है, जो सं० १४७८ (ई० सन् १४२२) से पूर्व लिखा गया था । यह एक राजकुमार का चरित देता हुआ गद्य-उपन्यास है । इस शैली का विकास आगे एक-दो कृतियों से अतिरिक्त नहीं हुआ, यह भी इसकी विशेषता का द्योतक है ।

नरसिंह महता से पूर्व में जैन कवियों की साहित्योपासना गरण्य है ही । नरसिंह महता के पीछे के जैन कवियों ने साहित्योपासना का वेग जरा भी कम नहीं किया था । उन्नीसवीं शताब्दी तक वह चालू था । परन्तु, नरसिंह महता से लेकर जैनेतर साहित्यकारों ने नया ही प्रस्थान किया, वह लोकभोग्य अधिकतर होने के कारण आम जनता में फैल गया—धार्मिक प्रजा ने उनका सत्कार भी विपुल प्रमाण में किया और हम देखते हैं कि आदिभक्तियुग में नरसिंह, भीम भालण, मीराँ, केशवराम आदि भक्तकवियों ने भक्ति-साहित्य का वीज वोया । आख्यान-साहित्य का विकास भी इस युग में शुरू हुआ और कर्मण, मांडण, वीरसिंह, जावड आदि की जैन रासों की पद्धति से अतिरिक्त कड़वावद्ध आख्यानशैली का आरम्भ भालण के हस्त से हुआ, जिसका विकास वड़ौदा के वैश्यकवि 'नाकर' ने महाभारत के बहुत-से पर्वों को आख्यान के रूप में देकर किया ।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि परम भागवताचार्य श्रीवल्लभाचार्यजी के शिष्य सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास एवं कृष्णदास और उनके पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी के शिष्य नन्ददास, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास एवं छीतस्वामी इन अष्टछाप कवियों ने जिस कविता-धारा को वहाकर व्रजभाषा को साहित्यक्षम भाषा में परिणत करके हिन्दी-साहित्य को श्रेष्ठतम साहित्य होने की मुद्रा लगाई—इनसे पूर्व में गुजरात में भक्त नरसिंह ने साहित्य की विपुलतर रचना की । नरसिंह के सामने जयदेव का गीतगोविन्द एवं भागवत तो था ही; क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों का अनुसरण नरसिंह में मिलता ही है । परन्तु, पदों की रचना का प्रकार गुजरात में नया-सा था । इसके पूर्व अवश्य रास-काव्यों के वन्धों में धवलादिक आते थे, परन्तु व्यापकता नहीं थी । विहार के विद्यापति का नरसिंह से कोई सम्वन्ध नहीं है । नरसिंह ने कवीर

का नाम अपने पदों में उल्लिखित किया है, इससे इतना स्पष्ट है कि कबीर की कविता नरसिंह ने सुनी थी। परन्तु, नरसिंह ने जिस प्रवाह से पदों की धारा बहाई, वह तो अपूर्व-सी लगती है। हाँ, कुछ-न-कुछ अनुसरण मराठी संतों की वानी का नरसिंह में मुझे मालूम हुआ है। यह तो स्पष्ट ही है कि गुजरात के बड़ोच के एक 'चक्रधर' नामक संत ने अपने गुरु 'गुंडोवा' की छत्रच्छाया में महानुभाव-पंथ का विकास महाराष्ट्र-संयुक्त प्रांतों में किया था। उस संप्रदाय के अनेक कवियों ने पुरानी मराठी-भाषा में पद-साहित्य की विपुल रचना कृष्णलीला को विषय बनाकर की। उनके बाद पंढरपुर में वारकरी संतों के नेता ज्ञानदेव एवं उनके शिष्य नामदेव ने भी पदसाहित्य का विकास किया। ज्ञानदेव ने अभंगों की विपुल प्रमाण में रचना की, परन्तु नामदेव ने तो पदों को न केवल मराठी में, प्रत्युत पंजाबी और हिन्दी में भी रचा। नामदेव के बहुत-से पद सिक्खों के ग्रन्थ-साहब में सुरक्षित हैं, जहाँ कबीर, जयदेव, रविदास, धनाभक्त, शेख फरीद आदि के पद भी नानक के हजारों पदों के साथ-साथ सुरक्षित हो गये हैं। भारत में इसी तरह पद-रचना व्यापक हुई। नरसिंह ने देशी रचना में पद-प्रकार अपनाया और अधिकतर नामदेवादिक के अभंगों के सहारे अपने प्रिय छंद 'झूलणा' में सुन्दरतम रचना की। भक्ति एवं वेदांत के पदों की भी रचना नरसिंह में ही प्रथम स्वतंत्र रूप में मिलती है। वेदांत-मत को स्पष्ट रूप देने का नरसिंह का प्रयत्न अवश्य प्रशंसनीय है। नरसिंह को अविकृत परिणामवाद पर प्रेम था—श्रीवल्लभ से पूर्व समय में ही। इस वेदांत-मत का मूल कर्णाट में हुए विष्णुस्वामी के विचारों में था, जिसे विष्णुस्वामी का कहकर भागवतटीकाकार श्रीधर ने थोड़े श्लोक भागवत-टीका में जो उद्धृत किये हैं, ऐसा उनसे ज्ञात होता है।

इस प्रकार, श्रीवल्लभ के वेदांत-मत का एवं अष्टछाप व्रजभाषा के हिन्दी-कवियों की भक्तिमय पद-प्रणाली का नरसिंह पुरस्कारक है, यह गुजरात के लिए परम भाग्य की बात है।

नरसिंह के बाद मीराँ एवं भालण पर तो व्रजभाषा का असर प्रमाणित हो सकता है। भालण ने भागवत दशमस्कंध की रचना छोटे-छोटे पदों में शुरू की थी और बीच-बीच में पाँच-छह व्रजभाषा के पदों की भी रचना उसने दाखिल कर दी थी, जिसपर सूरदासादिक की छाया प्रतीत होती है। दशमस्कंध में आगे बढ़ते हुए 'भालण' ने फिर तो कड़वाबद्ध आख्यान-शैली को ज्यादातर स्वीकार किया था। भालण के पीछे गुजराती भाषा में पदों की रचना सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में ज्ञानमार्गीय कवि गोपाल और अखा ने अहमदाबाद में रहकर की, जिस समय मुख्य रचना तो इतर कवियों ने आख्यानों की ही की थी।

आख्यान-युग का अंतिम कवि हुआ सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, प्रेमानन्द। आख्यानों को कमनीयता देने का कार्य प्रेमानंद के हाथ से हुआ। नरसिंह के बाद मीराँबाई और भालण गुजरात के मान्य कवि माने गये हैं, जिनके बाद अखा-जैसा ज्ञानी भक्त स्थान पा सकता है। परन्तु, प्रेमानंद की प्रतिभा इतनी प्रबल थी कि नरसिंह महता के बाद प्रेमानन्द ही श्रेष्ठता का मान ले जाता है।

प्रेमानन्द के समय में आख्यान-कविता परा उन्नति पर पहुंची और वहाँ ही वह नाम-शेष हो गई। यहाँ से उत्तर भक्तिकाल का प्रारम्भ हुआ। राजे नामक एक मुस्लिम कृष्णभक्त

पद-साहित्य को समृद्ध करता है—वह इस युग के आरंभ में। रणछोड़, रघुनाथ आदिक भक्तों की भक्तिमय रचना एवं प्रीतम, धीरो, भोजो, नरभी, प्रागो आदिक ज्ञानमार्गीय कवियों की ज्ञानमय रचना इस युग की विशिष्टता वन रही है।

अंतिम भक्तियुग के अंत-भाग में, अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्व में, एक ओर वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का अनुयायी दयाराम और दूसरी ओर स्वामिनारायण-संप्रदाय के मुक्तानंद, ब्रह्मानंद, प्रेमानंद, प्रेमसखी-जैसे सवल कवियों ने भक्ति-साहित्य को भर दिया। इनमें दयाराम की प्रतिभा इतनी प्रवल थी—खास करके गरवी-साहित्य की विपुलतर रचनाओं के कारण, समस्त गुजराती कवियों में प्रेमानन्द के वाद दयाराम का ही स्थान आ जाता है। दयाराम ने गुजराती के अतिरिक्त हिन्दी की अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी कविता की है। अपने चौदहवें वर्ष में वह भारत के प्रवास में निकल गया था और २४-२५वें वर्ष में वह गुजरात में वापस आया। इतने वर्षों में उसने अन्य प्रांतों के साहित्य का भी परिचय प्रात कर लिया। वल्लभी वैष्णव होने के कारण अष्टछाप महानुभावी कवियों की प्रसादी तो वह पा चुका था ही, इसमें देशाटन का लाभ मिल गया और उसकी प्रतिभा वहुत वृद्धिगत हुई, जिनमें से कृष्णलीला से भरी हुई हजारों गरवियों की रचना हो गई।

दयाराम के साथ ही पूर्वयुग पूर्ण होता है और अभिनव युग शुरू होता है। आंग्ल शिक्षा-दीक्षा के आरंभ के साथ भारत का समग्र ढंग ही वदल गया; साहित्य का प्रवाह भिन्नमार्गीय वन गया, यहाँतक कि पूर्वकाल में पद्यवंध ही भाषा का वाहन था—गद्य में टीका-टिप्पणी-अनुवादादिक से इतर रचना होती ही नहीं थी, 'पृथ्वीचंदचरित' जैसे कोई-कोई ही अपवाद थे; अव गद्य ही प्रधान वाहन वनने लगा। नये युग के दलपतराम, नर्मदाशंकर-जैसे कविवर होने पर भी खुद उन दोनों कवियों ने भी गद्य में अनेक निवंधों की रचना की। कविता का विषय भी अव वदल गया। धार्मिक कथानकों का स्थान सामाजिक समस्याओं ने ले लिया। उपन्यासादि की रचनाएँ होने लगीं। नन्दशंकर-तुलजाशंकर ने 'करणघेलो' एवं महीपतराम-रूपराम ने 'वनराज चावडो' लिखकर इस मार्ग को आगे वढ़ाया।

यों तो गल्प-साहित्य का विकास वहुत प्राचीन काल से गुजरात में चालू था। जैन साधुओं ने एवं जैनेतर साहित्यिकों ने लोक-कथाओं को प्रवाहित किया था। खास करके वीर विक्रम को मध्य में रखकर वहुत-सी कथाएँ रची गई थीं और प्रेमानन्द का उत्तरकालीन अहमदावादवासी शामल अट्ठारहवीं शताब्दी में 'सिंहासन वत्रीशी', 'सूड़ा वहत्तरी' आदिक कथाओं की रचना से गुजराती-साहित्य के गल्प-विभाग को भर देता है। गुजराती-साहित्य में गल्प-साहित्य का जो विकास हुआ, वह तो नया ही प्रकार है, और यूरोपीय शिक्षा का फल है। नारायण हेमचन्द्र ने इस विषय में काफी यत्न किया और छोटे-मोटे वहुत उपन्यास लिखकर इस शाखा को विकसित किया। खास विशिष्ट प्रयास जो हुआ, वह तो स्व० श्रीगोवर्धन-राम त्रिपाठी का। उन्होंने वड़े-वड़े चार ग्रंथों में 'सरस्वतीचंद्र' जैसा अनेक सामाजिक समस्याओं से भरा हुआ असामान्य उपन्यास लिखा है। उनकी अनेकदेशीय विद्वत्ता एवं लोकमानस के अभ्यास का वह वड़ा भारी फल है। यह प्रवाह आजतक अविच्छिन्न

बहता रहा है। ठक्कुर नारायण विसनजी के ऐतिहासिक एवं सामाजिक उपन्यास गुजराती अभिनव-साहित्य की उस शाखा को सजीव बनाते रहे। इसी युग में मुन्शी कनैयालालजी ने लेखन शुरू किया—'घनश्याम' के उपनाम से 'पाटणनी प्रभुता' उन्होंने लिखी। 'स्वप्नद्रष्टा' जैसे सामाजिक उपन्यास में जो स्वप्न का उन्होंने जिक्र कर स्वशासित प्रजा का आदर्श मूर्त किया था, वह आज प्रत्यक्ष हो रहा है। उन्होंने उसके बाद ऐतिहासिक एवं सामाजिक उपन्यासों से गुजराती-साहित्य को जो समृद्धि दी है, वह इतर भाषाओं के वैसे प्रयत्नों में गौरवान्वित स्थान प्राप्त कर चुकी है। एक महान् राजकीय पुरुष साहित्यिक क्षेत्र में असामान्य स्थान प्राप्त करके बैठा है, वह न केवल गुजरात का, समग्र भारत का भी असामान्य गौरव है।

श्रीचुन्नीलाल वर्धमान शाह, श्रीधूमकेतु, श्रीरमणलाल व० देसाई, श्रीपन्नालाल पटेल-जैसे प्रौढ उपन्यासकारों ने गुजराती-साहित्य में गौरवान्वित स्थान प्राप्त करने योग्य उपन्यास लिखकर अर्पण किये हैं।

छोटी-छोटी कहानियों का वैशिष्ट्य गुजराती-भाषा में आज ध्यान खींच रहा है। श्रीधूमकेतु ने शुरू-शुरू में छोटी कहानियाँ—नवलिकाएँ लिखने का आरंभ किया और प्रभुत्वपूर्ण कहानियाँ 'तणखा मंडली' में प्रसिद्ध कीं। आज बड़े जोर से गुजराती लेखकों के हाथ से सामयिकों में एवं ग्रंथस्वरूप-संग्रहों में छोटी कहानियाँ निरंतर आती रही हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति-रूप नहीं होगा कि यूरोपीय साहित्य के ये दोनों साहित्यिक स्वरूप (forms of literature) गुजराती भाषा में अच्छा स्थान पा सके हैं। गुजरात ने एक विशिष्टता दी, वह है—हास्यरस के साहित्य की। शुरू में कविवर दलपतराम ने 'मिथ्याभिमान' नाटक लिखा। उनके बाद वह प्रवाह आगे बढ़ता रहा। नवलराम ने भी 'भटनुं भोपालुं' लिखा। परंतु, स्व० रमणभाई नीलकंठ ने 'भद्रं-भद्र' लिखकर पराकाष्ठा बतलाई। आज भी ज्योतीन्द्र दवे एवं धनमुखलाल जैसे हास्यरस के मौलिक लेखकों के हाथ से यह साहित्य विकास पा रहा है।

आश्चर्य का विषय है कि नट तो गुजरात के ही अग्रस्थान में हैं। गुजराती रंगभूमि पर नटों ने नवीन शैली के नाटकों को मूर्त किया—यहाँ से ही महाराष्ट्र ने नटशिक्षा प्राप्त की। गुजरात के लेखकों ने नाटक लिखने का आरंभ नये युग के आरंभ में कर दिया था। दलपतराम एवं नर्मदाशंकर ने नाटक लिखे थे; नवलराम ने भी नाटक-रचना की थी। परंतु, रंगभूमि के अनुकूल नाटक-रचना तो स्व० रणछोड़भाई उदयराम ने की। ब्रह्मनिष्ठ प्रो० मणिलाल नभुभाई द्विवेदी ने भी महत्त्वपूर्ण नाटकों की रचना की है और आज भी मुन्शी कनैयालाल जी देते रहे हैं। मुद्रित नाटकों की संख्या इतनी बड़ी अवश्य नहीं है, परंतु गुजराती-नाटकों के कॉपी राइट का प्रश्न इतना जटिल बन रहा था कि नाटक कंपनियोंवाले अपने लेखकों के नाटक छपवाते ही नहीं थे। सैकड़ों की संख्या में नाटकों की रचना हुई। वे सब रंगभूमि पर मूर्त भी होते रहे और बहुत-से नये एवं पुराने नाटक आज भी गुजराती-रंगभूमि पर मूर्त होते हैं, वे सब ऑपेरा के स्वरूप में ही रक्षित हैं।

परंतु, इससे जो स्वतंत्र नया आविष्कार हुआ, वह तो है—एकांकी नाटकों का। उपन्यास एवं नवलिकाओं की तरह यह आविष्कार भी यूरोपीय अनुकरण में हुआ है; किन्तु आज गुजराती साहित्य में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ समादृत हो चुकी हैं। श्रीउमाशंकर जोशी जैसे सिद्धहस्त लेखकों ने अपने संग्रह प्रसिद्ध भी किये हैं। प्रो० पुष्कर चंदरवाकर इस दिशा में आज गएय काम कर रहे हैं। वैसे छोटे-छोटे नाटक आज अवेतन रंगभूमि पर बालक-बालिकाएँ एवं युवक-युवतियाँ बड़े जोर से दे रहे हैं।

कविता देवी ने तो गुजरात पर शुरू से अमृतवर्षा चालू रखी है। नये युग के आविष्कार के साथ ही नये प्रकार की कविता होने लगी थी। दलपतराम एवं नर्मदाशंकर की पुराने-नये ढाँचे पर रचनाएँ हुई थीं। धर्म के स्थान पर समाज एवं प्रकृति का प्रवेश हुआ। वहाँतक केवल देशियों में खास करके रचनाएँ होती थीं, वृत्तबद्ध एवं जातिबद्ध रचनाएँ स्वल्प ही थीं। नये युग के साथ जोर-शोर से वृत्तबद्ध एवं जातिबद्ध कविता होने लगी। प्रो० नरसिंहराव दिवेटिया ने तो यूरोपीय कवियों के प्राकृतिक विषयों को पसंद किया और छंदोबद्ध कविताएँ बहाई। हाँ, देशी बंधों में कितनेक गेय पदों की रचना अवश्य की। उसी समय फारसी कविता की पद्धति भी अपनाई गई और मस्तकवि बाल, मणिलाल नभुभाई द्विवेदी, देरासरी, अमृत नायक, कलापी आदि कवियों ने फारसी ढाँचे पर गजलों का निर्माण किया। बेशक उसकी व्यापकता तो नहीं हो सकी। संस्कृत-पद्धतियों के कवियों में मणिशंकर भट्ट 'कांत' एवं 'बोढ़ादकर' का स्थान बहुत मानपूर्ण है।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में गुजरात एक असामान्य कोटि के कविवर की प्राप्ति कर सका। कवि दलपतराम के वे छोटे पुत्र कवि नानालाल हैं। शुरू में तो उन्होंने चालू ढंग में ही कविता लिखी। बाद में यूरोपीय 'ब्लैंक वर्स' की सुन्दरता को देखकर उन्होंने नई अपद्यागद्य शैली का आविष्कार किया। इस शैली का दूसरा नाम 'डोलन-शैली' भी है। स्पष्ट रूप से कहना चाहिए कि अपने वृत्तों में एवं जातियों में जीवंत भाषा को मूर्त्त करने की शक्ति है ही नहीं, देशी बंधों में अल्प ही है। इस 'डोलन-शैली' में यह शक्ति स्पष्ट स्वरूप में प्राप्त होती है। कवि श्री ने नाट्यात्मक काव्यग्रंथों की रचना करके 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—विश्वनाथ की इस काव्य-व्याख्या को चरितार्थ कर दिया है। 'कुरुक्षेत्र' एवं 'हरिसंहिता' जैसे महाग्रंथों और 'जयाजयन्त नूरजहाँ' जैसे नाट्यस्वरूपात्मक ग्रन्थों की, मैं समझता हूँ—भारतीय साहित्य में अनन्यता ही है।

उनके समकालीन विद्यमान कविश्री अरदेशर फरामजी खबरदार एवं प्रो० बलवंतराय ठाकोर 'सेहेनी' भी नये प्रकार के आविष्कारक हैं। विभिन्न छंदों के प्रयोगों से खबरदारजी ने जीवन के विषयों पर बड़े काव्यग्रंथ लिखे हैं, तो प्रो० ठाकोर ने अर्थघन कविता का आविष्कार किया है। यूरोपीय सॉनेट-प्रकार को काव्य-रचना प्रवाही पृथ्वी छंद में उन्होंने शुरू की और आज नवयुवान कवियों के वे अग्रणी हैं। प्रो० रामनारायण पाठक 'शेष', श्रीसुन्दरम्, स्नेहरश्मि, उमाशंकर जोशी, श्रीधराणी, बादरायण, मनसुखलाल झवेरी, पूजालाल आदिक विद्यमान कविगण पूर्व-पश्चिम के ज्ञान से भरे हैं और विषयों के वैविध्य से कविता-देवी के चरणों में रसथाल धर रहे हैं।

साहित्य के दूसरे-दूसरे स्वरूपों का विकास भी भारत की इतर भगिनी भाषाओं के साथ-साथ गुजराती में हो रहा है । महात्माजी, महादेव भाई देसाई, काका साहब कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला आदिक विद्वानों ने नये समाज को उद्दीप्त करने में बड़ा श्रम किया है और निबंध-साहित्य के भंडार भर दिये हैं ।

विवेचन-क्षेत्र भी नये युग के आरंभ से शुरू हो गया था । विशिष्ट प्रयत्न नवलराम पंड्या से हुआ । पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि स्व० आचार्य डॉ० आनन्दशंकर ध्रुव, रमणभाई नीलकंठ, केशव ह० ध्रुव, कमलाशंकर त्रिवेदी, विद्यमान प्रो० बलवंतराय ठाकौर, प्रो० विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, डोलरराय मांकड, प्रो० रामनारायण पाठक, स्व० नवलराम त्रिवेदी, प्रो० विजयराय वैद्य आदि प्रो० विद्वानों ने काफी लिखा है; विद्यमान सज्जन लिख भी रहे हैं ।

संशोधन की दिशा में भी काफी प्रगति हुई है । स्व० डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी, स्व० वल्लभजी हरिदत्त आचार्य और विद्यमान मुनि श्रीजिनविजयजी, शास्त्रीजी, दुर्गाशंकरजी, प्रो० रसिकलाल परीख, श्रीरत्नमणिराज जोटे—ये गुजराती इतिहासविद् हैं । नये विद्वानों की भी संख्या कम नहीं है ।

दर्शनशास्त्र में पं० सुखलालजी संघवी शास्त्री, जैनशास्त्रों में मुनि श्रीपुण्यविजयजी एवं भाषाशास्त्रीय संशोधनों में पं० बेचरदास दोशी, प्रो० मधुसूदन चि० मोदी, प्रो० केशवराम का० शास्त्री, प्रो० डॉ० भोगीलाल ज० सांडेसरा, प्रो० डॉ० मंजुलाल र० मजूमदार, प्रो० कांतिलाल व्यास, प्रो० हरिवल्लभ भायाणी आदिक विद्वानों ने गण्य कार्य किया है और सतत कर रहे हैं ।

स्वराज्य-प्राप्ति के साथ-साथ ही राष्ट्रभाषा की कूच शुरू हुई है । राष्ट्रभाषा के अध्ययन का कार्य गुजरात में भारी परिमाण में होता है । प्रतिवर्ष हजारों बालक-बालिकाएँ युवक-युवतियाँ राष्ट्रभाषा की परीक्षा दे रहे हैं ।

अंतिम साढ़े चार सौ वर्ष से व्रजभाषा का संबंध तो गुजरात से है ही । श्रीवल्लभाचार्यजी के द्वितीय पुत्र श्रीविट्ठलनाथ गुसाईंजी और उनके चतुर्थ कुमार श्रीगोकुलनाथजी के गुजरात के वास से हमारे मंदिरों एवं भगवन्मंडलियों में व्रजभाषा नित्य की हो गई है । श्रीगोकुलनाथजी ने चौरासी वैष्णवों की बात व्रजभाषा के गद्य में लिखीं, उसी ढाँचे पर स्वामिनारायण-संप्रदाय के संस्थापक श्रीसहजानन्द स्वामी के वचनामृत गुजराती गद्य में हुए । गुजरात में नये जमाने का आविष्कार हुआ, वहाँतक शिक्षा में व्रजभाषा थी । साहित्य का अभ्यास करनेवाले युवकों का साहित्य-प्रवेश रसालंकार-छंदों के विषय में व्रजभाषा के माध्यम से होता था । हमारे कवि दलपतराम की शिक्षा के मूल में भी व्रजभाषा थी ।

राष्ट्रभाषा गुजरातियों के लिए नई वस्तु नहीं है । राष्ट्रभाषा के समुद्धार में महात्माजी का भी हिस्सा कम नहीं है । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-स्थान पर से महात्माजी, मुन्शी कनैयालालजी एवं मुनिश्री जिनविजयजी जैसे विद्वानों ने भी अपनी सेवा चरितार्थ की है । राष्ट्रभाषा अपभ्रंश १००० साल ऊपर हमारी ही थी; आज १००० वर्ष बाद भी वही राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हमारी है ।

—केशवराम काशीराम शास्त्री

परंतु, इससे जो स्वतंत्र नया आविष्कार हुआ, वह तो है—एकांकी नाटकों का। उपन्यास एवं नवलिकाओं की तरह यह आविष्कार भी यूरोपीय अनुकरण में हुआ है; किन्तु आज गुजराती साहित्य में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ समादृत हो चुकी हैं। श्रीउमाशंकर जोशी जैसे सिद्धहस्त लेखकों ने अपने संग्रह प्रसिद्ध भी किये हैं। प्रो० पुष्कर चंदरवाकर इस दिशा में आज गण्य काम कर रहे हैं। वैसे छोटे-छोटे नाटक आज अवेतन रंगभूमि पर बालक-बालिकाएँ एवं युवक-युवतियाँ बड़े जोर से दे रहे हैं।

कविता देवी ने तो गुजरात पर शुरू से अमृतवर्षा चालू रखी है। नये युग के आविष्कार के साथ ही नये प्रकार की कविता होने लगी थी। दलपतराम एवं नर्मदाशंकर की पुराने-नये ढाँचे पर रचनाएँ हुई थीं। धर्म के स्थान पर समाज एवं प्रकृति का प्रवेश हुआ। वहाँतक केवल देशियों में खास करके रचनाएँ होती थीं, वृत्तबद्ध एवं जातिबद्ध रचनाएँ स्वल्प ही थीं। नये युग के साथ जोर-शोर से वृत्तबद्ध एवं जातिबद्ध कविता होने लगी। प्रो० नरसिंहराव दिवेटिया ने तो यूरोपीय कवियों के प्राकृतिक विषयों को पसंद किया और छंदोबद्ध कविताएँ बहाईं। हाँ, देशी बंधों में कितनेक गेय पदों की रचना अवश्य की। उसी समय फारसी कविता की पद्धति भी अपनाई गई और मस्तकवि बाल, मणिलाल नभुभाई द्विवेदी, देरासरी, अमृत नायक, कलापी आदि कवियों ने फारसी ढाँचे पर गजलों का निर्माण किया। बेशक उसकी व्यापकता तो नहीं हो सकी। संस्कृत-पद्धतियों के कवियों में मणिशंकर भट्ट 'कांत' एवं 'बोढ़ादकर' का स्थान बहुत मानपूर्ण है।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में गुजरात एक असामान्य कोटि के कविवर की प्राप्ति कर सका। कवि दलपतराम के वे छोटे पुत्र कवि नानालाल हैं। शुरू में तो उन्होंने चालू ढंग में ही कविता लिखी। बाद में यूरोपीय 'ब्लैंक वर्स' की सुन्दरता को देखकर उन्होंने नई अपद्यागद्य शैली का आविष्कार किया। इस शैली का दूसरा नाम 'डोलन-शैली' भी है। स्पष्ट रूप से कहना चाहिए कि अपने वृत्तों में एवं जातियों में जीवंत भाषा को मूर्त करने की शक्ति है ही नहीं, देशी बंधों में अल्प ही है। इस 'डोलन-शैली' में यह शक्ति स्पष्ट स्वरूप में प्राप्त होती है। कवि श्री ने नाट्यात्मक काव्यग्रंथों की रचना करके 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—विश्वनाथ की इस काव्य-व्याख्या को चरितार्थ कर दिया है। 'कुरुक्षेत्र' एवं 'हरिसंहिता' जैसे महाग्रंथों और 'जयाजयन्त नूरजहाँ' जैसे नाट्यस्वरूपात्मक ग्रन्थों की, मैं समझता हूँ—भारतीय साहित्य में अनन्यता ही है।

उनके समकालीन विद्यमान कविश्री अरदेशर फरामजी खबरदार एवं प्रो० बलवंतराय ठाकोर 'सेहेनी' भी नये प्रकार के आविष्कारक हैं। विभिन्न छंदों के प्रयोगों से खबरदारजी ने जीवन के विषयों पर बड़े काव्यग्रंथ लिखे हैं, तो प्रो० ठाकोर ने अर्थघन कविता का आविष्कार किया है। यूरोपीय सॉनेट-प्रकार की काव्य-रचना प्रवाही पृथ्वी छंद में उन्होंने शुरू की और आज नवयुवान कवियों के वे अग्रणी हैं। प्रो० रामनारायण पाठक 'शेष', श्रीसुन्दरम्, स्नेहरश्मि, उमाशंकर जोशी, श्रीधराणी, बादरायण, मनसुखलाल झवेरी, पूजालाल आदिक विद्यमान कविगण पूर्व-पश्चिम के ज्ञान से भरे हैं और विषयों के वैविध्य से कविता-देवी के चरणों में रसथाल धर रहे हैं।

साहित्य के दूसरे-दूसरे स्वरूपों का विकास भी भारत की इतर भगिनी भाषाओं के साथ-साथ गुजराती में हो रहा है । महात्माजी, महादेव भाई देसाई, काका साहब कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला आदिक विद्वानों ने नये समाज को उद्दीप्त करने में बड़ा श्रम किया है और निबंध-साहित्य के भंडार भर दिये हैं ।

विवेचन-क्षेत्र भी नये युग के आरंभ से शुरू हो गया था । विशिष्ट प्रयत्न नवलराम पंड्या से हुआ । पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि स्व० आचार्य डॉ० आनन्दशंकर ध्रुव, रमणभाई नीलकंठ, केशव ह० ध्रुव, कमलाशंकर त्रिवेदी, विद्यमान प्रो० बलवंतराय ठाकोर, प्रो० विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, डोलरराय मांकड, प्रो० रामनारायण पाठक, स्व० नवलराम त्रिवेदी, प्रो० विजयराय वैद्य आदि प्रो० विद्वानों ने काफी लिखा है; विद्यमान सज्जन लिख भी रहे हैं ।

संशोधन की दिशा में भी काफी प्रगति हुई है । स्व० डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी, स्व० वल्लभजी हरिदत्त आचार्य और विद्यमान मुनि श्रीजिनविजयजी, शास्त्रीजी, दुर्गाशंकरजी, प्रो० रसिकलाल परीख, श्रीरत्नमणिराज जोटे—ये गुजराती इतिहासविद् हैं । नये विद्वानों की भी संख्या कम नहीं है ।

दर्शनशास्त्र में पं० सुखलालजी संघवी शास्त्री, जैनशास्त्रों में मुनि श्रीपुण्यविजयजी एवं भाषाशास्त्रीय संशोधनों में पं० बेचरदास दोशी, प्रो० मधुसूदन चि० मोदी, प्रो० केशवराम का० शास्त्री, प्रो० डॉ० भोगीलाल ज० सांडेसरा, प्रो० डॉ० मंजुलाल र० मजूमदार, प्रो० कांतिलाल व्यास, प्रो० हरिवल्लभ भायाणी आदिक विद्वानों ने गण्य कार्य किया है और सतत कर रहे हैं ।

स्वराज्य-प्राप्ति के साथ-साथ ही राष्ट्रभाषा की कूच शुरू हुई है । राष्ट्रभाषा के अध्ययन का कार्य गुजरात में भारी परिमाण में होता है । प्रतिवर्ष हजारों बालक-बालिकाएँ युवक-युवतियाँ राष्ट्रभाषा की परीक्षा दे रहे हैं ।

अंतिम साढ़े चार सौ वर्ष से व्रजभाषा का संबंध तो गुजरात से है ही । श्रीवल्लभाचार्यजी के द्वितीय पुत्र श्रीविट्ठलनाथ गुसाईंजी और उनके चतुर्थ कुमार श्रीगोकुलनाथजी के गुजरात के वास से हमारे मंदिरों एवं भगवन्मंडलियों में व्रजभाषा नित्य की हो गई है । श्रीगोकुलनाथजी ने चौरासी वैष्णवों की वात व्रजभाषा के गद्य में लिखीं, उसी ढाँचे पर स्वामिनारायण-संप्रदाय के संस्थापक श्रीसहजानन्द स्वामी के वचनामृत गुजराती गद्य में हुए । गुजरात में नये जमाने का आविष्कार हुआ, वहाँतक शिक्षा में व्रजभाषा थी । साहित्य का अभ्यास करनेवाले युवकों का साहित्य-प्रवेश रसालंकार-छंदों के विषय में व्रजभाषा के माध्यम से होता था । हमारे कवि दलपतराम की शिक्षा के मूल में भी व्रजभाषा थी ।

राष्ट्रभाषा गुजरातियों के लिए नई वस्तु नहीं है । राष्ट्रभाषा के समुद्धार में महात्माजी का भी हिस्सा कम नहीं है । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-स्थान पर से महात्माजी, मुन्शी कनैयालालजी एवं मुनिश्री जिनविजयजी जैसे विद्वानों ने भी अपनी सेवा चरितार्थ की है । राष्ट्रभाषा अपभ्रंश १००० साल ऊपर हमारी ही थी; आज १००० वर्ष बाद भी वही राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हमारी है ।

—केशवराम काशीराम शास्त्री

◉

मराठी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

प्रदेश और साहित्य के बदलते केन्द्र

महाराष्ट्र में मराठी भाषा गत सात सदियों से प्रचलित है। महाराष्ट्र से मतलब है भारत के पश्चिम किनारे के दमण गाँव से, दक्षिण की तरफ गोमंतक और उत्तर में नागपुर तक के प्रदेश से। महाराष्ट्र के इस त्रिकोणाकृति प्रदेश का क्षेत्रफल १,३३,००० वर्गमील है। इसकी आबादी, सन् १९४१ ई० की सिरगिनती के आधार पर २,२५,८५,७०० है। आज की स्थिति यह है कि यह प्रदेश चार प्रांतों की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत है। पश्चिम भाग बम्बई-राज्य में, दक्षिण सिरा पुर्तुगीज-राज्य में, तो ईशान-विभाग मध्यप्रदेश के आधिपत्य में और मराठवाडा हैदराबाद-राज्य में।

गत सात सदियों की अवधि में मराठी साहित्य का केन्द्रस्थान बदलता रहा है। तेरहवीं सदी के आरम्भ में वह नागपुर के आसपास था। इसी स्थान पर मुकुंदराज का आविर्भाव हुआ और महानुभाव-पंथ प्रसृत हुआ। सोलहवीं सदी में एकनाथ के काल में मराठी का यह केन्द्र प्रतिष्ठान, अर्थात् पैठण में दृढमूल हुआ। सतरहवीं सदी में नैऋति की ओर चला गया और तुकाराम रामदास के काल में बम्बई-राज्य में पहुँचा। गत सौ बरसों से मराठी का केन्द्र इसी स्थान पर बना हुआ है। मध्यवर्ती इसी केन्द्र की प्रगति के साथ-साथ नागपुर जैसे साहित्यिक क्षेत्र भी धीरे-धीरे प्रगति के मार्ग पर हैं।

राजनीति का अनुगमन

मराठी साहित्य का प्रारम्भ तेरहवीं सदी से माना जाता है। यादवकालीन सुवर्ण-युग में मराठी साहित्य का सुस्पष्ट-सा आविर्भाव हुआ। उस समय संस्कृत-भाषा, जो संस्कृति और धर्म का माध्यम थी, उसी का सर्वत्र प्रचार था। उसका सामना करते हुए मराठी भाषा ने अपना स्वतन्त्र झंडा खड़ा कर लिया और दृढता के साथ अग्रसर होने लगी। मराठी के आद्य श्रेष्ठ ग्रंथकार श्रीज्ञानदेव ने जनता के लिए जनता की भाषा में साहित्य-निर्मिति की। उनकी जलाई इसी ज्योति को भावी पीढ़ियों ने भी स्वाभिमान के साथ प्रकाशित रखा। ज्ञानदेव के निर्वाण के पश्चात् मुसलमानों के आक्रमणों से यादवों का राज्य लुप्त हुआ। मुसलमानों ने अगली तीन सदियों तक महाराष्ट्र पर शासन जमाया। तो भी मराठी-साहित्य पर यावनी संस्कृति का प्रभाव बहुत ही कम रहा। उसके बाद शिवाजी और मरहठों के शासनकाल में दो सदियों तक महाराष्ट्रियों ने स्वाधीनता का सुख अनुभव किया। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में अँगरेजों ने पेशवाओं से राज्य छीन लिया। उन अँगरेजों का प्रभाव महाराष्ट्र के जीवन और साहित्य पर सन् १९४७ ई० में उनके यहाँ से चले जाने तक बना रहा और आज भी वह दिखाई देता है।

मराठी भाषा

मराठी साहित्य की भाषा भारतीय आर्य-संस्कृति का ही अंकुर है। महाराष्ट्री और अपभ्रंश-भाषाएँ मराठी भाषा के प्राकृत उद्गम-स्थान हैं। दसवीं सदी में अपभ्रंश-भाषा मराठी भाषा में रूपान्तरित हुई। मराठी भाषा के गुरु-गुरु की साहित्य-निर्मिति के प्रयत्न

बारहवीं सदी के अंत में हुए। फिर भी, यह दिखाई देता है कि मराठी की परम्परा उसके भी बहुत पहले प्रचलित थी। दुर्भाग्य से आज वह परम्परा कुछ विलुप्त-सी दिखाई देती है, उसके कुछ भी चिह्न नहीं दिखाई देते।

धार्मिक हेतु और गद्य की त्रुटियाँ

मराठी साहित्य की ओर ध्यान जाते ही दो बातें दिखाई देती हैं। पहली बात है, उस साहित्य के प्राण धार्मिक और दार्शनिक रूप (इसमें 'पोवाडा' और 'लावणी' दो पद्य-प्रकार ही अपवाद-रूप हैं) और दूसरी बात है, गद्य-निर्मिति की अल्पता। इस काल में मराठी गद्य-निर्मिति बहुत ही कम है। तत्त्वज्ञान की विवेचना करते समय तथा प्रवचन-संकीर्त्तन करते समय पुरानी मराठी में, जिस ओवी छंद को प्रयुक्त किया है, वह ओवी छंद प्रायः साफ गद्यरूप ही है। मराठी साहित्य का इस ढंग का दूसरा छंद अभंग है। भक्तिमार्ग के कवियों ने अपने पंथ के प्रचार तथा विकास के लिए इसी छंद को प्रकारान्तरों से प्रचलित किया। आगे चलकर सतरहवीं सदी के मराठी कवियों ने फिर से संस्कृत छंदों को अपनाया। अठारहवीं सदी में गद्य-साहित्य का आविर्भाव होकर उसका प्रचार बढ़ा। प्रारंभिक अवस्था में मराठी गद्य का रूप उतना विकसित नहीं था। बाद अठारहवीं सदी के अंत में 'बखर' के रूप में वह प्रगल्भ तथा परिष्कृत हुआ। इस 'बखर'-साहित्य-प्रकार में उर्दू तथा फारसी शब्दों और रचनाओं की प्रचुरता तथा प्रभुता दिखाई देती है। लेकिन, यह एक महत्त्व की बात है कि तत्कालीन काव्य-निर्मिति पर उर्दू तथा फारसी का प्रभाव तनिक भी नहीं है।

धार्मिक सम्प्रदाय

विभिन्न धार्मिक पंथों ने अपनी-अपनी ओर से तथा अपने-अपने ढंग से मराठी साहित्य को समृद्ध किया है। इन पंथों में विशेष उल्लेखनीय पंथ निम्नलिखित हैं—एक है पंढरपुर के श्रीविट्ठल की भक्ति करनेवाला **वारकरी-संप्रदाय**। दूसरा है, योगमार्ग की प्रधानता देनेवाला **नाथपंथ**। तीसरा है, सुधार-प्रवर्त्तक **महानुभाव-पंथ**। और, उसके बाद, सतरहवीं सदी का **रामदासी पंथ** तथा तदुपरांत प्रवर्त्तित **दत्त-सम्प्रदाय**।

मराठी साहित्य का आरंभ

परंपरा को देखते हुए, मुकुंदराज ही मराठी के आद्य कवि माने जाते हैं। उनके 'विवेकसिंधु' और 'परमामृत' ये दो ग्रन्थ तत्त्वज्ञानपरक हैं। मुकुन्दराज, कवि की अपेक्षा तत्त्वज्ञ के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका साहित्य यद्यपि गौरवास्पद है, तो भी यह सच है कि उनका साहित्य बाद के विपुल तथा विविध साहित्य-सर्जन से पिछड़ा हुआ-सा लगता है।

महानुभाव-पंथ

महानुभाव-पंथियों ने मराठी साहित्य में खूब ही हलचल मचा दी। सतरहवीं सदी के मध्य में, मध्यप्रदेश में स्थापित श्रीचक्रधर-प्रणीत यह पंथ कृष्णभक्ति-प्रधान है। कृष्णभक्ति कृष्णचरित्र और भगवद्गीता का तत्त्वज्ञान ये ही, महानुभाव-पंथियों के प्रमुख आधारस्तंभ हैं। इस पंथ के अन्य साहित्य-सेवकों में 'शिशुपालवध' और 'उद्धवगीता' के लेखक भास्करभट्ट; 'रुक्मिणी-स्वयंवर' के लेखक नरेन्द्र; 'वच्छहरण' ग्रन्थ के लेखक दामोदरभट्ट, और 'चक्रधरचरित्र' के लेखक महीन्द्रभट्ट की गणना होती है। ये सभी ग्रन्थकर्त्ता विद्वान् तो थे ही, कवि के नाते भी सर्वश्रेष्ठ माने

जाते थे। फिर भी, लगभग सौ वर्ष के भीतर ही जन-साधारण इस पंथ की ओर संदेह तथा घृणा के भाव से देखने लगा। परिणामस्वरूप, इस पंथ के अनुयायियों ने अपने पंथ की रक्षा तथा प्रतिष्ठा के लिए, कुछ आक्रामकों के अत्याचारों से डरकर भिन्न-भिन्न सांकेतिक लिपियों में अपना साहित्य लिखना शुरू किया। इन सांकेतिक लिपियों के कारण महानुभावी साहित्य, सर्वसाधारण के लिए अभी-अभी तक छुपा खजाना ही था। श्रीविश्वनाथ काशिनाथ राजवाड़े नामक इतिहास के क्रांतदर्शी पंडित ने, उस छुपे हुए साहित्य के रहस्यमय संकेतों को खोलकर जनता पर प्रकट किया है, फिर भी बहुत-सा साहित्य अब भी अप्रकाशित ही है। यह तो निश्चय है कि इस साहित्य के संबंध में पूर्ण संशोधन तथा प्रकाशन के विना मराठी साहित्य का इतिहास अधूरा ही रहेगा।

ज्ञानदेव

मराठी साहित्य में ज्ञानदेव के रूप में एक अपूर्व शक्ति आविर्भूत हुई। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि कवि, तत्त्वज्ञ और धार्मिक आंदोलन का पुरस्कर्त्ता के नाते ज्ञानदेव का प्रतिभा-विलास असामान्य था। भगवद्गीता का टीका-रूप 'ज्ञानेश्वरी', श्रीज्ञानदेव का प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में काव्य और दर्शन दोनों दूध-शक्कर के समान घुल-मिल गये हैं। नौ हजार ओवियों के इस अपूर्व ग्रन्थ में उपमा, रूपक, दृष्टांत आदि अलंकारों की रेलपेल है। ज्ञानेश्वरी जैसे मधुर तथा सरल शब्दों में लिखा हुआ एक भी ग्रंथ आजतक मराठी में उपलब्ध नहीं है श्रीज्ञानदेव का दूसरा ग्रन्थ 'अमृतानुभव' है। काव्य की अपेक्षा तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व अधिक है। और इसी कारण शायद वह ज्ञानेश्वरी की तरह जितना लोकप्रिय नहीं हो पाया। अन्य भी अनेक ग्रन्थ ज्ञानदेव के नाम से प्रकाशित हैं, लेकिन उनकी प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों में मतभेद है।

धर्मसुधारक ज्ञानेश्वर

ज्ञानदेव धर्मसंशोधक थे। स्वयं निर्दोष होते हुए भी ब्राह्मण-जाति से वे वहिष्कृत किये गये थे। बचपन से ही उनकी प्रवृत्तियाँ धर्म तथा तत्त्वज्ञान के अध्ययन की ओर थीं। उन्होंने अपनी इक्कीस वर्ष की उम्र में समाधि ले ली। इतनी छोटी उम्र में उन्होंने महाराष्ट्र के जीवन तथा साहित्य में अभूतपूर्व क्रांति मचा दी। जाति-पाँति तथा धर्मपंथ के निवंधों को बहुत-कुछ शिथिल कर दिया और भक्तिमार्ग के लिए तत्त्वज्ञान की मजबूत नींव डाली। इसलिए, ज्ञानेश्वरी टीका को मराठी भाषा में बड़े प्रेम तथा आदरभाव से 'माउली' अभिधान से संबोधित किया जाता है। मराठी भाषा में ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ के जैसा दीर्घकालीन प्रभाव अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं प्रतीत हुआ। ज्ञानेश्वरी के धर्म और तत्त्वज्ञानपरक अंश को छोड़ दिया जाय, तो भी कल्पना-विलास, लेखन-शैली, मधुरता, सौम्यता, काव्यगुण-भावनात्मकता आदि अनेक गुणों से आज भी ज्ञानेश्वरी-ग्रन्थ अनुपम तथा अपूर्व समझा जायगा। ज्ञानदेव ने कुछ अभंग भी रचे हैं।

नामदेव

उम्र से बड़े होते हुए भी श्रीनामदेव, ज्ञानदेव-जैसे विद्वान् नहीं थे। फिर भी, उनकी विट्ठलभक्ति अपार थी। सीधी-सादी श्रद्धा तथा विट्ठलभक्ति की ओर लगन नामदेव के

विशेष गुण थे। उन्होंने सैकड़ों अभंगों की निर्मिति की। उन अभंगों में ज्ञानदेव की ऊँची बौद्धिक उच्चता नहीं थी। फिर भी, भावनाओं की गहराई नामदेवजी के अभंगों में अधिक पाई जाती है। नामदेवजी दीर्घकाल तक वारकरी-संप्रदाय के लिए एक आकर्षण थे और आज भी हैं। उनके अभंग आज भी नित्य के पूजापाठ में गाये जाते हैं। ज्ञानदेवजी के पश्चात् नामदेवजी पचास वर्ष तक जीवित रहे और भक्तिमार्ग की पताका जहाँ-तहाँ फहराने में सफल रहे। नामदेव ने उत्तर भारत में खूब यात्राएँ कीं। खासकर पंजाब में उनका काफी प्रभाव रहा। सिक्खों ने अपने धर्मग्रन्थों में नामदेव के अभंग अनूदित करके आज भी प्रचार में रखे हैं।

समकालीन कवि

श्रीज्ञानदेव तथा नामदेवजी के उज्ज्वल भक्ति-प्रचार से उनके परिवार-परिसर के लोग भक्ति-भाव से उत्तेजित हो उठे। जनाबाई नामदेवजी के यहाँ एक दासी थीं। उन्होंने अपने प्रभु के समान बहुत ही उत्कृष्ट तथा सुन्दर अभंगों की रचना की। इसी परिवार में और भी अनेक सज्जन थे। गोरोबा तो जाति के कुम्हार थे। नामदेव के गुरु विसोबा खेचर बनिया थे। सावंता माली थे। जोगा परमानन्द तेली थे। ज्ञानदेव की बहन मुक्ताबाई के 'ताटी के अभंग' बहुत ही प्रसिद्ध और हृदयस्पर्शी हैं।

तमोयुग

इसके अनन्तर के काल में मुसलमानों के हमलों के कारण महाराष्ट्रियों के जीवन में बड़ी भारी उथल-पुथल मच गई। अब मुसलमान राजा बनकर रहे; फिर भी राजा और प्रजा का मनमुटाव तो नहीं मिटा। महाराष्ट्र में धार्मिक आंदोलन से साहित्यिक आंदोलन कभी पृथक् थे ही नहीं और अब तो धर्म को ही लेकर मुसलमानों के साथ मराठों का मुकाबला रहा, जिससे वाङ्मय की गतिविधि में कुछ रुकावट-सी पड़ी। उन्हीं दिनों लगातार बरसों तक दुर्गादेवी का अकाल पड़ा। अकाल से देश-भर उजड़ गया। इसी काल में महानुभाव-पंथ के लेखकों की कुछ साहित्य-निर्मिति हुई सही, फिर भी उनकी संख्या इनी-गिनी ही रही।

एकनाथ

दो शताब्दियाँ गुजर गईं। मुसलमानों के आतंक से विठोबा की मूर्ति एकनाथजी के दादा भानुदासजी पंढरपुर से विजयनगर ले गये थे। वही मूर्ति वापस लाई गई और समारोह के साथ पंढरपुर में उसकी प्रतिस्थापना की गई।

एकनाथजी को उस काल के अनुरूप सुयोग्य शिक्षा प्राप्त हुई। इसी से हिन्दू-धर्म की ध्वजा फिर एक बार फहराने के संकल्प से भागवत, रामायण आदि ग्रन्थों के आधार पर अथक परिश्रम करके उन्होंने ग्रन्थ-रचना की।

एकनाथजी के लिखे हुए 'एकनाथी भागवत' और 'भावार्थ रामायण' बहुत प्रसिद्ध हैं। इस प्रत्येक ग्रन्थ की ओवियों की संख्या बीस हजार है। 'रुक्मिणी-स्वयंवर' उनका सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। उतनी ही उनकी 'भारुड' रचना भी मशहूर हो चुकी है। पिछली

शताब्दियों के भीतर 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थों में कुछ अपभ्रष्टता घुसने लगी थी। एकनाथजी ने उस ग्रन्थ का परिशीलन करके एक नये पाठ का संशोधन किया। एकनाथजी के द्वारा किया हुआ पाठ-संशोधन अपना एक अलग महत्त्व रखता है।

एकनाथजी की महत्ता उनके 'सुधारवाद' में व्यक्त होती है। तत्त्व के साथ चरित्र का सामंजस्य रखने का उनका आदर्श प्रयत्न है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनके जीवन का सबसे महान् कार्य रहा, आध्यात्मिक जीवन का लौकिक जीवन के साथ मेल विठाना।

एकनाथजी की मृत्यु सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हुई।

दासोपन्त

मराठी में अनेक लेख लिखने में दासोपन्तजी की सानी मराठी का दूसरा कोई लेखक नहीं रखता है। मुसलमान-राज्य कीं अपनी नौकरी को ठुकराकर उन्होंने आजीवन मराठी की ही सेवा की। उनकी कुल ग्रन्थ-संख्या पचास से भी अधिक है। उनके लिखे हुए 'गीतार्णव' ग्रन्थ की ही ओवियों की संख्या एक लाख से वढ़कर है। यह ग्रन्थ दूसरा 'विश्वकोश' है। उसका वहुत ही थोड़ा भाग प्रकाशित हुआ है। दासोपन्तजी के साथ-साथ अन्य कई सामान्य श्रेणी के लेखकों ने भी ग्रन्थ-रचना की है। उन्हीं के लेखन से आगामी क्रांति के वीज वोये गये और भूमि सिद्ध हुई।

मुक्तेश्वर

एकनाथजी के पोते मुक्तेश्वरजी का कार्य भी उल्लेखनीय और सराहनीय है। महाभारत का मराठी में उलथा करने का महान प्रयत्न उन्होंने किया है, वह भी अपूर्व आकर्षक शैली में। उनसे महाभारत के पहले पाँच ही पर्वों का अनुवाद हुआ है, तोभी उसकी शैली देखते हुए यही कहते वनता है कि ज्ञानेश्वरजी के पश्चात् यही एकमात्र इतनी सुन्दर शैली अपनानेवाले कवि मिलते हैं। भाषा पर उनकी प्रभुता थी। उनके खींचे हुए शब्दचित्र अतीव सजीव हैं। कविता के लिए कविता की रचना करनेवाले मराठी में ये ही पहले कवि हैं। उनकी जन्मतिथि तथा मृत्युतिथि का भी निश्चय नहीं हुआ है।

वामन पंडित

मुक्तेश्वरजी के वाद तुकाराम, रामदास और वामन पंडित की गणना उच्च कोटि के कवियों में की जाती है। वामन पंडित वहुत विद्वान् थे। ज्ञानेश्वरी के उपालंभ के तौर पर उन्होंने 'यथार्थदीपिका' लिखी। यथार्थदीपिका भगवद्गीता का ही टीका-ग्रन्थ है। काव्य की दृष्टि से ज्ञानेश्वरी और यथार्थदीपिका की तुलना हो ही नहीं सकती। ज्ञानेश्वरी का स्थान उच्चतर है ही। इतना होते हुए वामन पंडितजी की कीर्त्ति उनके रचे आख्यानक-काव्य के कारण ही विशेष है। इस तरह की रचना में अधिकतर भारत-भागवत के ही आख्यान मिलते हैं। इन्हीं रचनाओं में उनकी काव्य-प्रतिभा की श्रेष्ठता का परिचय मिलता है। छंद-वृत्तों पर उनकी विशेष प्रभुता थी। उन्होंने विविध वृत्तों का प्रचलन करके मराठी के छंदों की कमी को हटाकर मराठी को छंद-विविधता से सजाया।

रामदास

रासदासजी व्यवहारकुशल—दक्ष थे। वे ब्रह्मचर्यव्रती थे। बचपन के बारह वर्ष तपस्या में और उसके बाद के बारह वर्ष उन्होंने पर्यटन में खर्च किये। किसी कारण से उनके तत्त्वज्ञान में अपनी एक विशेषता पाई जाती है। उसमें व्यावहारिकता और सीधापन है। उनको हम 'राजनीति-कुशल' संत कह सकते हैं। अपनी रचना 'दासबोध' में उन्होंने अपने संपूर्ण तत्त्वज्ञान की निधि रख दी है। उस ग्रन्थ में अनुभूतियों के भण्डार के साथ-साथ आध्यात्मिक और अलौकिक विषयों पर पर्याप्त विवेचन पाया जाता है। रामदासजी प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। कोई विषय अछूता नहीं रहा है। शैली की अपेक्षा उनकी दृष्टि में विषय-प्रतिपादन अधिक महत्त्व रखता था। इसी से वे भाषा के बारे में विशेष सतर्क नहीं दिखाई देते। उन्होंने भाषा का स्वच्छंद प्रयोग किया है।

तुकाराम

तुकारामजी रामदासजी से कई बातों में भिन्नता रखते हैं। वे भक्तिमार्गी कवि थे। वे अपने को नामदेवजी का शिष्य बतलाते थे। आध्यात्मिक जीवन पर उन्होंने लौकिक जीवन को न्योछावर करते हुए उनकी बलि चढ़ाई। वे संसारी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे भी न थे। वे पहले सन्त थे, बाद में कवि। उन्होंने लगभग ५००० अभंग रचे। शैली में कहीं-कहीं कोमलकान्त-कमनीयता का अभाव खटकता है। इस बात के रहते हुए भी उनकी रचना काव्यगुणों से परिपुष्ट, समृद्ध है। उनकी शैली की विशेषता सादगी और सरलता में है। प्रसादगुण से युक्त होने के कारण ही जनता उनके अभंगों की ओर अद्भुत रूप से आकृष्ट हुई। गत तीन सौ बरस, 'वारकरी'-पंथानुयायी भजन के लिए उनके अभंगों का मनोनुकूल प्रयोग करते आये हैं। उनके अभंगों में प्रभावोत्पादकता अपूर्व है। उसीमें उनकी कीर्ति-सफलता का रहस्य-बीज भरा है।

पंडित कवि

पंडित कवियों की परंपरा अब दृढता पाकर बढ़ने लगी। उनका उद्देश्य रहा—'संस्कृत की शैली पर काव्य की रचना करना'। इस उद्देश्य को लेकर चलनेवालों में विट्ठलजी और नागेशजी प्रसिद्ध हैं। इस समय मराठी केन्द्र दक्षिणतम सिराजो तंजावर की ओर भी गया। उस समय में आनंदतनय, रघुनाथ पंडित, निरंजनमाधव, सामराज आदि प्रसिद्ध कवि हो चुके हैं।

जैसे रघुनाथ पंडितजी की 'दमयंती-स्वयंवर', वैसे श्रीधरजी की 'भारत' और 'भक्तिविजय' रचनाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं। विशेषकर कृष्णदयार्णव और श्रीधरजी के काव्य में पर्याप्त मिठास और मनोहारिता मिलती है। दोनों ने 'ओवियों' में ही रचना की है।

मोरोपन्त

अठारहवीं सदी मोरोपंत के काव्य से गुंजरित है। मोरोपंत पंडित कवियों के काव्य के मुकुटमणि थे। दूसरा कोई भी कवि मोरोपंत के जितना संस्कृत तथा छंद-रचना में कुशल नहीं था। मोरोपंत स्वयं संत नहीं थे, फिर भी मनमें भक्तिरस की अधिकता थी। किन्तु,

संस्कृत पर प्रभुत्व होने से उनके काव्य को मराठी की अपेक्षा संस्कृत कहना ही अधिक उचित होगा। 'मंत्रभागवत', 'आर्यभारत' और रामायण के विविध ग्रन्थ मोरोपंतजो के ग्रन्थ हैं। उनकी अन्य बहुत-सी छोटी-मोटी आख्यानक-रचनाएँ मिलती हैं। कथानक को अच्छे ढंग से रखना ही उनकी विशेषता थी। 'केकावली' नामक उनका ग्रन्थ भावना-प्रधान है और उसकी श्रेष्ठता अपूर्व है। 'आर्यावृत्त' रचना-प्रकार पर उनका प्रभुत्व इतना था कि वे 'आर्यापति' नाम से सम्मानित होने लगे। मराठी में उस रचना-प्रकार को मोरोपंत ने प्रचुर मात्रा में लोकप्रिय बनाया। बहुत-से कवियों ने मोरोपंत का अनुकरण किया; मगर उनमें से एक भी कवि मोरोपंत जितनी प्रतिष्ठा नहीं पा सका। मोरोपंत के साथ-साथ ही 'स्तोत्र' लिखनेवाले मध्वमुनीश्वर, 'कटाव' लिखनेवाले अमृतराय, संतचरित्र-निर्माता महीपति आदि कविश्रेष्ठों का उल्लेख करना आवश्यक है। महीपति-रचित अनेक संतचरित्र मराठी में आज लोकप्रियता पा चुके हैं।

पोवाडा और लावनी

स्वराज्य-प्राप्ति के काल में एक नया साहित्य-प्रकार मराठी में प्रचारित हुआ। वह प्रकार है—'पोवाडा'। सामान्यतः 'पोवाडा' शूर-वीरों के महान् कार्य तथा उदात्त जीवन-चरित्र अथवा एक रोमहर्षक प्रसंग-जैसे विषयों को लेकर बनता है। 'पोवाडा' का काव्यतंत्र शिथिल और गद्य के समान होता है। उसकी भाषा आलंकारिक नहीं होती। वह सर्वसाधारण जनता की बोल-चाल की होती है। 'पोवाडा' में व्याकरण के नियमों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। कुछ-कुछ ऐसे भी पोवाडे हैं कि जो काव्य और वीररस से प्लावित हैं। पोवाडा-युग आज नहीं रहा है।

लावनी—यह एक खास मराठी साहित्य का प्रकार है। शृंगारिक प्रेम 'लावनी' का प्रधान विषय होता है। राधाकृष्ण के प्रेम-गीतों के साथ तुलना करने पर यह दिखाई देता है कि 'राधाकृष्ण' के प्रेम-गीतों में जो दिव्यता होतो है, वह 'लावनी' में नहीं दिखाई देती, बल्कि उसमें केवल मानवी प्रेम की प्रधानता दीखती है। धर्म-बंधनों को न मानते हुए उत्तान प्रेम-गीतों का निर्माण लावनीकारों ने किया है। विद्वत्ता तथा उच्च साहित्य के तंत्र की ओर ध्यान न देते हुए इन कवियों ने स्वयं अपनी अंगभूत प्रतिभा के बल पर 'लावनी' की रचना की। सच्चे अर्थ में लावनी एक भावगीत ही है। इसलिए, बुद्धिविलास की अपेक्षा भावनाओं का विलास लावनी में अधिक पाया जाता है। बहुत-सी लावनियाँ उत्तान शृङ्गाररस तथा अश्लीलता से युक्त होती हैं। पेशवाओं के जमाने में लावनी-प्रकार अपने उत्कर्ष-बिन्दु पर था। राम जोशी, होनाजी बाल, प्रभाकर आदि लावनीकार इस क्षेत्र के प्रसिद्ध कवि हैं

आधुनिक कालखंड

इसके बाद आधुनिक साहित्य का युग आता है। इसका तीन खंडों में विभाजन हो सकता है। पहला खंड, निबंधमाला के पूर्व सन् १८०८ से १८८० ई० तक का है। इस कालावधि में संस्कृत तथा अँगरेजी-ग्रन्थों के बहुत-से अनुवाद हुए। इसीलिए, इस काल

को, अनुवाद-काल भी कहते हैं। गद्य की निर्मिति इस काल में काफी हुई। निबंध-साहित्य-प्रकार इसी समय दृढमूल हुआ और वह सफलता के साथ उपयुक्त सिद्ध हुआ। लोकहितवादी, फुले और विष्णुबुवा इस काल के श्रेष्ठ लेखक हैं। कोश-निर्मिति, पाठशालाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें लिखना और सामाजिक सुधार का आन्दोलन साहित्य द्वारा करना ये ही प्रधान बातें इस कालखंड में हुईं। ताल्या गोडबोले, कृष्णशास्त्री, राजवाड़े आदि ग्रन्थकारों ने संस्कृत-नाटक के अनुवाद करने का नया उपक्रम शुरू किया। दूसरे लेखकों ने अँगरेजी-नाटक के अनुवाद तथा अँगरेजी-कथाओं के आधार पर मराठी में नाटक लिखने का कार्य किया। जो कुछ उपन्यास लिखे गये, वे बाणभट्ट की 'कादम्बरी' के ही ढर्रे पर लिखे गये। इसी काल में बहुत-से समाज-सुधारकों का निर्माण हुआ और रूढ धर्म तथा तत्कालीन समाज-व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन मचा। लोकहितवादी और म० फुले ये प्रधान सुधारक थे। उनका साहित्य आज भी स्फूर्त्तिदायक (चेतनाशील) लगता है। बंबई-विद्यापीठ के कायम होने से विद्या और साहित्य-विषय के आन्दोलनों को अधिक पानी दिया गया। इस काल में न्यायमूर्त्ति सर्वश्री महादेव गोविन्द रानडे, डॉ० भांडारकार एवं कुंठेजी बड़े ही प्रसिद्ध रहे। रानडेजी की कीर्त्ति महाराष्ट्र के अनेक आन्दोलनों के जनक के नाते है। श्रीभांडारकरजी का प्रकांड पांडित्य तो विश्वविश्रुत है ही।

अब जीवन की ओर देखने का नया दृष्टिकोण और तत्त्वज्ञान साहित्य में शब्दों का रूप धारण कर प्रकट होने लगा।

निबंधमाला-काल

निबंधमाला-काल मराठी-साहित्य में तथा महाराष्ट्र के जीवन में भी बहुत ही प्रसिद्ध है। श्रीविष्णुशास्त्री चिपलूणकरजी ने सात बरसों तक निबंधों की माला जारी रखी। श्रीविष्णु-शास्त्रीजी आधुनिक मराठी गद्य के जनक कहलाते हैं। एडिसन और मेकॉले की निबंध-लेखन-शैली की छटा उनके वाङ्मय में विपुल मात्रा में पाई जाती है। साहित्य का 'निबंध'-अंग इन्हीं की लेखनी से परिपुष्ट और प्रभावपूर्ण हुआ। उनके निबंध ऐंठ-अकड़, व्यंग्य, धारावाहित्व, युक्ति-तर्क-संगति आदि गुणों से सजे-सजाये गये हैं। वे स्वतंत्र विचारक थे। इस विषय की क्षमता, प्रभुता उनके निबंध-लेखन में अच्छी तरह से व्यक्त होती है। इससे मराठी के साहित्य-प्रांगण में विचारों की स्वच्छंदता की लहरें इतस्ततः उठने लगीं। स्वत्व का, स्वाभिमान का उदय हुआ। यही चैतन्य और जोश श्रीतिलकजी तथा श्रीआगरकरजी की रचनाओं में भी मिलता है। यह बात और है कि उनका कार्यक्षेत्र ही भिन्न था। 'समाज-सुधारकों के प्रणेता' के नाते श्रीआगरकरजी का नाम अमर रहेगा। उनका साहित्य निर्भयता, लगन तर्क-संगतता आदि गुणों से सजा हुआ है। इधर श्रीतिलकजी के साहित्य की धारा राजनीतिक विषयों की ओर मुड़ी हुई है। उन्होंने 'गीता-रहस्य' ग्रंथ लिखा। हिन्दुस्थान में ही नहीं, सारे संसार की वाङ्मय-निधि में वह एक अनमोल ग्रंथ-रत्न है।

उसके अनन्तरकाल में—सन् १८९० से १९१० ईसवी में श्रीनरसिंह चिन्तामणि केलकर, शिवराम पंत परांजपे आदि बहुत ही श्रेष्ठ निबंधकारों ने मराठी-वाङ्मय की श्रीवृद्धि की, उसे सुसम्पन्न बनाया।

नया नाट्य-साहित्य

सन् १८७४ से १९२० ई० तक का काल साहित्य-प्रकारों की विविधता की दृष्टि से क्रांतिकारी रहा। नाट्य-साहित्य में इस काल में मानों बाढ़-सी आ गई। संस्कृत-नाट्य-साहित्य का आकर्षक तंत्र और उसका अभिजात संगीत इन दो बातों के बल नाट्य-साहित्य खूब ही खेला गया, लोकप्रिय बना। किर्लोस्कर का 'सौभद्र', 'शाकुन्तल'; देवल का 'मृच्छकटिक', 'शापसंभ्रम' और शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद, उसी तरह अन्य लेखकों के ऐतिहासिक और रम्याद्भुत, रोमांचकारी नाटक, पौराणिक नाटक राजनीति के पुटवाले 'कीचक-वध' जैसे नाटक; कोल्हटकर, गडकरी के कल्पनारम्य नाटक; कुल नाट्य-साहित्य-संपदा मराठी-साहित्य के लिए अभिमान तथा भूषणास्पद हैं।

खाडिलकर, गडकरी और किर्लोस्कर के नाटक आज भी रंगभूमि के चमचमाते रत्न हैं।

नया उपन्यास

उपन्यास-साहित्य-प्रकार का भी काफी कायापलट हुआ। हरिनारायण आपटे ने उपन्यास को यथार्थवादी, कलात्मक रूप देकर उसको जीवनोपयोगी और सुन्दर बना दिया। स्कॉट और डिकन्स की पद्धति का प्रणयन करके आपने कतिपय बड़े-बड़े उपन्यास रचे। समाज-सुधार उनके उपन्यास-लेखन की मूल प्रेरणा है। मानव-स्वभाव का गहरा अध्ययन और ध्येयवादिता की जलती ज्योति ने उनके उपन्यासों को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त करा दिया है। समाज के मध्यम श्रेणी के लोगों की परिस्थिति का तथा उनके गुण-दोषों का यथार्थ चित्रांकन हरिभाऊ आपटे के उपन्यासों में हम पाते हैं। आपटेजी के पश्चात् वामनराव जोशीजी के उपन्यासों में उद्बोध-चर्चा, तत्त्वज्ञान और नवोदित भारतीय महिला के बुद्धिवादी जीवन के चित्रण से समाज काफी आकृष्ट तथा प्रभावान्वित हुआ। और, इस ढंग के उपन्यासों का उस समय प्रचुर मात्रा में प्रचलन हुआ। नाट्य-साहित्य जितना न सही, पर उपन्यास-साहित्य-प्रकार का काफी बोलबाला उस समय बड़े पैमाने पर हुआ।

काव्य का नवयुग

काव्य में भी इस काल में ऐसा ही मूलगामी परिवर्त्तन हुआ। काव्य-प्रकार ने पाश्चात्य ढंग अपनाना शुरू किया। आत्मलक्षी काव्य, भावकाव्य, नये छंद, समाज-सुधार की लगन, ध्येयवाद की लहर आदि अनेकानेक नवकल्पनाओं और आकार-प्रकारों में काव्य-क्षेत्र को सुशोभित तथा कांत-कमनीय बना दिया गया। आपटेजी ने उपन्यास-क्षेत्र में जो महान् कार्य कर दिखाया, वही केशवसुत ने काव्य-क्षेत्र में किया। समाज-जागृति दोनों का प्रधान लेखन-हेतु था। गड़करी, बालकवि, तिलक, गोहे आदि कवियों ने इस परंपरा का आकर्षण बहुत ही बढ़ाया। उसपर मराठी-साहित्य को गर्व है।

प्रथम युद्धोत्तरकाल-खण्ड

इस काल में साहित्य के और भी कुछ दालान खुले। लेखन-शैली में विविधता आने

लगी। गद्य-पद्य-लेखन में अनेकानेक लेखक जुट गये। उनकी महत्त्वाकांक्षा को दूर-दूर के क्षितिज दिखाई देने लगे।

काव्य

रविकिरण-मण्डल की काव्य-सेवा इस युग का विशेष आंदोलन रहा। नाट्यगीत, भावकाव्य, खंडकाव्य, शिशु-गीत, छायावादी काव्य आदि तरह-तरह के पुष्प काव्य-वल्लरी में लगे। ग्रामीण गीत भी स्फुरित होने लगे। यशवंत, गिरीश, माधव ज्यूलियन, तांबे, देशपांडे आदि कवि उपर्युक्त सभी काव्य-प्रकारों को प्रयोग में लाने लगे और महाराष्ट्र-काव्य-साहित्य की श्रीवृद्धि करने लगे। खास करके भावकाव्य और गजल-काव्य-प्रकार तो पराकाष्ठा के सुपरिणाम को पहुँचे।

नाट्य-साहित्य

वरेरकर, अत्रे, रांगणेकर आदि नाटककारों ने अथक प्रयत्न किये, फिर भी नाट्य-साहित्य को उसके पहले के मानदण्ड तक वे न पहुँचा सके। उसपर बोलपटों ने नाटकों की लोकप्रियता में बाधा डाली। यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि शेक्सपियर के तंत्र को पीछे ढकेलकर नाट्य-साहित्य में इब्सन का आधुनिक तंत्र प्रचलित हुआ है। उसी तरह सामाजिक चर्चा भी उसमें आ गई है।

युद्धोत्तर कादम्बरी

उपन्यास के आकर्षण में कोई न्यूनता नहीं आई। कई उदीयमान लेखक प्रकाश में आने लगे। प्रो० नारायण सीताराम फड़केजी ने अपनी हृदयंगम लेखन-शैली से उपन्यास की मनोहारिता को विशेष रंग-ढंग प्रदान किया। समाज की विशिष्ट श्रेणी का चित्रांकन उनसे क्यों न हुआ हो, उनके उपन्यासों के कथानकों की गुंफन-कुशलता, तंत्र-निर्दोषता, लेखन-शैली की मधुरिमा आदि गुणों के कारण उनके उपन्यासों में ध्येयवाद न होनेपर भी वे अतिलोकप्रिय बने। खाँड़ेकरजी का ध्येयवाद, मालखोलकरजी की उन्मादक लेखन-शैली, केतकरजी का पांडित्य आदि विविध गुणों से मराठी-उपन्यास अलंकृत होने लगा।

लघुकथा और आलोचना-साहित्य

लघुकथा आज सबसे लोकप्रिय साहित्य-प्रकार है। फड़के, खाँड़ेकर, बोकील, जोशी प्रभृति कुछ साल पहले के प्रथितयश तथा लोकप्रिय लेखक रहे हैं। इसी काल में आलोचना-साहित्य की आलोचना पौरस्त्य और पाश्चात्य ढंग से काफी होने लगी। संगीत- शास्त्र-विषयक समालोचना का प्रकार भी प्रचलित होने लगा और मराठी-साहित्य में एक नया दालान खुला।

आजकल ललित-साहित्य को वास्तववाद के ही नहीं, अति-वास्तववाद के पदचाप भी सुनाई देने लगे हैं। अब बात सही है कि उसका भी विरोध होने लगा है। संक्षेप में, मराठी-साहित्य का अब ईश्वर-भक्ति ही नारा नहीं रहा, समाज-सेवा-सुधार लक्ष्य बन गया है। मराठी-साहित्य अन्य किसी भी भारतीय साहित्य से पीछे नहीं है, न होगा। मराठी-भाषाभाषियों को उसका पूरा विश्वास है।

—प्रो० अरविन्द मंगरुलकर

◉

उत्कल-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

आधुनिक उत्कल (उड़ीसा) अति प्राचीन काल से कलिंग का बहुलांश और उत्कल का स्वल्पांश लेकर गठित हुआ है ।

पुराणों में उत्कल के जन्म के विषय में दो उक्तियाँ हैं । वैवस्वत मनु की संतान इलासुद्युम्न के पुत्र उत्कल थे, पुनश्च स्वायम्भुव मनु के पौत्र और उत्तानपाद के पुत्र, ध्रुव के औरस से वायुकन्या इला के गर्भ से उत्कल उत्पन्न हुए थे ।

दानव असुरराज वलि की पत्नी सुदेष्णा के गर्भ से और वैदिक ऋषि दीर्घतपा के औरस से अंग, वंग, कलिंग, सुह्म और पुण्ड्र ये पाँच क्षेत्रज संतान जन्मे ।

कलिंग की प्रशस्ति के विषय में बहुविषय महाभारत, पुराण, बौद्ध तथा जैन-ग्रन्थों में लिखा हुआ है ।

प्राचीन उत्कल गया तथा मेकल के पूर्वभाग से आरम्भ होकर मुँगेर, भागलपुर, नवभूमि, सिंहभूमि, वीरभूमि, मानभूमि आदि को लेकर कलिंग के उत्तर-पश्चिमांचल तक विस्तृत था ।

पुराणों में कथित है कि गयासुर सत्ययुग के व्यक्ति थे । उनका शरीर बड़ा पवित्र था । उनके शरीर पर ब्रह्माजी ने यज्ञ किया था । उनका सिर गया, नाभि याजपुर और पाँव पीठापुर हैं । इस शरीर के अवस्थान से ज्ञात होता है कि गया के शरीर का प्रायः बारह आना कलिंग-उत्कल था । यह भूखंड अतिपवित्र है । फिर, कैसे स्मृतिकार ने कहा—अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च ; तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ।'

इससे ज्ञात होता है कि इन राज्यों में जैन-बौद्धधर्म प्रबल भाव से प्रवर्त्तित हुए थे और इन राज्यों के लोग नौ-यात्रा से समुद्र पार होकर द्वीपान्तर-यात्रा करते थे । इसलिए, ये लोग आचारभ्रष्ट थे । आर्य-प्रतिष्ठित तीर्थयात्रा के सिवा अन्यत्र जाने से और इन लोगों के साथ निवास करने से लोगों का आचार भ्रष्ट होता था और इन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ता था ।

महाभारत के वनपर्व में लिखित है कि वैतरणी-तीरस्थ याजपुर में धर्म देवगण के अधीन होकर यज्ञ करते थे और शिवजी को इस स्थान से यज्ञ का भाग मिला था । इससे ज्ञात होता है कि इस कलिंग-उत्कल-खंड में प्रथमतः प्रवृत्ति-मार्ग-जनित याग-यज्ञ बहुत संपादित होते थे ।

त्रेतायुग में परशुराम रामचन्द्रजी द्वारा हीनशक्ति होकर महेन्द्राचल में अवस्थान कर निवृत्ति-मार्ग का आश्रय लेते हुए निष्काम भाव से ब्रह्म-चिन्तन में व्यापृत रहे । कलिंग-उत्कल-खंड महेन्द्रकुलाचल के अधीन है । परशुराम की प्रधानता से इस भूखंड में निवृत्ति-मार्ग का प्रचार और प्रसार हुआ ।

प्रायः ईसवी-सन् पूर्व अष्टम शताब्दी में परेशनाथ कलिंग आये और जैनधर्म का प्रभाव देश पर पड़ा। ईसवी-सन् पूर्व षष्ठ शताब्दी में महावीर वर्द्धमान ने कलिंग में स्वप्रवर्त्तित जैनधर्म का प्रचार किया था और ऋषभदेव की प्रकांड मूर्त्ति कलिंग-नगरी में पूजित हुई थी और कथित है कि बुद्धदेवजी ने भी उत्कल और कलिंग में स्वधर्म-मत का स्थापन किया था। बुद्धदेव के निर्वाण के बाद क्षेमराज महामुनि ने बुद्धदेव का वाम दन्त कलिंगराज ब्रह्मदत्त को अर्पित किया था।

कलिंग-विजय के बाद अशोक ने बौद्धधर्म में दीक्षित होकर कलिंग में धउली और जउगड़ पर बौद्ध-विहार निर्माण कर बौद्धधर्म का अनुशीलन और प्रचार के लिए प्रबन्ध किया था। और, अपने पुत्र महेन्द्र एवं कन्या संघमित्रा के हाथों में बोधिद्रुम-शाखा देकर कलिंग के अष्ट बौद्ध परिवार के साथ धर्म-प्रचार के लिए उन्हें सिंहल भेजा था। अशोक के राजत्व के प्रायः ६० वर्ष के बाद जैन कलिंग-सम्राट् खारवेल ने मगध और भारत के अधिकांश अन्य अंचलों को जीतकर स्वधर्म के प्रचार और प्रसार की व्यवस्था की थी। जैनधर्म के प्रबल प्रचार के फलस्वरूप बौद्धधर्म क्षीणप्राय हो गया था। ईसवी-सन् द्वितीय शताब्दी में नागार्जुन दक्षिणात्य से आकर बौद्धधर्म की पुनः सुप्रतिष्ठा के लिए यत्नशील हुए। उससे बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। कथित विषयों से प्रतीत होता है कि कलिंग-खंड ब्राह्मण्य, जैन और बौद्धधर्म का केन्द्रस्थल था।

भाषा—किन्हीं-किन्हीं पण्डितों के मत से पाली कलिंग की भाषा थी। जो भी हो, यह निश्चित है कि पाली एक अप्राकृतिक भाषा है। पाली भाषा की प्रकृति से जाना जाता है कि वह किसी प्रांत की प्रचलित भाषा नहीं थी। यह संभव है कि कलिंग की प्राकृत भाषा को सुसंस्कृत कर बौद्धधर्म-प्रचारक पंडितों ने पाली भाषा में परिणत किया, जिससे वह (भाषा) भारत में सर्वत्र समझी जाय।

अशोक और खारवेल की शिलालिपियों की भाषाओं में आधुनिक उत्कल-भाषा के कुछ-कुछ प्रचलित शब्द दीख पड़ते हैं और उत्कल भाषा के साथ पाली भाषा की कुछ समता भी है।

प्रायः ईसवी-सन् प्रथम शताब्दी में कलिंग आन्ध्र-शक्ति के अधीन रहा और प्रायः ई० सन् २५० साल में आन्ध्र-शक्ति लुप्त हो गई थी। उसी समय कलिंग तीन भागों में विभक्त हुआ, जिसके उत्तरखंड का नाम उड्र, मध्यभाग का तोसल और दक्षिण भाग का नाम कलिंग पड़ा।

उड्र-खंड पर मागधी प्राकृत का और तोसल तथा कलिंग में शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव पड़ा। इसलिए, ईसवी-सन् षष्ठ शताब्दी से दशम शताब्दी तक लिखे गये लुइपाद, कार्ह्नुपाद प्रभृति के बौद्धगान की भाषा में शौरसेनी प्राकृत का लक्षण सुस्पष्ट मिलता है।

साहित्य—देश के प्रचलित धर्म के प्रभाव से साहित्य गठित होता है—यह सर्वसम्मत सत्य है।

बौद्ध—कलिंग-उत्कल में अतिप्राचीन काल से प्रचलित ब्राह्मण्य और जैनधर्म का कोई साहित्य भाषा में अवतक दीख नहीं पड़ा, किंतु बौद्धधर्म की महायान-शाखा के अंतर्गत सहजिया-गान को प्राचीन उत्कल-भाषा और साहित्य के निदर्शन के रूप में पाता हूँ। उन्हें ईसवी-सन् षष्ठ से दशम शताब्दी तक लुइपाद, काह्नुपाद, भुसुक, शवरपाद आदि ने लिखा है। वे सव उत्कलीय थे—प्रमाणित हो चुका है।

इन गानों की भाषा के साथ आधुनिक उत्कल भाषा का जो साम्य है, वैसा अन्य किसी प्रान्त की भाषा के साथ नहीं। हजारों वर्ष के वाद भी भाषा में पार्थक्य खूब कम ही दीख पड़ता है।

बौद्धगान की भाषा		आधुनिक उड़िया भाषा
काहेरे घेनि मेलि अच्छ हुकिम	...	काहार घेनि मेलि अच्छ हुकिस
वेढ़िला हाथ पड़अ चउदिस	....	वेढ़िला हाक पड़इ चउदिस
अपण मां से हरिण वैरि	....	आपणा मो से हरिण वैरि
खणह न छाडह भुसुक अहेरि	....	क्षणक न छाडइ भुसुक अहेरि
काह्नुपाद		
नगर वाहिर रे डोम्वि तोहोरि कुडिआ	....	नगर वाहार रे डोम्वि तोहोरि कुडिआ
छोइ छोइ जाह सो ब्राह्मण नाडिआ	...	छुई छुई याय से वाह्मण नाडि (का)
आलो डोम्वि तो ये सम करिव म संग	...	आलो डोम्वि तो सम करिवि म सांग
निघिण कान्ह कपालि जोइ लांग	....	निघृण काह्नु कपाली योगी लंगा (लंगला)
एकासी पदुम चौसठी पाखुडि	....	एकाशी पदुम्ॅ चौषठी पाखुडी
तहि चढ़ि नाचअ डोम्वी वापुडी	...	तहिं चढ़ि नाचइ डोम्वी वापुडी
लुइपाद		
अपणे रचि रचि भव निर्माण	....	आपणे रचि रचि भव निर्वाण
मिछ लोअ वन्धवए अपण	....	मिछ लोक वन्धावए आपण
ह आम्हे न जाणहु अचिन्त जोइ	....	आम्भे न जाणु अचिन्त योगी
जाम मरण भव कइसन होइ	....	जन्म मरण भव केसन होइ
जैसो जाम मरण हि तैसो	....	यिस जनम मरन हि निम
जीवन्ते मले नहि विसेस	....	जीवन्ते मले नाहि विशेष

शैव—बौद्धधर्म के साहित्य के अनंतर हम शैवधर्म भाव से प्राचीन उत्कल-भाषा और साहित्य का निदर्शन पाते हैं।

१. महालिंगेश्वर-शिलालिपि ९९० ईसवी-सन्

२. मुखलिंगेश्वर-शिलालिपि १०३६ ईसवी-सन्

३. भुवनेश्वरसिंहदेव की शिलालिपि १२४९ ईसवी-सन्

४. कलसा चउतिशा—वत्सादास की—१३वीं शताब्दी। इसमें शिव-पार्वती-विवाह का वर्णन है। शृंगाररसात्मक होने पर भी यह हास्यरस से शरावोर है। चउतिशा-साहित्य की

विशेषता यह है कि इसमें चौंतीस ही पद्य हैं। प्रत्येक पद्य में प्रत्येक पाद का प्रथम अक्षर क से क्ष तक होता है। इस चउतिशा की भाषा भावयुक्त, उन्नत तथा रुचिर है और सभी भावों को व्यक्त करने में समर्थ है।

१४वीं शताब्दी का रुद्रसुधानिधि ग्रन्थ गद्यात्मक होने पर भी पद्यगन्धि है। यह एक सुन्दर उपन्यास है। इसमें गद्य-साहित्य के समस्त लक्षण रहने पर भी योग-वेदांत-तंत्रादि का पुट है। इसके लेखक हैं नारायणानन्द अवधूत स्वामी।

शाक्त—शैवधर्म-साहित्य के बाद शाक्तधर्म-साहित्य पर विचार किया जाता है।

१४वीं शताब्दी में सरलादास ने चण्डीपुराण और बिलंका-रामायण लिखी थी। इन दोनों ग्रंथों में देवी दुर्गा का माहात्म्य वर्णित है। इनके बाद उन्होंने महाभारत लिखा था। यह संस्कृत-महाभारत का आक्षरिक अनुवाद नहीं है। इसमें संस्कृत-महाभारत के अनेक विषय छोड़े गये हैं और अनेक अद्भुत उपाख्यान भर दिये गये हैं। इसमें शांतिपर्व का मूल विषय नहीं है। इसमें जो कुछ हे, वह काल्पनिक आधार पर है। यह लगभग ७०० पद्यों में समाप्त किया गया है। चरित्र-चित्रण में सरलादास सिद्धहस्त थे। इसमें समसामयिक समाज-चित्र दिखाया गया है। शकुनि स्वखल-स्वभाव से दुर्योधन का मंत्री होकर उसके कुल-नाश का कारण हुआ, भीम की मूर्खता, गांधारी की ईर्ष्या, सत्यवती का आजीवन पराशर की पत्नी के रूप में रहना, श्रीकृष्ण का नव पशु-लक्षणों से युक्त रूप धारण कर अर्जुन के सामने खाण्डव वन में प्रकट होना, अर्जुन और नकुल का समय-विशेष पर पाताल जाकर शेषदेव को भेजकर गांडीव और कुन्त पर पृथ्वी को धारण करना, द्रोणाचार्य और कर्ण के अस्त्रों से रक्षा करने के लिए हनुमान् का नन्दीघोष रथ को पृथिवी के भीतर दबा देना, दुर्योधन का रक्त-नदी-संतरण आदि अनेक अद्भुत विषयों के उपाख्यान इसमें भरे-पड़े हैं। लेखक प्रत्येक प्रसंग के प्रारम्भ और अंत में देवी की स्तुति करते हैं।

पुरीधाम में श्रीजगन्नाथदेव की अवस्थिति के कारण अतिप्राचीन काल से विष्णु की उपासना प्रवर्तित है; किन्तु जगन्नाथदेव की जैन ऋषभदेव, बौद्ध बुद्धदेव, वैष्णव विष्णु, शैव शिव, शाक्त शक्ति, गाणपत गणपति और सौर सूर्य के रूप में उपासना करते हैं।

रामानुज, जयदेव, मध्वाचार्य, नरहरितीर्थ प्रभृति महात्माओं ने वैष्णव धर्म की महत्ता पुरीधाम में प्रस्थापित की थी, इसलिए उत्कल के लोग वैष्णव धर्म के प्रति विशेष आकृष्ट हुए। चैतन्यदेव के उत्कल-आगमन के बहुपूर्व ही उत्कल में वैष्णव धर्मात्मक ग्रंथ लिखे जा चुके थे। १४वीं शताब्दी के शेष भाग में मार्कण्डदास ने महाभाष्य और केशवकोइलि की रचना की थी। महाभाष्य में राम की प्रशस्ति और केशवकोइलि में कृष्ण के मथुरा-गमन के बाद यशोदा का विलाप वर्णित है।

१५वीं शताब्दी के पूर्वभाग में अर्जुनदास ने रामविभा नामक महाकाव्य लिखा है। उत्कल-भाषा का यह प्रथम महाकाव्य है। इसमें शृंगाररस-प्रधान होने पर भी वीर और हास्यरसों का भी समावेश है। यह काव्य सरल मधुर पदावली में रचित हुआ है।

इस शताब्दी में गोविन्दभंज, दामोदरदास और नीलाम्बरदास ने वैष्णव धर्माश्रित काव्यों की रचना मधुर ललित पदावली में की है।

इस शताब्दी के शेष भाग और १६वीं शताब्दी के प्रथम भाग में चैतन्यदास, वीरसिंह और वालिगाँदास ने निर्गुण ब्रह्म के प्रशस्ति-ख्यापक ग्रंथ लिखे हैं। चैतन्यदास-लिखित विष्णुगर्भ-पुराण पर बौद्धधर्मान्तर्गत महायान-शाखा का प्रभाव पड़ा है। वीरसिंह की चउतिशा में बौद्ध नागार्जुन का मत देखा जाता है। वे नरसिंह के उपासक थे।

१५वीं शताब्दी के अंतिम भाग और १६वीं शताब्दी में भारत तथा उत्कल में धर्मराज्य पर विप्लव आया।

श्रीचैतन्यचंद्र सन् १५१० ई० में पुरीधाम में आये। इस समय उत्कल में दो कृष्णोपासक वैष्णव-धर्ममत प्रचलित थे—शुद्धा भक्ति और ज्ञानमिश्रा भक्ति।

राय रामानन्द राय शुद्धा भक्तिमार्ग के प्रवर्त्तक थे और उत्कल के पंच महापुरुष बलराम, जगन्नाथ, यशोवन्त, अनन्त और अच्युतानन्द ज्ञानमिश्रा भक्तिमार्ग के। उभय संप्रदाय चैतन्यचंद्र के प्रिय थे।

बलरामदास ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। इनमें जगमोहनरामायण, वेदांतसार, भगवद्गीता, भावसमुद्र, गुप्तवार्ता और ब्रह्माण्डभूगोल प्रधान हैं। इन्होंने अपनी रामायण लगभग १५०० ई० सन् में लिखी। यह वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद नहीं है। इसमें अध्यात्मरामायण, महाभारत, देवीभागवत और अन्यान्य पुराणों से उपाख्यान दिये गये हैं। यह रामायण लोकप्रिय है। उत्कल के प्रधान कवियों ने इस रामायण के आधार पर काव्य लिखे हैं।

जगन्नाथदास चैतन्यचंद्र के परम सखा थे। इनका भागवत उत्कल में आब्रह्मचाण्डाल समादृत है। इस भागवत का मूल्य संस्कृत-भागवत से कहीं अधिक है; क्योंकि वैष्णव पुराणों में जो-जो उपाख्यान सुन्दर हैं, उन्हें आपने अपने भागवत में स्थान दिया है। इस भागवत से उत्कल की नैतिक गति और धर्मभाव में वृद्धि हुई और बहुत अंशों में वहाँ की निरक्षरता का निवारण हुआ है। प्रत्येक उत्कलीय इस ग्रंथ को पढ़ने में श्लाघा मानता है। इन्होंने संस्कृत और उड़िया में अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उड़िया-ग्रंथों में भागवत, दीक्षासंवाद, गुप्तभागवत, मृगुणीस्तुति, तुलाभिणा आदि प्रधान हैं।

यशोवन्तदास अनेक ग्रंथों के लेखक हैं। उन ग्रंथों में शिवस्वरोदय, प्रेमभक्ति-ब्रह्मगीता, गोविन्दचंद्रगीता, रास प्रभृति प्रधान हैं।

अनंतदास ने अनेक ग्रंथों की रचना की है, जिनमें मालिका, चउतिशा, स्तोत्र, बाखर, हेतूदयभागवत प्रभृति प्रसिद्ध हैं। हेतूदयभागवत में चौरासी सिद्धों में से काह्नुपाद, लुइपाद आदि के नाम हैं, और चौरासी अवधूतों का पूर्ण इतिहास दिया गया है।

अच्युतानन्ददास सहस्र ग्रंथों के लेखक हैं—ऐसी किंवदन्ती है। उन्होंने संहिता, गीता, मालिका, वंशानुचरित, कोइलि, टीका, विलास, निर्णय, ओगाल, गुज्जरी, भजन आदि लिखे हैं। इनमें शून्यसंहिता, अणाकारसंहिता, गुरुभक्ति-गीता पद्मटीका और हरिवंश प्रसिद्ध हैं। ये पंच महापुरुष परम योगी, ज्ञानी और परम भक्तिपरायण थे।

विप्रनारायणदास ने अच्युतानंद के बाद हरिवंश लिखा था—ऐसी किंवदंती उत्कल में प्रचलित है।

१६वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी के मध्यभाग तक उत्कल में काव्य सहज, सरल और मधुर भाषा में रचित हुआ। १६वीं शताब्दी के कवि उच्च कोटि के थे। इतिहास-पुराणों से कथावस्तु लेकर उन्होंने काव्य-रचना की थी।

शिशुशंकरदास ने उषाभिलाष; लक्ष्मण महान्ति ने उर्मिलाच्छान्द; कपिलेश्वरदास ने कपटकेलि; हरिहरनायक ने चन्द्रावतीहरण; देवदुर्लभदास ने रहस्यमंजरी; दीनवन्धुदास ने च्छान्दचारुप्रभा; रामचन्द्रदेव ने नवानुराग और वंशिचोरी; सालवेग ने स्तुतिभजन (इन्होंने मुसलमान होकर भी वैष्णवधर्म ग्रहण किया था) और कार्त्तिकदास ने रुक्मिणीविभा एवं नवानुराग लिखे हैं। ये सभी उत्तम काव्य हैं। इनमें उषाभिलाष, रहस्यमंजरी और रुक्मिणीविभा उज्ज्वल रत्न हैं। १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में औपन्यासिक काव्य का प्रारम्भ हुआ और रामचन्द्र पट्टनायक ने हारावती काव्य लिखा। इस काव्य की विशेषता यह है कि इसका नायक एक साधारण गृहस्थ है और नायिका है एक हलवाहे की कन्या। इसकी भाषा सरल है और बड़ी पटुता के साथ यह काव्य लिखा गया है।

प्रतापराय ने शशिसेणा नामक एक रमणीय काव्य लिखा है। इस काव्य की कथावस्तु एक प्रसिद्ध उत्कलीय कहानी से ली गई है।

वृन्दावनदास ने गीतगोविन्द का विभिन्न रागों में अतिसुन्दर पद्यानुवाद किया है। यह भाषा-गीतगोविन्द अतिदुर्लभ है। संस्कृत-गीतगोविन्द का पद-लालित्य इसमें सुन्दर रूप से सुरक्षित है।

मधुसूदन ने नलचरित, भीमाधीवर ने कपटपाशा, सदाशिव ने विचित्र हरिवंश और गोपलीला एवं शिशुईश्वरदास ने नलरामचरित लिखे हैं। नलरामचरित में नल और रामचन्द्र के चरित वर्णित हैं। १७वीं शताब्दी के मध्यभाग तक इन कवियों द्वारा सरल भाषा में काव्य रचित हुए हैं। उक्त शताब्दी के मध्यभाग से शेष तक के कवियों ने कुछ-कुछ शब्दालंकार और चित्रकाव्य के लक्षणों को अपने काव्यों में प्रविष्ट किया है।

श्रीधरदास ने कांचनलता लिखी और विष्णुदास ने प्रेमलोचना; रघुनाथ हरिचन्दन ने लीलावती लिखी और धनंजयभंज ने रघुनाथविलास, त्रिपुरासुन्दरी, इच्छावती, अनंगरेखा, मदनमंजरी आदि। इस समय के कवियों ने पौराणिक काव्य के साथ औपन्यासिक काव्य लिखने में अपने को गौरवान्वित समझा।

कान्हुदास का रामरसामृतसिन्धु एक अपूर्व काव्य है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल है। इस काव्य की यह विशेषता है कि इसमें १०८ सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में १०८ पद।

उत्कल के अन्यतम अद्वितीय कवि दीनकृष्ण ने अपने अमर गीतिकाव्य रसकल्लोल और जगमोहनच्छान्द एवं आर्तत्राण-चउतिशा की रचना की। इन्होंने और भी ज्ञानमिश्र भक्तितत्त्वात्मक अनेक ग्रन्थ लिखे। इनमें नामरत्नगीता, रसविनोद, गुणसागर आदि प्रधान हैं। ये अद्वितीय पण्डित थे और वैद्यकशास्त्र, शरीरविज्ञान, सामुद्रिक, स्मृतिशास्त्र, संगीत, यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र और योगशास्त्रों में प्रवीण थे। इन्होंने इन विषयों पर कई ग्रन्थ लिखे हैं।

भूपतिपण्डित—ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इन्होंने पुरीधाम में आकर उत्कल की ज्ञानमिश्रा भक्ति में दीक्षित होकर, उत्कल की भाषा में एक अत्युत्तम ग्रन्थ की रचना की। उसका नाम

प्रेमपंचामृत है। यह कृष्ण-रासलीलात्मक ग्रन्थ है, जो उत्कल-साहित्य में दुर्लभ है। इसकी भाषा जैसी सरल, सहज और मधुर है, भाव भी वैसा ही सुन्दर और हृदयग्राही।

त्रिविक्रमभंज की कनकलता एक औपन्यासिक काव्य है। इसमें आलंकारिक छटा और काव्य का चातुर्य भरपूर है।

लोकनाथ विद्याधर ने जयदेव के समान पांचालीवन्ध में वहुरमणीय काव्य लिखे हैं। इनके काव्यों में शब्दालंकार और अर्थालंकार का सुन्दर योग है। भाषा संस्कृतप्राय होने पर भी ये प्रसादगुणविशिष्ट और सुमधुर हैं। सर्वाङ्गसुन्दरी, पद्मावती-परिणय, चित्रकला-रसकला, वृन्दावन-विहार आदि के कवि लोकमान्य हैं।

श्रीधर, विष्णुदास, रघुनाथ, दीनकृष्ण, धनंजयभंज, भूपति त्रिविक्रम और लोकनाथ की काव्यावली से सूचित होता है कि अत्यधिक चातुरी-कलापूर्ण परिच्छद तथा शृंगाररससिक्त अश्लीलता का विश्लेषण क्रमशः वृद्धि पाकर परवर्त्ती कवि उपेन्द्रभंज के हाथों पूर्णता को प्राप्त हुआ।

उपेन्द्रभंज—प्राचीन उड़िया-साहित्य के कविसम्राट् ई० सन् १६७० से १७२८ तक जीवित थे। आपने ४२ काव्यग्रन्थ लिखे हैं—संगीत, पौराणिक विषयों पर क्षुद्रकवितावली, पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य, औपन्यासिक काव्य,अलंकार-ग्रन्थ, कोषग्रन्थ, चउतिशा, चौपदी, छप्पई, पविशपोई, गाहा, दोहा, गुज्जरी आदि। वैदेहीश-विलास, रसिकहारावली, प्रेमसुधानिधि, लावण्यवती, कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी, कलाकउतुक, सुभद्रा-परिणय, अवनीरसतरंग और मनोरमा उनके काव्यों में प्रधान हैं। सुभद्रा-परिणय और वैदेहीश-विलास में प्रत्येक पद के प्रत्येक पाद का प्रथम अक्षर यथाक्रम स और व से आरम्भ हुआ है, और कलाकउतुक के प्रत्येक पद के आदि और अन्त के अक्षर क हैं। लावण्यवती काव्य की भाषा सरल, किन्तु पूर्ण ध्वन्यात्मक है। इसमें औपन्यासिक और नाटकीय छटा है। महाकवि राजशेखर ने काव्यकारों का अष्टविध भाग-निर्देश किया है। यथा—रचना, शब्द, अर्थ, अलंकार, भक्ति, रस, मार्ग और शास्त्रार्थ। इन सबमें जो कुशल और उत्तम कवि हैं, उनमें उपेन्द्रभंज भी हैं, जिनके काव्यों में सभी विभाग के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। सर्वविध शृंखला, सर्वविध यमक, अलंकार, एक-दो-तीन और सर्वव्यंजनवर्ग में पदरचना, छन्द अक्षर, स्वर अक्षर, तीनों श-ष-स में, कण्ठ्यादि स्थान-वर्ग में सर्वस्वर वर्ण में, मात्राहीन व्यंजनवर्ण में पशुओं की गतियों में एवं मेष-युद्ध में आपने काव्य-रचना की है। चित्रकाव्य के सारे लक्षण इनके काव्यों में निहित हैं। कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी-काव्य में १५ पदों का एक सर्ग (छन्द) है, जिसमें प्रत्येक पद के प्रत्येक पाद के समग्र अक्षरों को लेकर पढ़ने से वर्षा-ऋतु का वर्णन, चिन्तादेशाक्ष राग में, होता है। आदि के एक अक्षर छोड़कर पढ़ने से शीत-ऋतु का वर्णन, काफी-कामोद राग में, होता है। आदि के दो अक्षरों को छोड़ देने से ग्रीष्म-ऋतु का वर्णन, मालववराडी राग में, होता है। इनके काव्यों में काव्य के पूर्ण लक्षण हैं। एक शब्द में, उपेन्द्रभंज वाग्देवी के वरपुत्र थे। वे युग-सृष्ट और युगस्रष्टा भी थे।

उपेन्द्रभंज के समय से आधुनिक युग के साहित्यकारों तक अनेक कवियों ने औपन्यासिक और पौराणिक काव्य लिखे हैं। अधिकांश वे काव्य कृष्णलीलात्मक हैं।

प्रधान-प्रधान कवि और उनके काव्यों की नामावली इस प्रकार है—

दाशरथिदास—व्रजविहार। कृपासिन्धुदास—व्रजविहार। मन्दरधरभागीरथी—राधाविलास। रघुनाथभंज—रसलहरी। सदानन्दकविसूर्य—प्रेमतरंगिणी, प्रेमलहरी, ललितलोचना, युगलरसामृतलहरी, युगलरसामृतभंडरी, चौरचिन्तामणि, प्रेमचिन्तामणि, विश्वम्भरविलास, गीता, समरदीपिका, चउतिशामाला प्रभृति। व्रजवन्धु सामन्तराय—रामलीलामृतकाव्य। जनार्दनदास—गोपीभाषा। चक्रपाणि पट्टनायक—कृष्णविलास। केशव पट्टनायक—गोपविनोद। विश्वनाथ खुण्टिया—विचित्ररामायण। व्रजनाथ वडजेना—समरतरंग, शामरसोत्सव, अम्बिकाविलास, चतुरविनोद (गद्य) प्रभृति। चम्पतिसिंह—सुलक्षण। पद्मनाभ श्रीचन्दन—शशिरेखा। कुंजवन पट्टनायक—कुंजविहार। त्रिपुरारिदास—रामकृष्णकेलिकल्लोल। पुरुषोत्तम मान्धाता—शोभावती। केशव हरिचन्दन—रामलीला। विश्वम्भरदास—विचित्रभारत। पीताम्वर राजेन्द्र—रामलीला। वलभद्र भ्रमरवर—चन्द्रप्रभा। राणी निःशंकराय (स्त्री-कवि)—पद्मावती-अभिलाष। भक्त चरणदास—मथुरामंगल, मनवोध और कलाकलेश्वर चउतिशा आदि। हरिवंशराय—प्रेमकल्पलता। अभिमन्युसामन्तविहार—विदग्धचिन्तामणि, रसवती, मनोरमा, प्रीतिचिन्तामणि आदि। सदाशिव—रामलीला। कृपासिन्धुसुमन्त—कृष्णविलास। पीताम्वरदेव—अखिलरसचिन्तामणि। कर्णाभगिरि—भक्तिरसामृत। अनंगनरेन्द्र—रामलीला। विक्रमनरेन्द्र—रामलीला। पद्मनाभदेव—भागवती। गौरचन्द्र अधिकारी—कृष्णलीला। यदुमणि महापात्र—प्रवन्धपूर्णचन्द्र, रघुनाथविलास आदि। भुवनेश्वर कविचन्द्र—वासुदेवविलास, सीतेशविलास। लडुकेश महापात्र—आदिकाव्य।

उपेन्द्रभंज के समय में एक वैष्णव-परिवार था—

वृन्दावनदासी (स्त्री-कवि)—पूर्णतमचन्द्रोदय; इनके पति चन्द्रशेखरदास—श्रीकृष्णतत्त्व-चन्द्रोदय; श्वशुर—जगन्नाथदास—कृष्णविषयक गीतामाला; पुत्र—भीमदास—भक्तिचन्द्रोदय, भक्तिरत्नमाला; पौत्र—कृपासिन्धुदास—उपासनाचन्द्रोदय। ये सव लेखक सत्रहवीं शताब्दी में शेष हुए थे।

कथित कवियों में सर्वप्रधान हैं—सदानन्दकविसूर्य, चक्रपाणि पट्टनायक, कृपासिन्धुदास, विश्वनाथ खुण्टिआ, भक्त चरणदास, अभिमन्युसामन्तविहार; यदुमणिमहापात्र, व्रजनाथ वडजेना आदि।

उस समय के सर्वप्रधान संगीतकार हैं—वनमाली पट्टनायक, श्यामसुन्दरदेव, पद्मनाभ-परीक्षा, सोमनाथ, गोपालकृष्ण, वलदेवकविसूर्य।

पुराणकार—जयसिंह, रामदास, पीताम्वरदास, कृष्णसिंह, गौरांगदास, दीनवंधुखांगा, वलभद्रमंगराज, गंगापाणि, कृष्णचन्द्र पट्टनायक, सूर्यमणि पट्टनायक, गंगाधर पट्टनायक।

इस युग में दो महात्मा थे—अरक्षितदास और भीमभोइ। अरक्षितदास—वरभखिमण्डी के राजकुमार—अविवाहित अवस्था में स्वप्नादेश से वुद्धदेव-जैसे राजगद्दी त्याग कर संन्यासी हुए और व्राह्मधर्म का प्रचार किया। भीमभोइ—जाति के कन्ध और जन्मान्ध थे। महिमा

गोस्वामी की कृपा से अद्‌भुत शक्तिशाली होकर महिमा-धर्म के प्रचारार्थ अति अमूल्य ग्रन्थ स्तुतिचिन्तामणि, ब्रह्मनिरूपण-गीता, अनेक भजन और चउतिशा की रचना की।

गूढतत्वमय ब्रह्मज्ञान के ग्रन्थ-लेखक थे—अरक्षितदास, हरिदास, नन्ददास, मोहनदास, भूपतिभंज आदि।

मुसलमान-धर्म और हिन्दू-धर्म का समन्वय सत्यनारायण और सत्यपीर-पूजा में हुआ है। इस पूजा से सम्वद्ध अनेक पाला लिखी गई हैं। उड़ीसा में सोलह पाला लिखी गईं—रत्नाकरपाला, विद्याधरपाला, हरिअर्जुनपाला, फासिआरापाला आदि।

ईसाई-धर्म के प्रभाव से—ईसाइयों ने उड़िया में वाइविल, अनेक भजन, स्तुतियाँ, प्रार्थनाएँ भी लिखी हैं।

ब्राह्मधर्म में भी कुछ साहित्य हैं, पर वे सामान्य हैं।

उक्त कथन से प्रतिपन्न होता है कि उत्कल-भाषा में जैन, वौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव, आद्य ब्राह्म, महिमा-धर्म, इस्लाम, ईसाई और ब्राह्म धर्मों का साहित्य है।

यहाँ धर्म के प्रभाव से साहित्य की उत्पत्ति तो दिखाई गई, अब साहित्य का विभाग प्रधान कवियों और प्रधान राजन्य से किया जाता है। अतः, हम तल्लिखित-अनुसार विभाग इस प्रकार कर सकते हैं—

१. आदियुग—ई० सन् ११वीं शताब्दी तक, अर्थात् गंगावंश तक।
२. गंगावंशीय युग—११वीं से १५वीं शताब्दी के मध्यभाग तक।
३. सूर्यवंशीय युग—१४३५-१५४० तक।
४. मुसलमान और मरहठा-युग—१५४०-१८०३ तथा भोइवंशीय युग।
५. वृटिश-युग—१८०३-१९४९ ई०।
६. स्वाधीन युग।

आधुनिक युग के प्राथमिक कवियों के हाथों उत्कल-भाषा की सहज गति क्षुण्ण हुई। भाषा विश्लेषिणी थी, पर इन लोगों ने संस्कृत के समान भाषा को संश्लेषिणी वना दिया। भाषा की सहज गति और शुद्धता नष्ट हुई। फिर भी, भाषा की वड़ी उन्नति हुई।

पाश्चात्य रीति की शिक्षा के प्रवर्त्तन पर उत्कल में जो साहित्य लिखा गया, उसमें अनेक नूतन विषयों का समावेश हुआ। पाश्चात्य साहित्य और विश्वसाहित्य का वैभव इस शिक्षा के प्रवर्त्तन से उन्मुक्त हो गया। इसलिए, समस्त साहित्य के उपयोगी विषयों को उत्कल-साहित्य में प्रवेश कराने का प्रयत्न होता रहा। रचना, प्रवन्ध, नये ढंग का उपन्यास, नाटक—मिलनात्मक और विषादात्मक, प्रहसन, जीवनचरित, भ्रमण, समालोचना, वैज्ञानिक लेख, इतिहास, जीवनी, आत्मजीवनी आदि से उत्कल-साहित्य के अभावों की पूर्त्ति होने लगी।

आधुनिक युग के प्राथमिक कवियों में तीन प्रसिद्ध हैं—राधानाथ, मधुसूदन और फकीरमोहन। अँगरेजी, वँगला और संस्कृत-साहित्य के ज्ञान से इन लोगों ने

नई रीति और उतम परिच्छद से साहित्य की रचना की। राधानाथ सुन्दर के, मधुसूदन शिव के और फकीरमोहन सत्य के उपासक थे। प्राकृतिक वर्णन और सुन्दर भावनाराजि से इनकी काव्यावली सुमण्डित है। इन्होंने अनेक काव्य लिखे हैं, जिनमें दरबार, चिलिका; चन्द्रभागा और महायात्रा प्रसिद्ध हैं। उत्कल के ऐतिहासिक और भौगोलिक वृत्तान्त अपने काव्यों में सुन्दर रीति से सजाकर अपनी देशप्राणता का परिचय दिया है। भाषा सुमार्जित है और प्रसादगुण-विशिष्ट। राधानाथ युग के कविगुरु थे। मधुसूदन उत्कल में भक्तकवि के नाम से परिचित हैं। इनकी कवितावली ने अन्तःसलिला फल्गुवत् धर्म, नीति और देशभक्ति को धारण किया है। इन्होंने वसन्तगाथा, उत्कलगाथा आदि अनेक काव्य-गुच्छों की रचना की है। गद्य में भी इन्होंने प्रवन्ध लिखा है। इनकी भाषा मार्जित शुद्ध और संस्कृतप्राय है। फकीरमोहन उत्कल के व्यासकवि थे। वे अद्भुतकर्मा थे। समग्र संस्कृत-रामायण और महाभारत का पद्य में अनुवाद किया। इन्होंने बौद्धावतार-काव्य और अन्यकाव्य लिखे हैं। वे उपन्यास लिखने में सिद्धहस्त थे। छमाण आठगुण्ड, मामु, लछमा, प्रायश्चित अति उत्कृष्ट धरण के उपन्यास हैं। उन्होंने समसामयिक समाज-चित्र बराबर अपने उपन्यासों में भर दिया है। भाषा सरल सहज और लोकग्राही है।

रामशंकर राय—प्राचीन उत्कल में नाट्ययात्रा थी, नूतन धरण का नाटक नहीं था। इस अभाव की पूर्ति का काम रामशंकर ने किया। इन्होंने बारह नाटक लिखे हैं, जिनमें कांची, कावेरी, युगधर्म, कलिकाल नाटक आदि प्रधान हैं। इन्होंने प्रायश्चित्त नामक एक सत्यमूलक उपन्यास लिखा है। भाषा संस्कृतप्राय है।

आधुनिक युग के प्रधान महाकाव्य-लेखक—राधानाथ, फकीरमोहन, गंगाधर मेहेर, चिन्तामणि महान्ति, नन्दकिशोर, नीलकण्ठदास और नीलाद्रिदास हैं।

खण्डकाव्य और क्षुद्रकविता के सुरचयिताओं में प्रधान—मधुसूदन, गोपबन्धु गोदावरीश मिश्र, पद्मचरण पट्टनायक, चन्द्रमणिदास वैकुण्ठ पट्टनायक, शचिराउतराय, मायाधर मानसिंह कालिन्दी पाणिग्राही, अनन्त पट्टनायक और विछन्द पट्टनायक हैं।

अँगरेजी और संस्कृत-काव्यादिकों एवं पद्यानुवादकों में सर्वप्रधान—राधानाथ, मधुसूदन, फकीरमोहन, नीलकण्ठ, पद्मचरण पट्टनायक, मृत्युंजयरथ, नारायणमोहन, चन्द्रमणिदास अजयचन्द्रदास, गोपीनाथसिंह, चन्द्रशेखरमिश्र और विछन्द पट्टनायक हैं।

उपन्यास-लेखकों में सर्वप्रधान—उमेश सरकार, फकीरमोहन, गोपालवल्लभ, नन्दकिशोर, गोपालप्रहराज, दिव्यसिंह, कुन्तलाकुमारी और कान्हुचरण हैं।

प्रबन्ध-लेखकों और समालोचकों में—मधुसूदन, चिन्तामणि आचार्य, विश्वनाथकर, रत्नाकरपति, विपिनविहारीराय, शशिभूषणराय, मृत्युंजयरथ, ब्रजविहारी महान्ति, वासुदेव महापात्र और कालिन्दी पाणिग्राही प्रधान हैं।

नाट्यकारों में—रामशंकर, भिकारीचरण पट्टनायक, अश्विनीकुमार, रामचन्द्र महापात्र और कालीचरण पट्टनायक प्रधान हैं।

उत्कल-भाषा में एक प्रकाण्ड कोषग्रन्थ—ओड़ियाभाषा कोष—गोपालचन्द्रप्रहराज-कृत है। आजकल वास्तविक जीवन, अर्थनीति, दर्शन और विज्ञान-विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं।

अत्यानन्द की बात है कि आधुनिक उत्कल-साहित्य अति द्रुतगति से चल रहा है और भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साथ समभाव रखने का प्रयत्न भी किया जाता है।

—रायबहादुर आर्त्तवल्लभ महान्ति



वंग-भाषा और साहित्य

वंग-भाषा और साहित्य की विशिष्टता, समृद्धि तथा विचित्रता को हृदयङ्गम करने के लिए अत्यन्त संक्षिप्त, किन्तु यथासम्भव आलोचना की आवश्यकता है। अतः, पहले भाषा पर कुछ विचार प्रकट करने के पश्चात् साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करना सुविधाजनक एवं समीचीन होगा।

सन् १९३१ ई० की लोक-गणना के आधार पर पाँच करोड़ से भी अधिक लोग बँगला बोलते हैं। इधर यह संख्या यथेष्ट बढ़ी थी; किन्तु देश के विभाजन से अब भारत में इस भाषा के बोलनेवाले काफी कम हो गये। अन्यान्य भाषाओं की तरह बँगला-भाषा के भी कई रूप प्रचलित हैं। जिन भाषाओं का बहुत दिनों का लिखित साहित्य है, प्रायः देखा गया है कि उनमें साहित्यक रूप और साधारण कथोपकथन के रूप में कुछ अन्तर पड़ जाता है। साहित्यिक और कथ्य के भेद से बँगला-भाषा के भी विभिन्न रूप हैं। बँगला का साहित्यिक रूप (साधुभाषा) बंगाल के सर्वत्र गद्य-साहित्य तथा पत्रालाप में प्रयुक्त होता है। इस 'साधु' भाषा के साथ-साथ नाना अंचलों में कथ्य भाषाएँ भी प्रचलित हैं। इनमें से कलकत्ता-अंचल तथा भागीरथी नदी के दोनों किनारों में प्रचलित भद्र-समाज में व्यवहृत भाषा को ही बंगाल के शिक्षित समाज ने स्वीकार कर लिया है। यह विशिष्ट कथ्य भाषा ही 'चालू' (चलित) भाषा कहलाती है।

हिन्दी की भाँति बँगला-भाषा की भी उत्पत्ति साहित्यिक प्राकृत से हुई है। साहित्यिक प्राकृत को साधारणतः चार भागों में विभाजित किया जाता है—महाराष्ट्री-नागरी, शौरसेनी, अर्द्धमागधी एवं मागधी अथवा गौडीय प्राकृत। इस शेषोक्त मागधी अथवा गौडीय प्राकृत से बँगला-भाषा विकसित हुई है।

बँगला-भाषा की उत्पत्ति हुए हजार वर्ष से भी अधिक हो गये। बँगला-भाषा में अपने निजी प्राकृत शब्द हैं, शुद्ध एवं विकृत संस्कृत शब्द भी हैं। पुराकाल से इसमें बहुत-से देशी अथवा अनार्य शब्द भी मिलते-खपते रहे। विदेशी भाषाओं से भी—फारसी पुर्त्तगाली, अँगरेजी आदि—आवश्यकतानुसार लिये गये शब्दों की भी संख्या कम नहीं होगी।

बँगला-भाषा का आदि अथवा प्राचीन युग सन् १२०० ईसवी तक माना जाता है। इस समय तक बंगाल तुर्कों द्वारा विजित हो चुका था। इस अवधि में बँगला-साहित्य की परम्परा तो बनने लगी थी; पर भाषा में पूर्णाङ्गता नहीं आई थी, प्राकृत का प्रभाव तब भी स्पष्ट दिखाई देता था।

सन् १२०० से १८०० ईसवी तक बँगला का मध्य युग है। इस युग को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) युगान्तर-काल—सन् १२०० से १३०० ई० तक—

वँगला-भाषा का जो अधुनातन साहित्यिक (साधुभाषा) रूप पाया जाता है, उसका प्रारम्भ इस समय हो गया था, अर्थात् इस रूप को ग्रहण करने के लक्षण, इस युग की भाषा में, मिलते हैं। (२) पूर्वार्द्ध-मध्ययुग अथवा प्राक् 'चैतन्य'-युग की अवधि सन् १३०० से १५०० ई० मानी जाती है। इस युग में वँगला-भाषा की जड़ें मजबूत हो रही थीं एवं नाना विषयों में साहित्य-रचना होने लगी थी। (३) उतरार्द्ध-मध्ययुग में (सन् १५००—१८०० ई०) वँगला में वैष्णव-साहित्य का शुभारम्भ हुआ, विकसित और पल्लवित हुआ। वँगला-साहित्य की विशेष उन्नति भी इन्हीं षोडश तथा सप्तदश शताब्दियों में हुई। इस मध्ययुग में वँगला-भाषा के उच्चारण में परिवर्त्तन परिलक्षित होने लगा। फलस्वरूप, धीरे-धीरे प्राचीन अवस्था से आधुनिक कथ्य रूप (चलित) में भाषा वदल गई, अर्थात् उदाहरण-स्वरूप प्राचीन वँगला का 'राखिया' विभिन्न रूप लेते-लेते कथ्य भाषा में आज 'रेखे' में रूपान्तरित हो गया। मध्ययुग के अन्त की ओर वंगाल में अँगरेजों का राज्य विस्तृत होने लगा था और उनके आग्रह तथा चेष्टा से वँगला-अक्षरों में मुद्रण का प्रचलन हुआ; साथ-ही-साथ गद्य-साहित्य की नींव पड़ी।

सन् १८०० ई० के इधर का समय वँगला का आधुनिक युग है। गत डेढ़ सौ वर्षों में वँगला-भाषा में वहुत-से परिवर्त्तन हुए हैं। इस युग में वँगला-भाषा और साहित्य को अति गौरव-पूर्ण तथा प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ है। पाश्चात्य अथवा आधुनिक चिन्ताधारा को वँगला-भाषा अपने साहित्य के द्वारा अपना सकी है। इसका सुदूर-प्रसारक परिणाम सहज में ही अनुभव किया जा सकता है। कलकत्ता-अंचल की कथ्य भाषा (चलित) को साधुभाषा के वरावर साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग कर उसे भी साहित्यिक मर्यादा प्रदान करना, इस युग की सबसे बड़ी भाषागत देन है।

संक्षेप में भाषागत जिन विवर्तनों का उल्लेख किया गया है, उनके दृष्टान्त-उदाहरण वँगला-साहित्य की आलोचना करते समय प्राप्त होते रहेंगे।

वँगला-साहित्य को साधारणतः तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

१. आदियुग (सन् ९५० से १२०० ईसवी)
२. मध्ययुग (सन् १२०० से १८०० ईसवी)
३. आधुनिक युग (सन् १८०० ई० से)

वैसे तो वँगला-भाषा की उत्पत्ति दशम शताब्दी से वहुत पहले ही हो गई थी, जैसा कि भाषा की आलोचना करते समय कहा गया है। प्राचीन विभिन्न शिलालेखों तथा सर्वानन्द की टीकासर्वस्व आदि पुस्तकों में वँगला-शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। जो यह सिद्ध करते हैं कि भाषा का जन्म हो गया था। किन्तु, दशम शताब्दी से पूर्व साहित्य के वाहन के रूप में वँगला-भाषा का व्यवहार हुआ था या नहीं, इस सम्वन्ध में ऐसी प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी, जिससे यह सन्देह दूर हो जाय।

आदियुग में (सन् ९५०-१२०० ई०) वौद्ध सिद्धाचार्यगण के द्वारा 'चर्यापदसमूह' रचे गये थे, जो वँगला-साहित्य की निधि के रूप में हैं। ये पद वौद्ध महायान-सम्प्रदाय के साधना-

संगीत हैं। बँगला-भाषा और साहित्य के प्राचीनतम निदर्शन के रूप में ये चर्यापद बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। भाषा और साहित्य के उदाहरण-स्वरूप यह पद उद्धृत किया जा रहा है—

ऊँचा-ऊँचा पावत तहिं वसइ शबरीवाली।
मोरङ्गी पीच्छ परहिन शवरी गीवत गुञ्जरीमाली॥
उमत शवरो पागल शवरो माकर गुलिगेहाड़ा तोहरि।
निअ घरनी नामे सहज सुन्दरी॥
नाना तरुवर मौलिलरे गअनत लागेली डाली।
एकेली शवरी ए वन हिण्डइ कर्नकुण्डल वज्रधारी॥
तिअ धाओ खाट पड़िला शवरो महासुहे सेजी छाइली।
शवरो भुजङ्ग नैरामनि दारी पेम्ह पोहाइली राति॥

[ऊँचे-ऊँचे पर्वत—वहाँ व्याध-बालिका का निवास है। व्याध-बालिका मयूरपुच्छ-परिहिता है, उसके गले में गुञ्जमाला है, उन्मत्त शवर, पागल शवर, तुम्हारी दुहाई है, गड़बड़ न करो, मैं तुम्हारी गृहिणी हूँ—नाम है सहजसुन्दरी। नाना प्रकार के वृक्ष मुकुलित हो उठे रे, उनकी शाखाएँ गगन का स्पर्श करती हैं, कर्णकुण्डल-वज्रधारिणी शवरी इस वन में एकाकी ढूँढ़ती फिरती है। तीन धातुओं की खटिया बिछ गई, शवर! तूने परमानन्द से शय्या बिछाई। नायक शवर! तूने नायिका नैरामणि के साथ प्रेम से रात बिताई।]

चर्यापदों के समूहों के अतिरिक्त तत्कालीन बँगला की रचनाओं के और भी कुछ निदर्शन पाये जाते हैं। इस युग में राधाकृष्ण-लीलाविषयक गीति-काव्य भी रचे गये थे। प्राचीन भाषा के उदाहरण-स्वरूप कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

छाड़ छाड़ु महँ जाइवों गोबिन्द सह खेलन............
नारायण जगह केरु गोंसाई............

यह पद खण्डितावस्था में है। किन्तु, प्राचीन वंग-भाषा के प्रमाण-स्वरूप अमूल्य है। राधाकृष्ण-लीलाविषयक पदावलियों के साथ-साथ विष्णु के दशावतार-स्तोत्रों के भी कुछ अंश उपलब्ध हुए हैं—

जे ब्राम्हणेर कुलें उपजिआँ कीतवीया जेनें वाडुकर
से खण्डिआ परशुराम देउ शे मोहर मङ्गल करउ।

प्राचीनतम बँगला-साहित्य के उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त इस युग में गोपीचाँद के गानों के तरजे ('पाला'), धर्ममङ्गल के लाउसेन की कथा, लखीन्दर-बेहुला की कथा आदि गेय पद्य ('पाञ्चाली') के रूप में लोकमुख में अत्यधिक प्रचलित थे; पर लिपिबद्ध नहीं हो सके थे। यदि लिपिबद्ध हुए भी हों, तो उनकी पोथियाँ उपलब्ध नहीं हो सकीं।

आदियुग के विषय में संक्षिप्त ज्ञातव्य इतना ही दिया जा सका। इसके उपरान्त मध्ययुग को भी सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

क. युगान्तर-काल (आदि तथा मध्य का सन्धिकाल—सन् १२०० से १३०० ई०)
ख. पूर्वार्द्ध-मध्ययुग (प्राक्चैतन्य युग—सन् १३०० से १५०० ई०)
ग. उत्तरार्द्ध-मध्ययुग (चैतन्योत्तर युग—सन् १५०० से १८०० ई०)

सन् १२०० से १३०० ईसवी बँगला-साहित्य के लिए एक युग-सन्धिकाल है। आदियुग की समाप्ति तथा मध्ययुग का आगमन—एक युगान्तर उपस्थिति है। इस समय भारत पर तुर्कों का आक्रमण शुरू हो गया था। इस संघर्षमय वातावरण की लहर बंगाल तक पहुँची। वहाँ भी आक्रमण होने लगे और उसका प्रभाव भी पड़ा। इससे देश की शृङ्खला और शांति नष्ट हो गई, फलस्वरूप बँगला-भाषा में उल्लेखनीय साहित्य-विशेष की रचना सम्भव न हो सकी। अतः, इस युग की किसी रचना का निदर्शन हस्तगत न हुआ। चतुर्दश शताब्दी के मध्य भाग में शमसुद्दीन इलियस शाह ने दिल्ली के सुलतान की अधीनता से मुक्त होकर बंगाल में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। साथ-ही-साथ, देश में शांति प्रतिष्ठित हुई, साहित्य-सृष्टि के लिए आवश्यक अनुकूल वातावरण मिलने लगा। विद्या, ज्ञान तथा साहित्य-चर्चा का सूत्रपात हो गया।

सन् १३०० से १५०० ईसवी पूर्वार्द्ध-मध्ययुग, अर्थात् 'प्राक्-चैतन्ययुग' के नाम से अभिहित की जाती है। सन् १४८५ ईसवी में श्रीचैतन्यदेव का आविर्भाव हुआ था। उनके आविर्भाव के पश्चात्, उनके लोकोत्तर जीवन के प्रभाव से बँगला-साहित्य ने एक नवीन पथ का अनुसरण किया था; किन्तु उनके आविर्भाव के पूर्व चतुर्दश से षोडश शताब्दी तक बँगला-साहित्य में जिन काव्यों का सर्जन हुआ, उनका महत्त्व भी कम नहीं है। इस युग में गौड के मुसलमान शासकों की पृष्ठपोषकता में बँगला-साहित्य की यथेष्ट श्रीवृद्धि तथा उन्नति हुई थी। उनकी छत्रच्छाया में, ब्राह्मणों द्वारा बहुनिन्दित 'भाषा' प्राण-प्रतिष्ठित हो, समृद्ध हुई। इस युग में प्राकृत बँगला को अपनी प्रतिष्ठा तथा महिमा मिली। गौड के सुलतान हुसैनशाह, उनके पुत्र नासिरुद्दीन; नसरत शाह, उनके पुत्र अलाउद्दीन फिरोजशाह सभी बँगला-साहित्य के प्रति विशेष अनुराग-पोषण करते थे। इन व्यक्तियों के सत्प्रयत्नों से बँगला-काव्य-साहित्य पुष्ट और समृद्ध हुआ था। गौडेश्वर हुसैनशाह के सेनापति परागल खाँ चटगाँव के शासनकर्त्ता थे। ये एवं इनके पुत्र छुटी खाँ दोनों बँगला-साहित्य और संस्कृति के बड़े प्रेमी थे। इन लोगों की कृपा से भी बँगला-साहित्य पुष्ट और सम्पन्न हो सका था।

चण्डीदास इस युग के श्रेष्ठ कवि हैं। प्राक्-चैतन्ययुग के ये चण्डीदास 'बड़ चण्डी-दास' के नाम से प्रख्यात हैं। बँगला-साहित्य में एकाधिक चण्डीदास नामक कवि होने के कारण प्राक्-चैतन्ययुग के चण्डीदास 'बड़ चण्डीदास' के नाम से परिचित हुए। इन्हीं बड़ चण्डीदास का एक काव्य प्राप्त हुआ था। उसका नाम है—श्रीकृष्णकीर्त्तन। अनुसंधानोपरांत सिद्ध हो गया है कि बड़ चण्डीदास की पदावली ही बँगला-गीतिकाव्य का प्राचीनतम निदर्शन है। गीतिकाव्य में जो स्वतः स्फूर्त भाव, उन्मुक्त स्वर एवं कवि का आत्मगत आवेग रहता है—वे सभी 'बड़ चण्डीदास' की पदावली में मिलते हैं—

> आझर झरए मोर नयनेर पानी।
> बाँशीर शबदें बड़ायि हारायिलों परानी॥
> आकुल करितें किया आम्हार मन।
> बाजाए सुसर बाँशी नान्देर नन्दन॥

पाखी नहों तार ठाइ उड़ि पड़ि जाओं।
मेदनी विदार देउ पसिआँ लुकाओं॥
वन पोड़े आग वड़ायि जगजने जानी।
मोर मन पोड़े येन्ह कुम्भारेर पानी॥
आन्तर सुखाए मोर कान्ह अभिलासे।
वासली शिरे वन्दी गाइल चण्डीदासे॥

चण्डीदास के बाद इस युग के उल्लेखनीय कवि हैं—कृत्तिवास। ये पञ्चदश शताब्दी के कवि हैं। कृत्तिवास ने वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद किया था; किन्तु कृत्तिवासी रामायण वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद होने पर भी उसमें मौलिक कल्पना तथा वर्णन है। चण्डीदास और कृत्तिवास के अतिरिक्त इस समय मालाधर वसु नाम के एक और कवि का आविर्भाव हुआ था। इन्हें गौडेश्वर शमसुद्दीन यूसुफ शाह से 'गुनराज खाँ' की उपाधि मिली थी। जहाँतक पता चलता है, उस दृष्टि से इनका 'श्रीकृष्णविजय-काव्य' कृष्ण-लीलाविषयक बँगला में प्रथम काव्य है, तथा समस्त बँगला-साहित्य में प्रथम वर्ष और तिथियुक्त ग्रन्थ है। प्राचीन बँगला-साहित्य में कविगण केवल अपना नामोल्लेख-मात्र कर देते थे; किन्तु श्रीकृष्णविजय में कवि ने लिखा है—

तेरश पचानइ शके ग्रन्थ आरम्भ।
चतुर्दश दुइ सके ग्रन्थ समापन॥

इस युग में श्रीखण्ड-निवासी यशोराज खाँ नाम के एक कवि ने कृष्ण-लीलाविषयक एक काव्य-ग्रन्थ की रचना की थी। कवि यशोराज को भी गौड के सुलतान का आश्रय मिला था। इस समय विजयगुप्त का पद्मपुराण अथवा वेहुला-लक्खीन्दर की कहानी रची गई थी। संजय, कवीन्द्र परमेश्वर तथा श्रीकर नन्दी नामक तीन कवियों ने इसी युग में महाभारत का अनुवाद किया था। इस युग के कवियों को भाँति एकमात्र चण्डीदास ही मौलिक सर्जन-प्रतिभा-सम्पन्न थे। विजयगुप्त ने लौकिक कथा के आधार पर 'मनसामङ्गल' की रचना की थी। मालाधर वसु, संजय, कवीन्द्र परमेश्वर, श्रीकर नन्दो आदि ने अनुवाद-काव्य रचा था।

भाषा की नींव दृढ करने के लिए अनुवाद की आवश्यकता रहती है। इसलिए, प्रत्येक भाषा और साहित्य के इतिहास में यह सिद्ध है कि प्रथम युग में मौलिक रचनाओं की तुलना में अनुवाद को ही प्राधान्य मिला करता है। बँगला-साहित्य के लिए भी इसका व्यतिक्रम सम्भव नहीं हुआ। स्वतंत्र रचना से अधिक अनुवाद और अनुकरण के द्वारा ही प्राक्-चैतन्ययुग का बँगला-काव्य-साहित्य विकसित हुआ। किन्तु, चैतन्यदेव के आविर्भाव से बँगला-साहित्य में एक नूतन अध्याय का सूत्रपात हुआ। इस युग में सङ्कीर्णता तथा गतानुगतिकता से मुक्त होकर बँगला-साहित्य सम्पूर्ण नूतन विशिष्टता और महिमा से मण्डित हो उठा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल तथा अँगरेजी-साहित्य के इतिहास में

एलिजाबेथीय युग ने जो गौरवपूर्ण स्थान अधिकृत किया है, बँगला-साहित्य में चैतन्य-युग भी वही स्थान रखता है। चैतन्यदेव के आविर्भाव ने बंगाल में एक अभिनव भक्तिधारा का स्रोत प्रवाहित किया था। उस भक्तिरस से दीक्षित होकर इस युग के कवि काव्य-रचना कर गये हैं।

जीवनचरित-साहित्य इस युग का अन्यतम अवदान है। चैतन्यदेव तथा उनके पार्षदों के जीवनचरितों के आधार पर इस युग में कई जीवनी-काव्य रचे गये थे। उनमें गोविन्द दास का कड़चा, जयानन्द का चैतन्यमंगल, वृन्दावनदास का चैतन्यभागवत, लोचनदास का चैतन्यमंगल एवं कृष्णदास कविराज का चैतन्यचरितामृत—चैतन्यदेव की अलौकिक जीवन-गाथा विभिन्न प्रकार तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्णित हुई है। 'गोविन्ददास का कड़चा' गोविन्ददास नामक चैतन्यदेव के एक सहचर द्वारा रचा गया है। इसकी भाषा और वर्णन सहज, सरल और सुन्दर है। जयानन्द के 'चैतन्यमंगल' में बहुत-से ऐतिहासिक तथ्य हैं, वृन्दावनदास का 'चैतन्यभागवत' भागवत के आदर्श पर चैतन्यदेव की जीवनी है। लोचनदास पदावली-रचयिता कवि थे। अतः, उनके द्वारा रचित 'चैतन्यमंगल' में कल्पना की उड़ान अत्यधिक है, फलस्वरूप चैतन्यदेव का जीवनचरित देवलीला की कोटि में पहुँच गया है। कृष्णदास कविराज का 'चैतन्यचरितामृत' अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें जीवनचरित, वैष्णव-दर्शन तथा भक्तितत्त्व का सुन्दर निर्वाह हुआ है। भाषा भी बड़ी सरल है। यह ग्रन्थ असाधारण पाण्डित्यपूर्ण है। चैतन्यदेव के सहचरों तथा भक्तों के जीवनचरित भी इस युग में रचे गये। भक्तिरत्नाकर, प्रेमविलास, अद्वैत-प्रकाश आदि चरित-काव्यों में चैतन्यदेव के पार्षदों एवं भक्तजनों की जीवनियाँ लिखी गई हैं। बँगला-साहित्य की प्रधान सम्पद् है—उसका पदावली-साहित्य। इस युग में यही पदावली-साहित्य विशेष समृद्ध तथा पुष्ट हुआ था। प्राक्चैतन्य-युग में भी पदावली-साहित्य था; किन्तु महाप्रभु-प्रवर्तित प्रेम और भक्ति-धर्म ने इस पदावली-साहित्य को जैसे नये मन्त्र, नये स्वर तथा नये प्राण से संजीवित कर दिया था। चण्डीदास तथा विद्यापति यद्यपि चैतन्यदेव के समसामयिक नहीं थे, तथापि पदावली-साहित्य की आलोचना के अवसर पर इनके नामों का उल्लेख करना अत्यावश्यक है। चण्डीदास की असंख्य कविताएँ हैं। भावों की गम्भीरता में, भाषा की माधुरी में, छन्दों के झङ्कार में ये अनूठी हैं। यहाँ एक उदाहरण में उनके विशिष्ट गुणों का परिचय प्राप्त हो सकेगा—

सदाइ धेयाने चाहे मेघ पाने
ना चले नयनेर तारा।
आउलाइया वेनी फुलये गाँथनि
देखये खसाये चुलि।
हसित वदने चाहे मेघपाने
कि कहे दुहात तुलि।
एक दिठ करि मयूर मयूरी
कण्ठ करे निरीखने।

[राधिका कृष्ण-प्रेम में कंगालिन बनकर मेघ में श्रीकृष्ण का रूप देख रही हैं। वे अपने काले कुन्तल-पाश में, मयूर-मयूरी के कण्ठ में, श्रीकृष्ण के रूप की छाया देख रही हैं।]

विद्यापति का जन्म यद्यपि मिथिला में हुआ था एवं उन्होंने मैथिली-भाषा में अपनी पदावली रची थी, तथापि मिथिला के साथ बंगाल का जो घनिष्ठ सम्पर्क उस समय बना हुआ था, उसके कारण विद्यापति सदा बंगाल के अपने कवि के रूप में परिचित रहेंगे। चण्डीदास की कविता में सुख के बीच में भी दुःख, मिलन के बीच में भी विच्छेद की आशङ्का बनी रहती है; किन्तु विद्यापति के सुख में लेशमात्र भी दुःख की रेखा नहीं पड़ने पाती, विरह की आशङ्का में मिलनानन्द कभी व्याहत नहीं होता, इसलिए विद्यापति की कविता में नवीनत्व है। विद्यापति की पदावली की अन्यतम विशेषता यह है कि बहुत-से स्थानों में उनकी पदावली में राधाकृष्ण को उपलक्ष्य-मात्र मान पार्थिव प्रेम ही वर्णित हुआ है। उनके बहुत-से ऐसे भी पद मिलेंगे, जिनमें राधाकृष्ण के नामों तक का उल्लेख नहीं किया गया है। इनमें सर्वदेश तथा सर्वकाल के प्रेमी-प्रेमिकाओं का रूप राधाकृष्ण के प्रणय-दर्पण से कवि के काव्य में प्रतिविम्बित हो उठा है। इस श्रेणी के पदों में मर्त्यवासी प्रेमिक-प्रेमिकाओं की व्यथा-पीडा, आशा-आनन्द जैसे मूर्त्त हो उठे हैं। इन कविताओं में अद्भुत सार्वजनीन आवेदन मिलता है। इन सब विशिष्टताओं से पूर्ण यह उद्धरण है—

आजु रजनी हाम भागे पोहायलु
पेखलुँ पिया मुख चन्दा
जीवन यौवन सफल करि मानलुँ
दश दिश भेल निरदन्दा
आजु मझु गेह गेह करि मानलुँ
आजु मझु देह भेल देहा
आजु विहि मोहे अनुकूल होयल
टुटल सबहुँ सन्देहा

विद्यापति तथा चण्डीदास के अतिरिक्त ज्ञानदास, बलरामदास, नरोत्तमदास आदि बहुत-से पद-रचयिताओं के द्वारा इस युग का पदावली-साहित्य यथेष्ट उन्नत हो गया था। पदावली-संग्रह-साहित्य इस युग की अतुलनीय साहित्यिक सम्पद् है। आउल मनोहरदास-संकलित 'पदसमुद्र', श्रीनिवास आचार्य के पौत्र राधामोहन ठाकुर का 'पदामृतसमुद्र', वैष्णवदास का 'पदकल्पतरु' आदि पदावली-संग्रह अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

इस युग में वैष्णव-पदावलियों के साथ-साथ मंगलकाव्य भी रचे जाने लगे थे। लाउसेन की कथा के आधार पर कई 'धर्ममंगल' काव्य रचे गये थे, जिनमें माणिक गांगुली का 'धर्ममंगल,' खेलाराम का 'धर्ममंगल' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

इस युग में कालकेतु व्याध तथा श्रीमन्त सौदागर की कहानियों का आश्रय लेकर चण्डी-मंगलकाव्य भी रचे गये थे। जितने भी चण्डीमंगल काव्य उपलब्ध हुए हैं, उनमें माधवाचार्य का चण्डीमंगल तथा कविकंकण मुकुन्दराम चक्रवर्ती का चण्डीमंगल सर्वाधिक

प्रसिद्ध हैं। कविकंकण का वर्णन अत्यन्त सुन्दर तथा स्वाभाविक हुआ है। मध्ययुग के कवियों में वे दुःख के वर्णन और विशेषतः वास्तव चित्रांकन में बेजोड़ थे। काशीरामदास-रचित महाभारत भी इसी युग की रचना है। चन्द्रावती नामक महिला-कवि ने इस युग में रामायण की भी रचना की थी। इस युग का अनुवाद-साहित्य एक मुसलमान कवि आलाओल की रचनाओं से समृद्ध हुआ था। इन्होंने जायसी-कृत 'पद्मावत' का बँगला में अनुवाद किया था। आलाओल रसज्ञ वैष्णव कवि थे। इनके रचे राधाकृष्ण-लीलाविषयक कुछ पद भी प्राप्त हुए हैं। भावों की गंभीरता, अनुभूति की प्रगाढता एवं वर्णन-कुशलता में ये पद अपूर्व माधुर्यपूर्ण हैं।

अन्त-मध्ययुग—चैतन्योत्तर काल के कवियों में शाक्त पदावली रचयिता रामप्रसाद तथा 'अन्नदामंगल' के रचयिता भारतचन्द्र विशेष उल्लेखनीय हैं। रामप्रसाद श्यामा-संगीत (कालिका-सम्बन्धी) के आदिकवि हैं; आगमनी तथा विजया (दुर्गा-सम्बन्धी) गान के आदिकवि हैं। किन्तु, रामप्रसाद की ख्याति उनके काव्य के उत्कर्ष के लिए नहीं, वरन् आत्मनिवेदन, तन्मयता तथा भक्ति की सहज अभिव्यक्ति के लिए फैली है।

अष्टादश शताब्दी के श्रेष्ठ कवि भारतचंन्द्र का 'अन्नदामंगल' मंगल-कोटि का काव्य है। यह ग्रन्थ तीन काव्यों का संग्रह है—अन्नदामंगल, कालिकामंगल एवं विद्यासुन्दर। इनकी रचनाओं में जिस प्रकार अलंकारों का प्राचुर्य है, उसी प्रकार भाषा और छन्द का सौन्दर्य भी है। शब्दों पर इनका अधिकार अद्भुत था—बँगला के निजी शब्दों के साथ संस्कृत, अरबी और फारसी का ऐसा सुन्दर मिश्रण किया है कि भाषा बड़ी ही प्रभावोत्पादक तथा चमत्कार-पूर्ण हो गई है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों का पुट उनकी अपनी विशेषता है। भारतचन्द्र के पश्चात् बँगला-साहित्य का एक नूतन अध्याय प्रारम्भ होता है और सबसे आधुनिक युग की उत्पत्ति मानी जाती है।

बँगला-साहित्य के आधुनिक युग की आलोचना करने के पूर्व इसकी मध्ययुग तक की विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख कर देना उचित होगा। विश्व के समस्त साहित्यों का प्रथम आत्मप्रकाश पहले पद्य में हुआ। बँगला भी अपवाद नहीं। अतः प्रथमतः, इस युग का साहित्य केवल पद्य में ही उपलब्ध है। द्वितीयतः, इस युग के साहित्य की विषयवस्तु अत्यन्त ही सीमाबद्ध रही तथा इतिवृत्तात्मकता एवं गतानुगतिकता इस युग के साहित्य के अन्यतम लक्षण हैं। इस युग के कवियों की प्रतिभा लौकिक धर्म-साहित्य, अनुवाद, जीवनचरित-साहित्य, पदावली-साहित्य आदि की रचना में विकसित हुई थी। तृतीयतः, इस युग के कवियों की जीवनी एवं समय आदि विषयों का विवरण अत्यन्त ही स्वल्प ज्ञात हो सका है।

सन् १८०० से १८२५ ई० की अवधि में कविवालों के गाने (कवि से निम्न स्तर के रचयिता), पांचाली गान (तुकबन्दी), टप्पा गान (समस्यापूर्त्ति जैसी कविता) आदि रचे गये थे। यह समय बँगला-साहित्य के लिए एक युगसन्धि-काल है। विविध प्रकार की यात्राओं में (परदा-विहीन अभिनय नौटंकी की भाँति) खेले जानेवाले विभिन्न प्रकरणों पर रचित रचनाएँ भी इस युग की विशेषता है। कविवालों में राम वसु, आन्तु गोसाईं,

एँटनी फिरंगी, हरु ठाकुर, भोला मयरा, रामू, नृसिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पांचाली-रचयिताओं में दाशरथि राय, टप्पा-रचयिताओं में रामनिधि गुप्त तथा यात्रा-लेखकों में गोपाल उड़िया के नाम अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इन व्यक्तियों की कविताओं में बीच-बीच में कवित्व तथा कल्पना का सुन्दर स्फुरण होने पर भी गान-रचयिताओं अथवा पांचाली, और टप्पा-रचयिताओं को प्रथम श्रेणी की कविमर्यादा नहीं दी जा सकती। इस युगसन्धि-काल के अवसान पर ईश्वरचन्द्र गुप्त (१८११—५८) की काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ था। ईश्वरचन्द्र में ही आधुनिकता का उन्मेष दिखाई देने लगा था। उनमें एक ओर युगसन्धि-काल की विशेषताओं का प्रभाव दिखाई देता था, तो आधुनिकता के उपकरण भी स्पष्ट परिलक्षित होते थे। उनकी कविताओं की अन्यतम विशेषता है—स्वदेश-प्रेम। गुप्त कवि ने बँगला-साहित्य में सर्वप्रथम स्वदेश-प्रेममूलक कविताएँ लिखीं। उनकी एक और विशेषता है—व्यंग्य-कविता-रचना तथा प्रत्यक्ष वर्णन-निपुणता। 'संवाद-प्रभाकर' नाम का समाचार-पत्र प्रकाशित कर नवीन लेखकों को प्रोत्साहित करना भी इनका काम था। बीच-बीच में सर्वश्रेष्ठ रचनाओं के लिए पुरस्कार-घोषणा भी की जाती थी। फलस्वरूप, इस 'संवाद-प्रभाकर' को केन्द्र मान एक लेखक-गोष्ठी पनपी। रंगलाल वंद्योपाध्याय, मनोमोहन वसु, द्वारकानाथ अधिकारी, वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, दीनवन्धु मित्र सभी को 'संवाद-प्रभाकर' की कृपा से लेखनी चलाने का अवसर मिला और वे सिद्धहस्त लेखक बन सके।

कविवर माइकेल मधुसूदन दत्त का आविर्भाव बंगाल के जातीय जीवन के एक ऐसे सन्धि-क्षण में हुआ, जब शुद्ध रुचि के अभाव से, यमक-अनुप्रास के प्राचुर्य एवं अर्थहीन शब्दविन्यासप्रियता के कारण अँगरेजी-शिक्षित नूतन सम्प्रदाय अपनी मनस्तुष्टि की सामग्री न पा पाश्चात्य काव्यरस-पिपासु हो चला था। माइकेल असाधारण प्रतिभा लेकर बँगला-साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। प्रकृतिदत्त शक्ति, प्रतिभा तथा असाधारण आत्मविश्वास के सहारे बंगाल के इस नवीन कवि ने पाश्चात्य–साहित्य से नाना प्रकार के उपकरणों का संग्रह कर अपनी मातृभाषा को परिपुष्ट किया—भाव-वैचित्र्य तथा गांभीर्य से बँगला-भाषा को समृद्ध किया। मधुसूदन ने सिद्ध कर दिखाया कि बँगला-भाषा निर्जीव नहीं हैं, यह सजीव भावधाराओं की वाहिका बन सकती है, दृढ़ता और भाव-प्रकाशन में यह किसी भी उन्नतिशील भाषा की समकक्षता कर सकती है। मधुसूदन प्रधानतः कवि थे एवं बँगला-काव्य-साहित्य में उनका प्रथम दान है—तिलोत्तमासम्भव-काव्य। नाटक-रचनाओं के द्वारा उनकी प्रतिभा को वल मिला और 'शर्मिष्ठा,' 'पद्मावती', 'एकेइ कि बले सभ्यता' तथा 'बुड़ो शालिकेर घाड़े रोंया' आदि उल्लेखनीय नाटक एवं प्रहसन इन्होंने रच डाले। 'तिलोत्तमासम्भव-काव्य' में छन्दों का जो विशेषत्व तथा अभिनवत्व है, उसी का सुन्दरतर रूप 'मेघनादवध' काव्य में मिलता है। 'मेघनादवध' काव्य की मूल आख्यायिका रामायण से गृहीत होने पर भी मधुसूदन ने चिरपुरातन आदर्श त्याग कर राक्षसों के प्रति अनुकम्पा तथा सहानुभूति प्रदर्शित की है। कवि के वर्णन-गुण के चमत्कार से राक्षस-परिवार के लिए हमारी आँखें भी अश्रु-सजल हो उठती हैं। उनके स्वदेश एवं स्वजाति-प्रेम से हम मुग्ध हो जाते हैं। उनके दुःख और

विपर्यय से हमारा अन्तर उद्वेलित हो उठता है। मेघनादवध-काव्य करुणरसप्रधान है। यद्यपि कवि ने काव्य के प्रारम्भ में कहा है—गाइब मा वीर हसे, तथापि इस काव्य में करुणरस ही आद्योपान्त प्रधान हो उठा है। रावण के करुण विलाप से काव्य का प्रारम्भ होता है तथा मेघनाद की मृत्यु हो जाने पर प्रमिला के सहमरण एवं रावण के मर्मभेदी आर्तनाद से काव्य की समाप्ति होती है—

> सेविनु शिवेर आमि बहु यत्न करि,
> लभिते कि एइ फल? केमने फिरिब,
> ... ...
> सान्तनिब माये तब, के कबे आमारे?
> हा पुत्र, हा वीरश्रेष्ठ! चिरजयी रणे
> हा मातः राक्षसलक्ष्मि! कि पापे लिखिला
> ए पीड़ा दारुण विधि रावणेर भाले?

मधुसूदन के उपरान्त बँगला-काव्य-साहित्य में हेमचन्द्र वंद्योपाध्याय एवं नवीनचन्द्र सेन के नाम उल्लेखनीय हैं। मधुसूदन की भाँति हेमचन्द्र ने भी महाकाव्यों की रचना की थी—वृत्तसंहार तथा वीरबाहुकाव्य। इनके अलावा उन्होंने बहुत-से खण्ड-काव्यों की रचना भी की थी। नवीनचन्द्र सेन के काव्य की मूलवस्तु है—स्वदेश-प्रेम। 'पलाशीर युद्ध' यद्यपि उनकी प्रथम रचना है, तथापि उसमें उनका स्वदेश-प्रेम एवं अधःपतित बंगजन के लिए तीव्र वेदना अत्यन्त स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है।

पाश्चात्य साहित्य के आधार पर नूतन गीति-कविताओं के आदिकवि हैं—विहारीलाल चक्रवर्त्ती। काव्यसृष्टि में व्यक्तिगत स्वतंत्र प्रेरणा के पोषक ये ही विहारीलाल हैं। इनके भाव, भाषा और छन्द गीति-कविताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी बन पड़े हैं। विहारीलाल द्वारा प्रवर्त्तित पथ पर रवीन्द्रनाथ ने अपनी यात्रा प्रारम्भ की। इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ हैं। रवीन्द्रनाथ प्रधानतः कवि होने पर भी सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न होने के कारण साहित्य का ऐसा कोई अंग नहीं रहा, जो उनसे अछूता रह गया हो, उनके स्पर्श से उज्ज्वल न हो उठा हो।

काव्य-साहित्य में विचित्रता प्रदान कर उसे संजीवित करने का श्रेय रवीन्द्रनाथ को है। उनका काव्य किसी विशेष विषय, सुर, छन्द अथवा कल्पना को आश्रय बना मुखर नहीं हो उठा, वरन् वेग एवं गति, प्राण एवं परिवर्त्तन—रवीन्द्र-काव्य की विशेषताएँ हैं। रवीन्द्रनाथ के गान उनकी कविताओं की तरह बँगला-साहित्य की अमूल्य संपद् के रूप में स्वीकृति लाभ कर चुके हैं। इन गानों में शब्द-चयन और सुर का अपूर्व समन्वय हुआ है। रवीन्द्रनाथ के गान कई भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—देशप्रेममूलक, भक्तिमूलक तथा ऋतु-सम्बन्धी ऋतुओं के गानों में कवि-प्रतिभा का परिचय मिलता है, तो भक्तिमूलक गानों की विशेषता है—भावगाम्भीर्य एवं गम्भीरता। देशप्रेममूलक गानों में बलिष्ठता एवं सारे दुःखों को पराजित करने की आकांक्षा मूर्त्त हो उठी है। उनके उच्चांग संगीत भी अपूर्व बन पड़े हैं। वास्तव में रवीन्द्र-काव्य का स्वरूप-निर्णय करना और वह भी संक्षेप में, दुस्साहस करना है।

रवीन्द्रनाथ ने जिस युग में काव्य-रचना की, उस युग के दो और कवियों के नाम स्मरणीय हैं। इनमें एक हैं—काजी नजरुल इस्लाम और दूसरे हैं—सत्येन्द्रनाथ दत्त। काजी नजरुल इस्लाम विप्लव के कवि हैं। इनकी कविताओं में वलिष्ठ युवशक्ति का दुर्निवार आत्मप्रकाश हुआ है। इस वलिष्ठता को प्रकट करने के लिए इन्होंने यथेष्ट अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। ये अन्यतम संगीत-स्रष्टा भी हैं। इनकी कविता की वलिष्ठता तथा साहस इस उद्धरण से ज्ञात हो जायगा—

बल वीर, बल उन्नत मम शिर
शिर नेहारि आमार नत शिर ऐ
शिखर हिमाद्रिर।
बल महा विश्वेर महाकाश काड़ि
चन्द्र सूर्य ग्रह तारा छाड़ि
द्युलोक, भूलोक, गोलक भेदिया
खोदार आसन आरश छेदिया
उठियाछि आमि चिर विस्मय
विश्व विधातृर

अथवा—

साम्येर गान गाइ
आमार चक्षे पुरुष रमणी कोनो
भेदाभेद नाइ।

रवीन्द्रनाथ ने स्वयं सत्येन्द्रनाथ को 'छन्देर राजा' (छन्दों का राजा) कहकर स्वीकार किया था। संस्कृत के छन्दों का प्रयोग आपने बँगला में किया था। साथ ही अँगरेजी सुर भी बँगला छन्दों में प्रयुक्त कर नूतन माधुर्य प्रदान किया था—

पालकी चले
गगन तले
सात वेहारा
योयान तारा

अथवा—

बाघेर संगे युद्ध करिया आमरा बाँचिया आछि
आमरा हेलाय नागेरे नाचाइ सापेरि माथाय नाचि।

आधुनिक युग के कवियों द्वारा नवीनतर प्रयोग और धारा-विशेष के प्रवर्त्तन की चेष्टा की जा रही है। विषय-वस्तु के अभिनवत्व की खोज का प्रयास किया जा रहा है। परम्परानुगत विषय-वस्तु का अनुसरण न कर वे समाज की अवहेलित, उपेक्षित, निपीडित मानव की पुकार को अपने काव्य की विषय-वस्तु बना रहे हैं। इस युग के कवियों में प्रेमेन्द्र मित्र, जीवनानन्द दास, बुद्धदेव बसु, सुकान्त भट्टाचार्य, सुभाष मुखोपाध्याय, दीनेश दास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रेमेन्द्र मित्र ने ही सर्वप्रथम इन उपेक्षितों को काव्य में स्थान दिया। वे ही सर्वप्रथम गा उठे—

आमि कवि एइ कुमोरेर आर कामारेर।

रवीन्द्रनाथ में Free Verse—गद्य-पद्य लिखने की जो धारा विकसित हुई थी, उसी का परवर्त्ती पदक्षेप इस युग के कवियों में परिलक्षित होता है।

अब तक बँगला-साहित्य की एकांगी झलक मिलती रही। बँगला-गद्य के सम्बन्ध में आलोचना करने के पूर्व यह स्मरण रहे कि मध्ययुग-पर्यन्त बँगला के लिए केवल काव्य-साहित्य ही उपलब्ध था। कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त से जो युग आरम्भ होता है, तब से गद्य का प्रयोग साहित्य-क्षेत्र में होने लगा। राजा राममोहन राय ने उन्नीसवीं शताब्दी में साहित्य के वाहन के रूप में बँगला-गद्य का प्रयोग किया था; किन्तु बँगला-साधुभाषा में गद्यरीति को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने पूर्णता प्रदान की। बँगला-साधुभाषा में प्रयुक्त अधिकांश शब्द संस्कृत तत्सम होते हैं। अतः, विद्यासागर की रचनाओं में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग स्वाभाविक ही है। किन्तु, विद्यासागर की भाषा सर्वत्र तत्सम-बहुल नहीं है। योग्य स्थान और वातावरण मिलने पर सुललित तत्सम शब्दों तथा तद्भव क्रियापदों के प्रयोग उनकी शैली का परिचय देते हैं। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने मुहावरों का भी प्रयोग किया है। इस उद्धरण में उनकी इस कुशलता का परिचय मिल जायगा—

जयश्रीर ज्ञानोदय हइल। तखन से प्रियतमा के मृत स्थिर करिया सखीर निकटे गिया पूर्वापर समस्त व्यापार ताहार गोचर करिया कहिल—'सखि आमि विषम विपदे पड़ियाछि, कि उपाय करि बल, गृहे गिया केमन करिया पिता मातार निकट मुख देखाइब, ताँहारा कारण जिज्ञासिले कि उत्तर दिब।'

प्यारी चाँद मित्र ने बँगला चलित भाषा के गद्य में अभिनव लघुभंगिमा का प्रवर्त्तन किया था। पाश्चात्य आदर्श पर आधृत नावेल (उपन्यास) का सूत्रपात प्यारी चाँद मित्र, अर्थात् टेकचाँद ठाकुर-चरित 'आलालेर घरेर दुलाल' द्वारा हुआ—

हेंदुर लेड़का हए मांकिक पाल पार्वनकरा मानासेब, आर दुनियादारी करते गेले भाला-बुरा दुई चाई—दुनिया साचा नय—मुइ एक साचा हये कि करब?

भाषा और भाव की दृष्टि से जिन लोगों ने प्यारी चाँद का अनुवर्त्तन किया था, उनमे कालीप्रसन्न सिंह प्रधान हैं। हुतोम पैंचार नक्शा एकदम कथ्य भाषा में लिखित पुस्तक है। इसमें साधुभाषा का विकार मिश्रण नहीं किया गया है; पर यह भाषा रससृष्टि की दृष्टि से अनुपयुक्त है—

इंराजी पड़ले पाछे खाना खेये क्रश्चान हये जाय एइ भये तिनि छेलेगुलि के इंराजी पढ़ान नि—अथच विद्यासागरेर उपोर भयानक विद्वेष निबन्धन संस्कृत पढ़नाओ हये उठे नाइ—विशेषतः शूद्रेर संस्कृतते अधिकार नाइ एटिओ ताँर जाना छिलो।

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की रचना-शैली मौलिक है। उनकी भाषा भाव-प्रकाशोपयोगिनी एवं अनुगत है। भाषा और भाव का सुन्दर समन्वय वन पड़ा है—

येमन नदी प्रथम जलोच्छ्वासकाले अत्यन्त वेगवती, किन्तु जोयार पुरिले गम्भीर जल शान्तभाव धारण करे, तेमनि नगेन्द्रेर सम्पूर्ण शोक-प्रवाह एक्षणे गम्भीर शान्तिरूपे परिणत हइयाछिल। ये दुःख, ताहा किछुइ कमे नाइ, किन्तु अधैर्येर ह्रास पाइया आसियाछिल............।

रवीन्द्रनाथ की गद्य-रचना की अन्यतम विशेषता उनके व्यक्त करने का असाधारण सरस ढंग है। रवीन्द्रनाथ की गद्यरीति में वाक्यालङ्कार के बीच उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, श्लेष और विरोध का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। किन्तु, रवीन्द्रनाथ की गद्य-रचना का अलङ्कार भूषणभार नहीं है, वह स्वाभाविक तथा सहज-सौन्दर्य है।

छोटी कहानी-रचना में रवीन्द्रनाथ के बाद ही प्रभातकुमार मुखोपाध्याय का नाम लिया जाता है। प्रभातकुमार की भाषा के मूल में रवीन्द्र-प्रभावित वंकिम की पद्धति है। वह सरल, अनाडम्बर, हृदयग्राही, सरस, उज्ज्वल और सुन्दर है।

प्रमथ चौधुरी बँगला-गद्य की एक विशेष रीति के प्रवर्त्तक हैं। यह वीरवली ढंग है; क्योंकि प्रमथ चौधुरी 'वीरवल' छद्मनाम से सरस निबंध-रचना किया करते थे। इस भाषा का प्रधान विशेषत्व यह है कि कथ्य भाषा को ही मूलरूप से लिया गया है; पर उसमें तत्सम शब्द एवं वाक्यांश भी यथेष्ट मिलते हैं—

आमादेर मन सहजे एवं शिक्षार गुणे एतटा वैषयिक ये विषयेर अवलम्बन छेड़े दिले आमादेर मनेर क्रिया वन्ध हय, वलवार कथा किछु थाके ना, हाओयार ऊपर चला यत सहज, फाँकार ऊपर लेखाओ तत सहज........................।

शरत्चन्द्र की रचना-रीति अपूर्व है। नारी-सुलभ अतिशयोक्तिपूर्ण वाक्यों का प्रयोग शरत्चन्द्र की भाषा का एक प्रधान वैशिष्ट्य है। उनकी भाषा का सर्वप्रधान गुण यह है कि वह कथा की अनुरूप वाहिका, स्वच्छ एवं मनोरम है—

आर सामाजिक वाधा आमादेर दुजनेर मध्ये ये कत वड़ छिल, ए शुधु ये तिनिइ जानतेन, आमि जानतुम ना, ता नय। भावलेइ आमार वुकेर समस्त रस शुकिये काठ हये उठत, ताइ भावनाय एइ विश्री दिक्टाके आमि दुहाते ठेले राखतुम।

बँगला-गद्यरीति की उत्पत्ति और क्रम-विवर्त्तन की आलोचना की गई; पर साहित्यिक और उनकी रचनाएँ इतनी हैं कि केवल नामोल्लेखकरण भी इस समय सम्भव नहीं होगा। वर्त्तमान बँगला-साहित्य में एक नूतन अध्याय का आरम्भ हो गया है। अबतक समाज में जो उपेक्षित, निपीडित थे, उनके जीवन को केन्द्र मान जिन साहित्यिकों ने नये साहित्य की रचना में अपनी लेखनी उठाई, उनमें माणिक वंद्योपाध्याय, शैलजानन्द मुखोपाध्याय, ताराशंकर वंद्योपाध्याय,

नारायण गंगोपाध्याय, बुद्धदेव बसु आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। छोटी कहानियों की रचना में आशापूर्णा देवी, प्रेमेन्द्र मित्र, विभूतिभूषण मुखोपाध्याय आदि प्रसिद्ध हैं।

समसामयिक बँगला-साहित्य के सम्बन्ध में अभी कुछ भी कहने का अवसर नहीं आया है; विशेष रूप से निर्धारण कर कुछ कहना कठिन है। यह परीक्षण एवं नवीन मनोभावों के संकलन का सन्धिक्षण है—केवल प्रयोगों का युग है। नवीन साहित्यिकों की परीक्षा, साधना सफल होगी कि नहीं, एकमात्र युग उसका साक्षी देगा और महाकाल बतला सकेगा।

—श्रीरेवतीरंजन सिन्हा



असमीया भाषा और साहित्य

असम

भारतवर्ष के उत्तर-पूर्व सीमान्त पर अवस्थित असम एक छोटा-सा राज्य है। बाहर के लोगों ने इसके बारे में कल्पना ही अधिक की है, सही परिचय पाने की चेष्टा कम। उनलोगों के लिए यह एक मंत्र-तंत्र और जादू-टोनों का प्रदेश है, भयानक जीव-जन्तु और जंगल-पहाड़ों का राज्य है—जहाँ सदा बाढ़ और भूकम्प आते रहते हैं। अधिक-से-अधिक, लोग यहाँ के कामाख्या-मंदिर, गुवाहाटी शहर, ब्रह्मपुत्र नदी और स्वर्गीय बारदलोईजी को जानते हैं। पर, असल में असम इन सबसे ऊपर और भी कुछ है, और भी बहुत-कुछ है।

यह भारत का एक बहुत ही सुरम्य प्रदेश है, जहाँ प्रकृति अपने सर्वाधिक सजीव और आकर्षक रूप में प्रकट हुई है। यह बापू का 'मनोहर असम' और पटेल का 'प्राकृतिक उद्यान' है। यहाँ मंत्र और जादू हैं प्रकृति में, जो किसी भी अजनबी को तुरन्त अपना बना लेते हैं। जीवन यहाँ का नृत्य और संगीतमय है—सादा-सीधा, पर बड़ा रँगीला। किन्तु, आज तो हमारा विषय है— असमीया भाषा और साहित्य। इसलिए, उसके जीवन के बारे में—उसकी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक परिस्थिति के बारे में हम यहाँ चर्चा नहीं कर सकते।

असम एक अति प्राचीन राज्य है। रामायण और महाभारत-काल में यह प्राग्ज्योतिषपुर तथा कामरूप नाम से प्रख्यात था। इसका प्राचीन इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण रहा है। पर, दुर्भाग्य की बात है कि उसे न तो भारतीय इतिहास में ही कोई स्थान मिला है और न अन्य प्रकार से उसके विषय में जानने की हमने कोई चेष्टा ही की है। कारण चाहे जो भी हो, पर यह सत्य है कि यह राज्य आज भी सारे देश के लिए एक गूढ़ पहेली-सा बना हुआ है।

असमीया भाषा और साहित्य का भी यही हाल है। भारत के बहुत कम लोगों को इनके बारे में जानकारी है। हम संक्षेप में आज इन्हीं विषयों पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

असमीया भाषा

सन् १९५१ ई० की लोक-गणना के अनुसार इस राज्य की जनसंख्या नब्बे लाख से कुछ ऊपर है, और असमीया भाषा बोलनेवालों की संख्या लगभग पचास लाख है। सुनकर आश्चर्य होगा कि यहाँ असमीया के अलावा करीब एक सौ और भी छोटी-मोटी भाषाएँ चलती हैं।

भातीय संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह भाषाओं में असमीया भी एक है। भाषा-विशेषज्ञों के मतानुसार असमीया भाषा का विकास भी बँगला, उड़िया और मैथिली की तरह मागधी-

अपभ्रंश से हुआ है। किन्तु, इसपर तिब्बती-वर्मन भाषाओं का प्रवल प्रभाव पड़ा है। इसलिए, इसके रूप में कुछ विशेष परिवर्त्तन आ गया है। असल में असमीया एक सामासिक (Composite) भाषा है, जिसके शब्द-भांडार में आर्यभाषाओं की प्रमुखता रहने पर भी यहाँ की प्रचलित खासिया, बड़ी, आहोम आदि अनार्यभाषाओं का भी एक खास स्थान है। इसके स्वतंत्र रूप को स्वीकार करते हुए डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते हैं—"असमीया अपनी एक स्वतन्त्र राज्य-सीमा तथा सामाजिक जीवन के अन्दर विकसित हुई, जो कालान्तर में एक स्वतन्त्र भाषा वन गई है।"

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग यहाँ आया था। उस समय भास्करवर्मा कामरूप देश के राजा थे। अपनी यात्रा-पुस्तक में तत्कालीन कामरूपी यानी असमीया भाषा के वारे में ह्वेनसांग ने लिखा था—"कामरूप की जनभाषा मध्य-भारत की भाषा से प्रायः मिलती-जुलती-सी है; दोनों में वहुत कम भेद मालूम होता है।" इस कथन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सातवीं शताब्दी के पूर्वभाग में ही मागधी-अपभ्रंश का इस प्रदेश में प्रचलन और विस्तार हो चुका था तथा देश-काल और जलवायु की भिन्नता के कारण उसका कुछ रूपान्तर भी होने लगा था। इस तरह वदलते-वदलते दसवीं शताब्दी तक वह एक अलग और स्वतन्त्र भाषा बन गई। किन्तु, वाद में भी वह करीव चार सौ वर्षों तक केवल वोलचाल की भाषा ही वनी रही। साहित्यिक रूप तो उसने तेरहवीं शताब्दी में जाकर धारण किया।

आज की असमीया भाषा और भी अधिक समृद्धिशाली है। इसने अरवी, फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओं के भी काफी शब्द पचा लिये हैं। इसका शब्द-भांडार आज किसी भी प्रान्तीय भाषा के शब्द-भांडार से कमजोर नहीं। यह व्रजभाषा की तरह कोमल और श्रुति-मधुर भी है। इसका कारण यह है कि युक्ताक्षर-युक्त कड़े और कर्कश शब्दों का प्रयोग इस भाषा में वहुत कम होता है। लोगों ने तोड़-मरोड़कर भक्ति से भकति, पद्म से पदुम, स्नेह से चेनेह, द्वन्द्व से दन, कीर्त्ति से किरित, स्वर्ग से सरग, उत्सव से उछव आदि वना लिये हैं।

उच्चारण की विशेषता

बँगला की तरह असमीया भाषा में भी अ-कार का उच्चारण ओ-कार-सा होता है। च और छ दोनों वर्णों का एक-सा उच्चारण स होता है। मूर्द्धन्य और दन्त्य वर्णों के उच्चारण में खास भेद नहीं रहता। श, ष और स इन तीन अक्षरों का उच्चारण ह और ख का मिश्रण-सा तथा क्ष का ख्य होता है।

लिपि

वर्त्तमान असमीया और बँगला-लिपि में कोई खास अन्तर नहीं। सिर्फ बँगला में 'व' अक्षर नहीं है, जो असमीया में है और 'र', 'ह', 'रू', इस तीन अक्षरों की आकृतियाँ दोनों में भिन्न-भिन्न हैं।

साहित्य

साहित्य की भावधारा, जनता की अभिरुचि आदि को ध्यान में रखते हुए अध्ययन की सुविधा के लिए असमीया-साहित्य को हम चार काल-विभागों में बाँट सकते हैं—१. प्राक्-वैष्णव-काल, २. वैष्णव-काल, ३. बुरंजी या इतिहास-काल और ४. आधुनिक काल।

प्राक्-वैष्णव-काल

असमीया-साहित्य का यह युग कब से प्रारंभ होता है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सन् १२०० ई० में इसकी समाप्ति मानी जाती है। साहित्यिक असमीया भाषा अब भी अपभ्रंश के गर्भ में ही थी। इस युग की रचनाओं में बिहुनाम, धायनाम, बियानाम आदि प्रकार के लोकगीत तथा डाक-महापुरुष के नीति-वचन प्रमुख हैं। ये लोकगीत अलिखित रूप में रहने के कारण इनकी भाषा मँजते-मँजते अब बिलकुल आधुनिक-सी हो गई है। ये गीत बड़े कोमल, सरल और मर्मस्पर्शी हैं।

वैष्णव-काल

सन् १२०० ई० में आरंभ होकर सन् १६५० ई० में यह युग समाप्त होता है। असमीया-साहित्य का यह स्वर्ण-युग माना जाता है। इसमें असमीया-साहित्य ने जो उत्कर्ष प्राप्त किया है, वह आज भी अलंघ्य है। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल के साथ हम इसकी तुलना कर सकते हैं।

वैष्णव-काल के हम पुनः दो भाग कर सकते हैं—१. प्राक्शंकरदेव-युग और २. शंकरदेव-युग।

प्राक्-शंकरदेव-युग—इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं माधवकन्दलि। चौदहवीं सदी में ही इन्होंने रामायण का असमीया में अनुवाद किया था। असमीया-साहित्य की यह एक महान् रचना है। तुलसीदासजी के रामचरितमानस की तरह असमीया-जनजीवन में इस असमीया रामायण का एक अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक अनुवाद-ग्रन्थ होने पर भी इसके भावों की मौलिकता, वर्णन की सुन्दरता तथा भाषा की मधुरता पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। उदाहरण स्वरूप, सीता के मुँह से उर्मिला का रूप-वर्णन देखिए—

त्रैलोक्यमोहिनी कन्या महा रूपवती।
सुन्दर नासिका दन्तमु कुतार पांति॥
मृणाल युगल बाहु कृश मध्य देश।
कमल नयनी आकुंचित केश॥

और देखिए, विराध राक्षस का वर्णन—

चक्षु येन धोन्द काया अंगारर वर्ण।
नाक गोट बेंका कला हेन दुइ कर्ण॥
लह लह जिह्वा मुख माजत नरय।
अगनि खरडेक येन गह्वर ज्वलय॥

कितना सजीव और सुन्दर वर्णन है! शब्दों के झंकार से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

माधवकंदलि का दूसरा प्रसिद्ध काव्य है 'देवजित'। इसमें कवि ने श्रीकृष्ण को देवताओं में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। वास्तव में, माधवकंदलि के इन दो काव्य-ग्रन्थों की नींव पर ही आगे चलकर शंकरदेव-युग में असमीया वैष्णव-साहित्य की महान् इमारत खड़ी हुई।

दुर्गावर और पीताम्बर इस युग के दो अन्य लोकप्रिय कवि हैं। इन दोनों कवियों ने भक्तिरस की अपेक्षा शृंगाररस को अधिक प्रधानता दी है। पौराणिक ग्रन्थों से अपने काव्यों की कथावस्तु लेने पर भी देवता इनके हाथों में हाड़-मांस के साधारण मानव बन गये हैं और उनकी लीलाएँ मानवीय जीवन के सुख-दुःख और आवेग-अनुभूतिपूर्ण दैनन्दिन व्यापार। दुर्गावर की श्रेष्ठ कृति 'गीति-रामायण' तथा पीताम्बर की 'उषा-परिणय' हैं। 'गीति-रामायण' वाल्मीकि-रामायण का हू-ब-हू अनुवाद नहीं, उसके कतिपय मार्मिक और मनोहर चित्रों का गीतिमय रूप है। इन कवियों के गीतों में लौकिकता की प्रधानता होने के कारण ये बिलकुल लोकगीत-से लगते हैं। सामाजिक उत्सवों के अवसर पर लोग आजकल भी बड़े चाव से इन्हें गाते हैं। दुर्गावर के इस गीत की ओर ध्यान दीजिए। रावण द्वारा सीता-हरण के बाद राम के मन में कैसे विचार उठते हैं—

> अ कि लक्षण,
> गैला सीता मोक उपेक्षिया।
> तृणत शयन मोर वल्कल परिधान हे
> एहि दुख मने आलोचिया॥
> आखुटि करिया मोक
> मृगक पठाइला हे
> तोमाक पठाइला क्रोध करी
> मइ ना जानिल तान
> कपट हृदय प्राण
> तिरि माया बुजिते न पारी॥

हे लक्ष्मण, क्या सीता मुझे सचमुच छोड़कर चली गई! मेरे पास तृण-शय्या और वल्कल-परिधान के अलावा और कुछ है भी तो नहीं। मुझे मृग के पीछे भेजकर और तुम्हें क्रोध से दूर हटाकर इस दुःख से वह बच निकली। मैं अबोध उसके कपटी प्राण और त्रिया-चरित्र को नहीं समझ सका।

यह कवि की अपनी कल्पना है। वाल्मीकि के राम ने ऐसा कभी नहीं सोचा था।

हरिहर विप्र का 'बभ्रुवाहन-युद्ध' इस युग का एक और सुन्दर काव्य है। इसमें कवि की मौलिक प्रतिभा विशेष रूप से प्रकट हुई है। महाभारत के एक साधारण-से कथानक को कवि हरिहर विप्र ने अपनी प्रतिभा और कला के बल से एक अति सजीव काव्य में परिणत कर दिया है।

इसके बाद असमीया-भाषा, साहित्य, धर्म और समाज में जबरदस्त क्रान्ति पैदा करनेवाले, महान् कवि शंकरदेव का आविर्भाव होता है।

शंकरदेव-युग—महापुरुष शंकरदेव का जन्म सन् १४४७ ई० में हुआ था और तभी से इस युग का प्रारम्भ माना जाता है। असमीया-साहित्य ने इस युग में अभूतपूर्व उन्नति की। आज असमीया-साहित्य की जो श्रेष्ठ रचनाएँ मानी जाती हैं, वे सब इसी युग की देन हैं। शंकरदेव वर्त्तमान असमीया जाति और साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं। यहाँ की संस्कृति, सभ्यता, धर्म, भाषा, साहित्य और सभी चीजों पर उनके विचारों की गहरी छाप है। उन्होंने असमीया जीवन में आमूल परिवर्त्तन ला दिया था। असम में प्रचलित खूँखार शाक्तमत को उखाड़कर शान्त वैष्णव-मत की शंकरदेव ने यहाँ नींव डाली, जो आगे चलकर 'महापुरुषीया धर्म' के नाम से प्रख्यात हुआ। आज भी इस धर्म को माननेवाले विभिन्न सम्प्रदायों के लोग लाखों की संख्या में यहाँ मौजूद हैं।

शंकरदेव मूलतः एक धर्म-प्रचारक थे। साहित्य उनका साध्य नहीं, साधन-मात्र था। उनकी भक्ति और साधना के मूल आधार थे श्रीकृष्ण भगवान्। उन्होंने करीब तीस ग्रन्थ रचे हैं, जिनमें 'कीर्त्तनघोषा' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमें उन्होंने गीता, भागवत, ब्रह्मपुराणादि कई संस्कृत-शास्त्रों का सार-मर्म अति सरल और मधुर भाषा में भर दिया है। असमीया-साहित्य की यह एक अनुपम रचना है। यह ग्रन्थ शंकरदेव के समस्त धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करता है।

असमीया-साहित्य के सर्वप्रथम नाटककार भी शंकरदेव ही हैं। पारिजातहरण, कालियदमन, रुक्मिणीहरण, रामविजय और पत्नीप्रसाद—ये उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इनकी रचना भी कृष्णलीला के प्रचार के लिए हुई थी और धर्मप्रचार ही इनका मूल उद्देश्य था। प्राचीन यूनानी नाटकों के 'कोरस' की तरह इन असमीया-नाटकों में 'सूत्रधार' शुरू से अन्त तक रहता है, और विभिन्न घटनाओं का तात्पर्य वह दर्शकों को समझाता जाता है।

इन नाटकों में गद्य और पद्य दोनों का व्यवहार हुआ है। नाटक के सभी गीतों को पुनः गद्य में समझाया गया है। पर, साहित्यिक दृष्टि से नाटकों के गीतांश ही विशेष महत्त्व रखते हैं। असमीया में ये नाटक 'अंकीया भाओना', अर्थात् एकांकी अभिनय कहलाते हैं। प्राचीन यूनानी नाटकों की तरह इनमें भी सिर्फ एक ही अंक रहता है।

शंकरदेव के इन नाटकों की भाषा कुछ अजीब-सी है—असमीया और मैथिली का सम्मिश्रण। इसका कारण समझ में नहीं आता। हो सकता है, मैथिल-कोकिल विद्यापति का अनुकरण करने की चेष्टा के फलस्वरूप ऐसा हुआ हो।

शंकरदेव के परम शिष्य माधवदेव ने भी इसी ढंग के कई नाटक लिखे, जिनमें 'चोरधरा' बहुत ही प्रसिद्ध है।

अब हम शंकरदेव के उन गीतों को लेते हैं, जो 'बरगीत' के नाम से प्रख्यात हैं। ये बरगीत आध्यात्मिक और नैतिक भावों की भित्ति पर अवस्थित हैं। इन गीतों में भावों की गंभीरता

और भाषा की मधुरता देखने ही लायक है। असमीया-जीवन में इनका इतना महत्त्व है कि विना 'वरगीत' के कोई भी धार्मिक और सांस्कृतिक उत्सव पूर्ण नहीं होता।

शंकरदेव ने दो बार भारत-भ्रमण किया था। वे देश के सभी तीर्थ-स्थानों पर गये। बनारस में महात्मा कबीर से भी वे मिले। इसी यात्रा-काल में वृन्दावन में उन्होंने कृष्णोपासक कवियों के भक्तिरस से परिपूर्ण मधुर गीत सुने होंगे। उन्हीं से प्रेरित होकर शंकरदेव ने भी अपने वरगीत लिखे हैं। उन्होंने कुल २४० वरगीत रचे थे, जिनमें अधिकांश एक अग्निकांड में स्वाहा हो गये। बाद में उनका आदेश पाकर उनके शिष्य माधवदेव ने दो सौ के करीब 'वरगीत' और रचे।

शंकर-माधव के ये वरगीत असमीया-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। सूर, कबीर और मीराँ के गीतों के साथ हम इनकी तुलना कर सकते हैं। भाषा भी इनकी विलकुल व्रज से मिलती-जुलती है। यह एक शंकरदेव का वरगीत है —

अथिर धन जन जीवन यौवन
अथिर एहु संसार।
पुत्र परिवार सवही असार
करबु काहेरि सार।
कमल दल पल चित चंचल,
थिर नहे तिल एक।
नाहि भय भव भोगे हरि हरि
परम पद परतेक।
कहतु शंकर ए दुख सागर,
पार करु हृषिकेश।
तुहु गति मति देहु शिरीपति,
तत्त्व पंथ उपदेश।

वरगीतों की रचना भी धर्म-प्रचार के उद्देश्य से ही हुई थी। शंकरदेव के वरगीतों में जीवन की क्षणभंगुरता, भोग-विलास की असारता, हरि-भक्ति की महत्ता आदि भावों की प्रधानता है, जब कि माधवदेव के वरगीतों में वालकृष्ण की नटखट लीलाओं के रंग-विरंगे सुन्दर चित्र भी हमें देखने को मिलते हैं। असमीया-साहित्य में माधवदेव सूरदास की तरह वात्सल्य-रस के सम्राट् थे।

शंकरदेव के वाद माधवदेव ही इस युग के दूसरे श्रेष्ठ कवि हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इनका जन्म हुआ था और ये शंकरदेव के अति प्रिय शिष्य थे। हिन्दी-साहित्य में जो स्थान तुलसी और सूर का है, असमीया-साहित्य में वही स्थान शंकर और माधव का है।

'नामघोषा' माधवदेव की अमर साहित्यिक कृति है। यह गीता और उपनिषद् की कोटि का अनुपम दार्शनिक ग्रंथ है। इसमें प्रायः एक हजार पद हैं। यह संपूर्ण मौलिक रचना नहीं; क्योंकि इसके आधे पद संस्कृत से अनूदित हैं। पर भाव, भाषा और शैली की

दृष्टि से इसका साहित्यिक महत्त्व किसी भी मौलिक रचना से कम नहीं। इसके एक-एक अक्षर से कवि की आन्तरिक दास्यभक्ति प्रकट होती है। यह भक्तिरस ही इस ग्रन्थ की आत्मा है। इसके छंदों का झंकार, भावों की प्रगाढ़ता और भाषा की मधुरता के बीच से झाँकने लगता है। इसके रचयिता की भक्ति-विह्वल करुण तसवीर पर जरा गौर कीजिए—

मोर सम पापी लोक नहि के इ तिन लोक
तुमि सम नाहि पापहारी।
हरि ओ हरि करुणासागर
करियो कृपा आमाक।
प्रियतम आत्मा सखा इष्ट गुरु
मानिया आछो तोमाक।
चरणत धरो कातर करो हो
इवार नेरिवा मोक।

'इवार नेरिवा मोक'—इस वार तो मुझे मत छोड़ना। लाखों वार इस संसार के चक्कर काटे हैं मैंने! भव-बंधन से मुझे छुटकारा दिलानेवाला और कोई नहीं। मैं तेरे चरणों में पड़ता हूँ—वार-वार विनती करता हूँ। इस वार तो मुझे उवार ले भगवन्!

कैसी मार्मिक अपील है। कितना महान् आत्मसमर्पण है!

माधवदेव की और भी पन्द्रह पुस्तकें हैं। उनमें 'भक्तिरत्नावली' और 'वैष्णवकीर्त्तन' काव्य तथा 'चोरधरा' नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु, इन सवसे भी अधिक प्रख्यात हैं उनके वरगीत, जिनकी आलोचना हम पहले कर चुके हैं। वास्तव में, ये वरगीत उनके भक्त-हृदय की संगीतात्मक अभिव्यक्ति हैं।

शंकरदेव और माधवदेव के पश्चात् इस युग के अन्य प्रसिद्ध कलाकारों में हम राम-सरस्वती और श्रीधरकंदलि के नाम ले सकते हैं। रामसरस्वती ने संस्कृत-महाभारत का असमीया में सुन्दर अनुवाद किया है। इससे असमीया-साहित्य को नई प्रेरणा, नया जीवन और नई दृष्टि मिली है। कवि ने अपनी ओर से इस ग्रन्थ में कई नये उपाख्यान और उपकथाएँ जोड़ दी हैं। ऐसे स्थलों में हमें तत्कालीन असमीया जीवन की सुन्दर झाँकियाँ मिलती हैं। इस कवि का 'भीमचरित' नामक काव्य भी अपने ढंग की एक अनूठी रचना है। यह व्यंग्य, विनोद और हास्य का खजाना है। जन-समाज में इसका काफी आदर और प्रचार है।

'कानखोवा' श्रीधरकंदलि की एक अत्यन्त कलापूर्ण, सुन्दर, मौलिक रचना है। यह एक लोरी-गीत के रूप में है। इसमें कवि की कल्पना और कला दोनों ही देखने लायक हैं। कथावस्तु इसकी विलकुल साधारण है—वालक कृष्ण सोता नहीं, यशोदा माता उसे डराती है—

घुमटि जायोरे अरे कानाइ
दुरे कानखोवा आसे।
सकल शिशुरे कान खाइ-खाइ
आसय तोमार पाशे।

कन्हैया, सो जा। सव वच्चों के कान खाकर 'कानखोवा' अव तुम्हारे पास आ रहा है।

कृष्ण एक ओर पूर्णब्रह्म भगवान् का अवतार हैं, तो दूसरी ओर माया से आवद्ध एक साधारण मानव-शिशु। मन में डर तो है, पर फिर भी सोचता है—

अनादि स्वरूप जगत सृजिलों
चराचर भेद करि।
समस्त जगत प्रतिपाल करि
आत्मा रूपे आछों धरि॥
ब्रह्मा महेश्वर आदि करि यत
समस्ते मोर सृजना।
मइ ना जानिलो सिटो कानखोवा
सृजिलेक कोन जना।

अपने अनादि रूप में सारे संसार का मैंने सर्जन किया, पर इस 'कानखोवा' को किसने बनाया। इसके बाद उस बालक ने विभिन्न युगों में हुए अपने समस्त अवतारों को याद किया। अनेक दैत्य-दानवों से हुए भयानक संघर्ष स्मृति-पट पर आये। पर यह 'कानखोवा' वीर कहीं भी नजर नहीं आया। किन्तु हो सकता है, आज उसकी स्मरण-शक्ति ठीक से काम न कर रही हो और यह दैत्य कहीं ओने-कोने में भूल से रह गया हो, इसलिए अन्त में उदास और निराश होकर बाल-कृष्ण अपनी माँ से कहता है—

घुमटिर छले निचुकिया मइ
चकु मेलि थाको चाइ।
केनेकुवा गोटे कान खाइ फुरे
चिनायोक मोक आइ॥

माँ, मैं तुम्हारी गोद में नींद का बहाना बनाकर देखता रहूँगा। जब वह आवे, तो मुझे दिखाना, वह कैसे सबके कान खाता फिरता है।

अब माँ से रहा नहीं जाता। भयभीत बालक को छाती से चिपकाकर कह देती है—'अरे, मैं तो तुझे यों ही डरा रही थी।'

वास्तव में 'कानखोवा' असमीया-साहित्य का एक अनमोल रत्न है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि इस वैष्णव-काल में कई महान् कलाकारों ने अपनी सुन्दर कृतियों से असमीया-साहित्य को इतना समृद्ध और शक्तिशाली बना दिया कि वह सदा सर ऊँचा करके चल सके। भाषा की दृष्टि से वर्त्तमान की अपेक्षा उक्त युग की रचनाएँ हिन्दी के अधिक निकट हैं। शंकरदेव, माधवदेव आदि भक्त-कवियों की बहुत-सी रचनाएँ तुलसी, सूर और मीरा की रचनाओं की तरह प्रान्तीय नहीं, भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं। मैं इस ओर हिन्दी-संसार की नजर और दिलचस्पी आकृष्ट करना चाहता हूँ।

बुरंजी या इतिहास-काल

असमीया-साहित्य का आधुनिक काल असम में अँगरेजों के आगमन के साथ सन् १८२६ ई० से शुरू होता है। वैष्णव और आधुनिक काल के बीच सन् १६५० ई० से सन् १८२५ ई० तक यहाँ एक विशेष प्रकार के साहित्य का सर्जन हुआ। इस समय को हम बुरंजी-युग

कह सकते हैं। असमीया में 'बुरंजी' शब्द का अर्थ 'इतिहास' होता है, और इस युग को रचनाओं में ऐतिहासिक ग्रन्थ ही प्रधान हैं।

बाहर से आये हुए आहोम राजाओं की बुनियाद अबतक यहाँ काफी मजबूत हो गई थी। आहोम लोग अपनी निजी भाषा, संस्कृति और सभ्यता छोड़कर बिलकुल असमीया बन गये थे। उन लोगों ने असमीया-भाषा और साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन दिया। साहित्य-कारों को राजसभा में आश्रय देकर राजकीय उपाधियाँ प्रदान कीं।

साहित्य में अब कृष्णभक्ति का स्थान राजभक्ति ने ले लिया। अब राजाओं के गुण-कीर्तन और उनके कार्य-कलापों के वर्णन होने लगे। इतिहास लिखने की प्रवृत्ति आहोम लोगों की एक जातिगत विशेषता थी। राजाओं ने अपने साहित्यकारों का ध्यान इस ओर मोड़ा। सर्वप्रथम आहोम-भाषा में लिखित 'बुरंजियों' का असमीया-अनुवाद हुआ और बाद में इस प्रकार की मौलिक रचनाएँ भी होने लगीं। आज हमें असम के मध्ययुग का संपूर्ण इतिहास अत्यन्त व्यवस्थित और विशद रूप में इन ग्रन्थों से मिल जाता है। यह कम महत्त्व की बात नहीं।

इस युग के इतिहास-ग्रन्थों में कामरूप बुरंजी, कछारी बुरंजी, आहोम बुरंजी, जयन्तीया बुरंजी, पुरणि असम बुरंजी, कलिभारत बुरंजी, बेलिमार बुरंजी आदि का विशेष महत्त्व है। इनमें से शेष की दो रचनाएँ काव्य-रूप में हैं। असमीया-साहित्य के इस युग की ये अनोखी कृतियाँ हैं।

इतिहास के अलावा इस युग में जीवनचरित्र तथा गणित, ज्योतिष, चिकित्सा आदि विज्ञान-संबंधी पुस्तकें भी लिखी गईं, जिनमें 'गुरुचरित', 'हस्तिविद्यार्णव', 'अश्वनिदान' आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार, इस युग में असमीया-साहित्य की गति कई दिशाओं में फैल गई। इस युग में गद्य-साहित्य का भी काफी विकास हुआ।

आधुनिक काल

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सन् १८२६ ई० में अँगरेजी-शासन के साथ-साथ असमीया-साहित्य का आधुनिक काल प्रारंभ होता है। यहाँ अँगरेजों के आते-आते ही असमीया-भाषा और साहित्य पर भी एक भयानक विपत्ति आ पड़ी। अँगरेज लोगों के साथ जो बंगाली दुभाषिये, क्लर्क अध्यापक आदि यहाँ आये थे, उन्होंने असमीया-भाषा को बंगला का गवाँरू रूप बताकर स्कूलों और अदालतों से उसे हटवा दिया। उसके बाद सभी राज-कार्यों में बंगला भाषा बरती जाने ली; स्कूल-पाठशालाओं में भी उसी का प्रचार हुआ। असमीया-भाषा के लिए जीवन मरण का सवाल उपस्थित हो गया, पर वह मरी नहीं; क्योंकि बोलचाल की भाषा के रूप में जनसमाज में तो वह चलती ही रही।

सौभाग्य से सन् १८३८ ई० में अमेरिकन बेप्टिस्ट-मिशन के कुछ लोग धर्मप्रचारार्थ यहाँ आये। उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि असमीया ही यहाँ की देशीय भाषा है और

वह किसी भी प्रकार से बँगला से हीन नहीं। इसलिए, उन लोगों ने धर्म-प्रचार का माध्यम असमीया-भाषा को ही बनाया और उसकी उन्नति की ओर भी विशेष ध्यान दिया।

सन् १७४८ ई० में असमीया-भाषा की प्रथम मासिक पत्रिका 'अरुणोदय' का इन्हीं ईसाई मिशनरियों की चेष्टा से प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसमें इतिहास, विज्ञान, धर्म आदि सभी विषयों की रचनाएँ निकलतीं। सन् १८६८ ई० में रेवरेंड ब्रॉनसन का असमीया-अँगरेजी शब्दकोश (Assamese-English Dictionary) प्रकाशित हुआ। ईसाई पादरियों ने स्कूल-पाठशालाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें भी लिखवाईं। अंत में, इन्हीं लोगों के अथक प्रयत्न से सन् १८७१ ई० में यहाँ की शिक्षण-संस्थाओं तथा कचहरियों में असमीया-भाषा को पुनः अपना जन्मसिद्ध स्थान मिला। इस कार्य में प्रसिद्ध असमीया विद्वान् स्व० आनन्द-राम ढेकियाल फूकन ने पादरियों की बड़ी मदद की। इस तरह विदेशी मिशनरियों ने बड़े संकट के समय में असमीया-भाषा को बचाया, जिसके लिए असमवासी सदा उनके कृतज्ञ रहेंगे।

अँगरेजी शासनकाल में जब पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा और आचार-व्यवहार का प्रचार हुआ, तब लोगों के विचारों में भी जबरदस्त क्रांति हुई। फलस्वरूप, जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बदला, साहित्य का स्वरूप बदला; साहित्यिक भाषा और शैली में भी परिवर्त्तन आये।

यहीं से आधुनिक असमीया-साहित्य का रचनाकाल आरम्भ होता है। सर्वप्रथम हम आधुनिक पद्य-साहित्य को लेते हैं।

आधुनिक कविता—स्व० लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ आधुनिक असमीया-साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं। इन्होंने कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि सभी क्षेत्रों में सुन्दर साहित्य रचा है। हास्य-रस के तो ये सम्राट् थे। इसीलिए, इन्हें 'रसराज' की उपाधि दी गई है। इनकी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है 'कृपाबर बरबरुआर काकतर टोपोला', जो हिन्दी में 'दुबेजी' की चिट्ठियों की तरह हास्य और व्यंग्य का खजाना है।

'कदमकलि' बेजबरुआ का एक सुन्दर काव्य-संग्रह है। इनकी अधिकतर कविताओं में असम की प्राचीन गौरव गाथाओं के चित्र रहते हैं। साहित्य के जरिये हमारी सुप्त राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने का इन्होंने सफल प्रयास किया है। इस तरह की कविताओं में 'आमार जन्मभूमि', 'मोर देश', 'बरागी आरु बीण' उल्लेखनीय हैं। लोकगीत की शैली में रची हुई 'धनबर आरु रतनी' तथा 'रतनीर बेजार' बेजोड़ कविताएँ हैं।

स्व० चन्द्रकुमार अगरवाला की कविता दार्शनिक विचारों से ओत-प्रोत है। मानव, सौन्दर्य और प्रकृति इन तीन केन्द्र-बिन्दुओं पर इस कवि का सारा काव्य-साहित्य आधृत है। गीति-कविता रचने में ये बड़े सिद्धहस्त थे। 'प्रतिमा' और 'बीण आरु बराग' इनकी कविताओं के दो सुन्दर संग्रह हैं।

स्व० कमलाकान्त भट्टाचार्य की कविताओं से जातीय प्रेम टपकता है। उनकी कविताओं से असम में एक नई चेतना और जागरण की लहर दौड़ गई थी। 'चिन्तानल' और 'चिन्ता-तरंगिणी' उनके काव्य-संग्रह हैं।

रघुनाथ चौधरी, जो इस समय प्रायः अस्सी वर्ष के हो चुके हैं, असम के श्रेष्ठ प्रकृति-कवि हैं। इन्हें निर्जनता अधिक प्रिय है। एकांत में प्रस्फुटित फूल, नभ में विचरता हुआ अकेला पक्षी, आकाश का एकाकी तारा, कोलाहलमय संसार से दूर कोई पहाड़ी लता आदि प्राकृतिक वस्तुएँ इन्हें जितना आकृष्ट कर सकती हैं, उतना और कुछ नहीं। गोलाप, दहिकतरा, प्रियविहंगिनी, केतेकी, पुवतितरा, गिरिमल्लिका आदि कविताएँ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भावों का प्राचुर्य और भाषा का माधुर्य इनके काव्य की विशेषताएँ हैं। अवतक इनके 'सादरी', 'केतेकी', 'कारवाला' आदि कई कविता-संग्रह निकल चुके हैं।

नलिनीवाला देवी और अम्बिकागिरि राय चौधुरी दोनों ही ऊँचे दर्जे के छायावादी कवि हैं। राय चौधुरीजी का 'तुमि' और देवीजी के 'संधियार सुर' और 'सपोनर सुर' छायावादी कविताओं के अच्छे संग्रह हैं। नीलमणि फूकन भी दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण गंभीर कविता लिखते हैं। इनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'ज्योतिकणा', जिञ्जिरि, गुटिमाली, मानसी, संधानी आदि प्रमुख हैं।

यतीन्द्रनाथ दुवरा बड़े ही भावुक कवि हैं। इनकी समस्त रचनाओं में एक वैराग्यमयी उदासीनता की गहरी छाप विद्यमान रहती है। इन्होंने उमरखैय्याम की कविताओं का भी असमीया में सुन्दर अनुवाद किया है। गद्य-काव्य भी ये अच्छा लिखते हैं। 'आपोनार सुर' इनका बड़ा लोकप्रिय कविता-संग्रह है।

स्व० गणेश गगै और देवकान्त वरुआ ने सुन्दर भावपूर्ण प्रेम-काव्य लिखे हैं। इन्होंने असमीया प्रेम-कविता को नई दृष्टि और नया जीवन दिया है। गगैजी की 'पापरि' और वरुआजी की 'सागर देखिछा' बड़ी मधुर और आकर्षक रचनाएँ हैं।

स्व० दण्डीनाथ कलिता हास्यरस के श्रेष्ठ कवि हैं। इनके 'रहवरा' और 'रगर' हास्यरस की कविताओं के अच्छे संग्रह हैं। इनमें सामाजिक कुप्रथाओं और कुसंस्कारो पर सुन्दर व्यंग्य हैं।

प्रगतिवादी असमीया-कवियों में हम स्व० अमूल्य वरुआ; हेमकान्त वरुआ, अब्दुल मलिक, तिलकदास, नवकान्त वरुआ आदि के नाम ले सकते हैं। आधुनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर ये लोग कविता करते हैं। वर्त्तमान समाज-व्यवस्था से ये असन्तुष्ट हैं। उनमें आमूल परिवर्त्तन के ये स्वप्न देखते हैं। ये सभी नवयुवक हैं; अभी इनका परीक्षण-काल चल रहा है।

गत महायुद्ध के बाद से असमीया-काव्य के प्रवाह में एक रुकावट-सी आ गई है। इधर न तो कोई उच्च श्रेणी की रचना ही प्रकाशित हुई है और न इस ओर लोगों की विशेष अभिरुचि ही देखी जाती है। नये काव्य या कविता-संग्रहों के प्रति प्रकाशक भी उदासीन हो गये हैं; क्योंकि पाठ्य-पुस्तकों के अलावा ऐसी कविता की किताबें बाजार में बहुत कम विकती हैं।

फिर भी, इतना तो हम निस्संकोच कह सकते हैं कि आधुनिक असमीया-पद्य-साहित्य किसी गद्य साहित्य की अपेक्षा अधिक समृद्धिशाली है और वह कला की दृष्टि से भी भारत के भी प्रान्तीय साहित्य से पीछे नहीं।

आधुनिक गद्य—आधुनिक असमीया गद्य-साहित्य अभी तक पूर्ण प्रगति नहीं कर सका है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों से इस ओर लोगों की विशेष अभिरुचि दिखाई दे रही है, इसलिए यह क्षिप्र गति से उन्नति कर रहा है। उपन्यास और कहानी-साहित्य की आज बाजार में अच्छी माँग है।

उपन्यास—असमीया-उपन्यासकारों में स्व० रजनीकान्त बरदल का नाम सर्वप्रथम आता है। इनके 'मिरि जियरी', 'मनोमती' और 'निर्मल भकत' प्रसिद्ध उपन्यास हैं। ये सभी असम की ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर लिखे गये हैं। स्व० दण्डीनाथ कलिता का 'साधना' असमीया-भाषा का प्रथम सुन्दर सामाजिक उपन्यास है। इन्होंने अदृष्ट, गण-विप्लव, परिचय, फूल आदि और भी कई उपन्यास लिखे हैं। इस क्षेत्र में देवचन्द्र तालुकदार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने कई उपन्यास लिखे हैं, जिनमें 'अपूर्ण', 'आग्नेयगिरि' और 'विद्रोही' अधिक प्रसिद्ध हैं। वीणा बरुआ का 'जीवनर बाटत' नामक उपन्यास भी असमीया-साहित्य में एक खास स्थान रखता है। नये उदीयमान उपन्यासकारों मे हम योगेशचन्द्रदास, महम्मद पियार, राधिकामोहन गोस्वामी और प्रफुल्लदत्त गोस्वामी के नाम ले सकते हैं। योगेशदास का अभी हाल ही में प्रकाशित 'डावर आरु नाइ' तथा प्रफुल्लदत्त गोस्वामी का 'केँचा पातर कँपनि' उच्च कोटि के रोचक उपन्यास हैं। कलात्मक भाव-प्रकाशन तथा सफल चरित्र-चित्रण इन दोनों उपन्यासों की विशेषताएँ हैं। महम्मद पियार के 'संग्राम', 'मरहा फूल', 'पुवतिनिशार आजान', 'जीवन नेर जाँजि' आदि उपन्यास भी काफी लोकप्रिय हुए हैं। राधिकामोहन गोस्वामी का 'चाक नैया' भी इस युग के श्रेष्ठ उपन्यासों में है। इन नये लेखकों से असमीया-साहित्य को बड़ी उम्मीदें हैं।

कहानी—आधुनिक असमीया-कहानी-साहित्य का प्रारम्भ स्व० लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ और स्व० शरत्चन्द्र गोस्वामी से माना जाता है। 'टेकनीक' की दृष्टि से इनकी कहानियाँ अपरिपक्व हैं, किन्तु बेजबरुआजी की कहानियों में हास्यरस का पुट होने के कारण आज भी उनकी लोकप्रियता कम नहीं हुई। इसके बाद लक्ष्मीधर शर्मा, डॉ० हेम बरुआ, हलीराम डेका, वीणा बरुआ, त्रैलोक्य गोस्वामी, रमादास, महीवरा, दीनानाथ शर्मा आदि कहानी-लेखक हमारे सामने आते हैं। इनकी कहानियाँ जीवन की विभिन्न समस्याओं को लेकर चलती हैं, और उनमें वास्तविक जीवन के सुन्दर चित्र हमें मिलते हैं। लक्ष्मीधर शर्मा का 'व्यर्थतार दान', डॉ० हेम बरुआ का 'चपनीया', वीणा बरुआ का 'आधोनी बाइ', त्रैलोक्य गोस्वामी का 'अरुणा' और 'मरीचिका', रमादास का 'श्रेष्ठ गल्प' आदि अच्छे गल्प-संग्रह हैं। प्रगतिवादी नये कहानी-लेखकों में योगेशचन्द्रदास, अब्दुल मलिक, आमि मुननिछा पियार, प्रफुल्लदत्त गोस्वामी, प्रीति भट्टाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत निबंध-लेखक का 'एटि प्रश्न' नामक एक कहानी-संग्रह हाल ही में प्रकाशित हुआ है; जिसका पाठकों और समालोचकों ने अच्छा आदर किया है। असमीया में अबतक बहुत लम्बी-लम्बी कहानियाँ लिखी जाती रहीं, किंतु 'एटि प्रश्न' की कहानियाँ छोटी-छोटी हैं और शैली भी उनकी नई है। इधर पत्र-पत्रिकाओं में इस ढंग की कहानियाँ बीच-बीच में देखने को मिलती हैं।

नाटक—इस युग के नाटकों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ के 'जयमती कुँवरी', 'बेलिमार', 'चक्रध्वज सिंह', दैवचन्द्र तालुकदार के 'बामुनीकोवर', 'असम-प्रतिभा' और 'विप्लव', स्व० ज्योतिप्रसाद अगरवाला का 'शोणित कुँवरी', अतुलचन्द्र हाजरिका का 'नरकासुर', प्रसन्नलाल चौधरी का 'नीलाम्बर' और प्रवीनचन्द्र फूकन का 'लाचित बरफूकन' उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हैं। आधुनिक जीवन की समस्याओं को लेकर इधर कुछ नाटक लिखे तो गये हैं, किन्तु वे अधिक सफल नहीं हो पाये। हाँ, इन दिनों गौहाटी-रेडियो-स्टेशन से कुछ सुन्दर सामाजिक नाटक प्रचारित हुए हैं; पर वे पुस्तकाकार में उपलब्ध नहीं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के 'संन्यास ने संसार' नामक ध्वनिनाटक ने अच्छी प्रसिद्धि पाई है। रेडियो-स्टेशन से उसका सफल ब्राडकास्ट भी हो चुका है।

निबन्ध—आधुनिक निबन्ध-लेखकों में स्व० सत्यनाथ बरा, स्व० डॉ० वाणीकान्त काकती, डॉ० सूर्यकुमार भूयाँ, डॉ० विरंचिकुमार बरुआ, वेणुधर शर्मा और प्रफुल्लदत्त गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इतना सब लिख चुकने के बाद मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि आधुनिक असमीया-साहित्य की प्रगति अधिक संतोषजनक नहीं। इसके लिए निम्नांकित कारण खास तौर से जिम्मेदार हो सकते हैं—

(१) असमीया-पाठकों की संख्या बहुत कम है। (२) लोगों में पढ़ने की अभिरुचि का अभाव है। (३) अच्छे प्रकाशनों की कमी है।

इन सब कारणों से यहाँ के साहित्यकारों की अधिकतर रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर ही रह जाती हैं; पुस्तकाकार में वे बाजार के दर्शन नहीं कर पातीं।

उपसंहार

असमीया-साहित्य के लिए यह सौभाग्य की बात है कि बाहर के लोग भी अब उसमें दिलचस्पी लेने लगे हैं। इसके बारे में संक्षेप में हमने यहाँ चर्चा की है। पर, यह साहित्य इतना प्राचीन और विशाल है कि उसे इस प्रकार के एक छोटे-से निबन्ध में नहीं समेटा जा सकता। डाकगाड़ी की तरह मैं सिर्फ बड़े-बड़े स्टेशनों पर थोड़ी-थोड़ी देर रुकता आया हूँ। कारण, अल्प समय में ही मुझे एक बड़ा लम्बा रास्ता तय करना था। रास्ते में बहुत-से कलापूर्ण, छोटे, सुन्दर स्टेशन छोड़कर आगे बढ़ते मुझे दुःख जरूर हुआ। पर, क्या करता—डाकगाड़ी जो मैं ठहरा!

—श्रीछगनलाल जैन

◉

पंजाबी-भाषा और साहित्य

दिल्ली के आसपास के कुछ प्रदेश और कुछ थोड़े-से पहाड़ी प्रदेश को छोड़कर सारे पंजाब की भाषा पंजाबी है। चाहे वह पंजाब पाकिस्तान में है, चाहे वह भारत में।

सन् १९३२ ई० में स्थापित की गई पंजाब-युनिवर्सिटी इन्क्वायरी-कमिटी की रिपोर्ट के अनुसार 'इंडो-एरियन भाषाओं में से निकली सब बोलियों में पंजाबी शायद सबसे पुरानी भाषा है।' महात्मा बुद्ध और महावीर को हुए आज लगभग २५०० वर्ष हो चुके हैं। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में सैकड़ों शब्द ऐसे मिलते हैं, जो ठीक उसी रूप में आज पंजाब-वासियों की दैनिक भाषा में प्रचलित हैं। हिन्दी या बँगला में उन शब्दों का जो रूप चला हुआ है, वह अधिक-से-अधिक एक हजार वर्ष पुराना कहा जाता है। पंजाब के लोग पिछले पच्चीस सौ वर्षों से 'दुध', 'नक', 'कन', 'हथ', 'पिठ', 'सत' और अठ' कहते आये हैं और जो लोग उत्तरप्रदेश या बंगाल में बसते हैं, उनके पूर्वज पहले पन्द्रह सौ वर्षों तक तो इन शब्दों को पंजाबियों की भाँति उच्चारण करते रहे। किन्तु, पिछले एक हजार वर्ष से उनको बिगाड़कर इन्होंने दूध, नाक, कान, हाथ, पीठ, सात और आठ बोलना आरंभ कर दिया है। बौद्धधर्म-ग्रन्थ 'धम्मपद' में, जैनों के प्राचीन साहित्य में और कालिदास के 'शकुन्तला' आदि नाटकों में जहाँ हमें पंजाबी के शब्द 'हेठां', 'रुख', 'पुत', 'अख' आदि तो मिलते हैं; पर इनके हिन्दी-रूप नीचे, पेड़, पूत, आँख आदि कहीं नहीं मिलते। हिन्दी और पंजाबी का संबंध दो बहनों का संबंध है।

नीचे दी गई सूची में सारे शब्द पंजाबी में आजतक उसी रूप में प्रचलित हैं, जिस रूप में पालि और प्राकृत भाषाओं में प्रचलित थे। किन्तु, इनके हिन्दी-रूपों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता।

पाली और पंजाबी-रूप	हिन्दी-रूप
दुध	दूध
सठ	साठ
पुत	पूत
सिंग	सींग
चम	चमड़ा
सिप्पी	सीप
अज	आज
अग्गे	आगे
बी	भी

न ही पंजाबी बोली का और न ही गुरुमुखी-लिपि का कोई विशेष संबंध सिख-धर्म के साथ है। सिखों के पहले गुरु गुरुनानक के जन्म से पहले पंजाबी बोली इस प्रदेश में बोली

जाती थी और गुरुमुखी अक्षर भी मौजूद थे। ये अक्षर उसी प्रकार की ब्राह्मी-लिपि में से निकले थे, जैसे दूसरी प्रादेशिक भाषाओं के अक्षर।

हाँ, "पंजाबी वर्णमाला का क्रम और अक्षरों के नाम सिख-गुरुओं ने नियमबद्ध किये और उन्होंने ही इस वर्णमाला को गुरुमुखी का नाम देकर पंजाबी-भाषा को उच्चकोटि के साहित्य का माध्यम बनने की साख प्रदान की।" (प्रोफेसर ओम्प्रकाश)

जिस प्रकार महात्मा बुद्ध ने अपने प्रचार के लिए संस्कृत के स्थान पर पालि को चुना, उसी प्रकार गुरुनानक ने साधारण जनता तक अपनी शिक्षा पहुँचाने के लिए उनकी भाषा को अपनी शिक्षा का माध्यम बनाया और उसके लिखने के लिए लिपि भी वह चुनी, जो उनमें पहले ही प्रचलित थी।

गुरु नानकदेव के आगमन के समय पंजाब में कई लिपियाँ प्रचलित थीं। देवनागरी, जो अधिकतर संस्कृत के लिए प्रयोग की जाती थी और पुरानी दिल्ली की कमिश्नरी में प्रादेशिक बोली के लिए भी। 'लंडे' या 'महाजनी', जो व्यापारी हिसाब-किताब के लिए प्रयोग करते थे। 'टाकरी' या 'ठाकरी', जो पहाड़ी प्रदेश में प्रयोग में आती थी और जिसमें खुदे हुए कई शिलालेख काँगड़ा में मिले हैं और 'शारदा' जो कश्मीर की लिपि थी, किन्तु पड़ोसी होने के नाते पंजाब में भी कहीं-कहीं प्रयोग में आती थी।

अब अगर हम इन चार लिपियों की गुरुमुखी-लिपि से तुलना करें, तो हम देखते हैं कि महाजनी में तीन स्वर और सत्ताईस व्यंजन हैं। गुरुमुखी में तीन स्वर और बत्तीस व्यंजन हैं। शारदा और टाकरी में चार स्वर और तैंतीस व्यंजन हैं। इसके विरुद्ध नागरी में सोलह स्वर और छत्तीस व्यंजन हैं।

यदि रूपों की तुलना करें, तो नागरी और गुरुमुखी में तीन अक्षर साँझे हैं। छह अक्षरों के रूप मिलते हैं, चाहे चार अक्षरों की ध्वनियाँ अलग-अलग हैं। बारह अक्षरों के रूप कुछ-कुछ मिलते हैं और शेष अक्षर बिलकुल नहीं मिलते।

यदि 'टाकरी' अक्षरों के साथ तुलना करें, तो जान पड़ता है कि बीस अक्षर तो लगभग एक ही रूप के हैं, छह अक्षर कुछ-कुछ मिलते हैं और आठ नहीं मिलते।

'शारदा' के साथ तुलना करने से पता चलता है कि सात अक्षर साँझे हैं और बारह कुछ-कुछ मिलते हैं।

शारदा का गुरुमुखी से नागरी के साथ अधिक मेल है। लंडे, टाकरी और गुरुमुखी से अधिक मेल खाते हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि ब्राह्मी से दो लिपियाँ उत्पन्न हुईं, एक शारदा और देवनागरी की माँ बनी और दूसरी गुरुमुखी, महाजनी और टाकरी की।

पंडित गौरीशंकर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन लिपिमाला' में लिखा है—"पंजाबी लिपि के बहुत-से अक्षर देवनागरी से मिलते हैं। गुरु अंगद के पहले बहुधा महाजनी-लिपि पंजाब में

प्रचलित थी और संस्कृत-पुस्तक नागरी से मिलती हुई एक पुरानी लिपि में लिखी जाती थी।''

गुरुनानक और अन्य सिख गुरुओं की जनसाधारण में प्रचलित 'गुरुमुखी' केवल एक लिपि है, जिसमें पंजावी को साहित्यिक पुस्तकें प्राय: प्रकाशित होती हैं। वैसे कई एक सिख लेखक और अन्य वहुत-से गैर-सिख फारसी लिपि भी पंजावी-साहित्य के लिए प्रयोग में लाते रहे हैं। और, एक समय था, जब फारसी-लिपि में प्रकाशित पुस्तकें गुरुमुखी-लिपि में छपी हुई पुस्तकों से कहीं अधिक संख्या में थीं। इसके कारण अविभाजित पंजाव में किसी सीमा तक राजनीतिक थे। पिछले दिनों कई पंजावी लेखकों ने देवनागरी में भी रचनाएँ प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। प्रो० मोहन सिंह, जसवंत राय और प्रभजीत कौर की कविताओं के पंजावी-संग्रह देवनागरी-लिपि में भी छपे हैं।

गुरुमुखी-लिपि में लिखित 'गुरु-ग्रन्थसाहव' में पंजावी के अतिरिक्त कई भाषाओं की कविता मिलती है—संस्कृत, फारसी, सिंधी, व्रजभाषा आदि। और, फारसी-लिपि में पंजावी की एक अमर रचना 'हरि वारिस शाह' लिखी गई और आज कई शताब्दियों के वाद भी वह वैसे ही चाव से पढ़ी जा रही है।

कई लोग यह भी समझते हैं कि पंजावी-साहित्य केवल सिख-जाति का अपनाया हुआ है। इस वात से इनकार नहीं कि पिछले तीस वर्षों से इसकी ओर अधिक रुचि सिखों की है, किन्तु पंजावी-साहित्य के निर्माण में गैर-सिख लेखकों ने कहीं अधिक भाग लिया है। पंजावी का प्राचीनतम लेखक, जिसका काव्य हमें मिलता है, 'फरीद शकरगंज' मुसलमान था। इस तरह पंजावी के इतिहास में एक समय ऐसा आया, जब सिख-जाति की प्रतिभा संस्कृत और प्राकृत की ओर अधिक अग्रसर हुई। गुरु गोविन्दसिंह के दरवारी कवि पुरातन भाषाओं में लिखकर प्रसन्न थे। गुरुजी ने स्वयं पंजावी में वहुत कम कविता लिखी है। ऐसे समय में गैर-सिखों ने ही इस भाषा को आश्रय दिया। आजकल ईश्वरचन्द्र नंदा, जोशू अफजल दीन, जसवंत 'राय', वावा वलवन्त, नंदलालराय नूरपुरी, डॉक्टर वनारसीदास, वलवन्त गार्गी आदि अनेक गैर-सिख लेखक हैं, जो पंजावी-साहित्य की सेवा कर रहे हैं। इसलिए पंजावी-साहित्य सिख-साहित्य तक ही सीमित नहीं है।

पंजाबी-भाषा का शब्दकोश चाहे कितना पुराना हो, किन्तु जिस वोली को आज हम पंजावी के नाम से पुकारते हैं, उसका पहला लेखक, जिसका कलाम हमारे हाथ लगा है, वह फरीद शकरगंज है। वावा फरीद अपने समय के प्रसिद्ध फकीर थे। इनका पूरा नाम हज़रत फरीदोद्दीन मसऊद शकरगंज था। इनका जन्म सन् ११७३ ई० में हुआ। फरीद की कविता में 'लहंदी' का स्थानिक रंग है। फारसी-भाषा का भी कुछ-कुछ प्रभाव है। इसलिए कि इन लोगों को कावुल से पंजाव आये अभी थोड़ा समय ही हुआ था। फरीद की सारी-की-सारी कविता में एक भावुकता है, जो भक्ति-युग के वाद सूफियों का उन्माद वनकर प्रकट हुई। प्रकृति का प्रेम और परमात्मा का प्रेम फरीद की कविता के कुछ विशेष विषय हैं। फरीद ने अधिकतर श्लोक लिखे हैं।

फरीदा गलिएं चिक्कड़ दूर घर नाल प्यारे नेहं।
चलां तां भिजै कम्वली राहां तां तुटै नेहं।

भिज्जो सिज्जो कम्बली अल्ह वरसो मेंह।
जाय मिलां तिन्हा सजना तुटोह नाहि नेंह।

पंजाबी-भाषा की शैली को और अधिक निखारनेवाले भक्तियुग के कवि थे। इनमें गुरुनानक, गुरुअर्जुन और भाई गुरुदास की बहुत-सी कविताएँ मिलती हैं। इन सबका एक साँझा रंग है, एक साँझा स्वाद है। भक्तियुग के कवियों ने भगवान् की एकता पर जोर दिया। राम-रहीम में उन्होंने कहा—कोई फर्क नहीं। कट्टर ब्राह्मण-मत और इस्लाम में भक्ति-आन्दोलन एक प्रकार का समझौता था। इन कवियों की शैली सादी और मंजी हुई है। भक्तियुग में पुरानी रूढियों को तोड़ने पर बड़ा जोर दिया गया। चाहे यह रीतियाँ धार्मिक थीं, चाहे साहित्यिक थीं अथवा चाहे साधारण जीवन के प्रति थीं। कविता में इस प्रकार कवित्त, सवैया आदि पुराने छंदों के स्थान पर 'बारहमाह', 'वार', 'सद', 'घोडी' आदि साधारण जीवन से संबंध रखनेवाले छंदों को अपनाया गया। यह वह समय था, जब पंजाब में मुगलों के आक्रमण अभी हो रहे थे या अभी होकर हटे थे।

खुरासान खसमाना किया हिन्दुस्तान डराया।
आपै दोष न देई करता जमकर मुगल चढ़ाया।
एती मार पई कुर्लानें तैं की दर्द न आया।
कर्त्ता तू सबना का सोई
जे सकता सकते को मारे।
तां मन रोस न होई ॥१॥
रहाओ। आशा महला १। (गुरुनानक)

इस प्रकार, भगवान् के गुण गानेवाले गुरुओं के पश्चात् गुरुओं के शिष्य उत्पन्न हो गये। ईश्वर के प्रेम से मनुष्य में दिखाई देते ईश्वर के प्रेम ने सूफी मत को जन्म दिया। यथार्थ में सूफी मत इस्लाम का वह अंग है, जिसपर भारत के भक्तिमत और वेदान्त का गहरा प्रभाव पड़ा। इस सूफी वातावरण के कारण छायावाद आया। बुल्हेशाह, शाह हुसेन, सुलतान बाहुअली हैदर, करमअली शाह, शेख शरफ, गुलाम जीलानी, हाशिम हदायतुल्ला और गुलाम रसूल उस समय के कुछ प्रसिद्ध कवि थे। बुल्हेशाह की काफियों में वर्णन चाहे घरेलू वस्तुओं का और साधारण दृश्यों का होता है; किन्तु उनके पीछे हमेशा कोई उच्च अर्थ अथवा गहरा भेद होता है। सूफी-कविता 'इश्क हकीकी' की कविता थी। किन्तु, इस ईश्वर के प्रेम को सांसारिक प्रेम के परदे में रखकर गाया जाता था।

रांझा रांझा करदी नी मैं आपै रांझा होई।
सद्दो नी मैंनू धीदो रांझा हीर न आखे कोई।
—बुल्हेशाह

[रांझा रांझा पुकारती मैं स्वयं रांझा हो गई।
मुझे धीदो रांझा पुकारो, मुझे हीर कोई न कहे।]

इस प्रकार के ईश्वर-प्रेम के वातावरण में उत्पन्न हुई कविता के पश्चात् यह आवश्यक था कि इसकी प्रतिक्रिया होती। और, इस प्रकार पंजाबी-कविता में एक नया युग आरंभ

हुआ। इस युग के लगभग सब-के-सब कवियों ने 'इश्कमिजाजी' का वर्णन किया है। उन्होंने हीर राँझा, मिर्जा साहिवाँ, सस्सी-पून्नू, कामरूप, सोहनी-महिवाल आदि किस्से लिखे। इन कवियों की वर्णन-शैली बहुत सुन्दर है। दामोदर का लिखा हुआ हीर का किस्सा सवसे पुराना माना जाता है। अपनी कविता में वह वार-वार कहता है—'आख दमोदर मैं अखीं डिठा।' ऐसा प्रतीत होता है कि यह कवि हीर-राँझा का समकालीन था। वारिस शाह ने ३५ वर्ष की आयु में हीर का किस्सा लिखना आरम्भ किया। कहते हैं भागमरी नाम की एक लड़की से यह कवि प्रेम करता था और हीर-रांझा के किस्से में उसने अपने प्रेम को गाया है। वारिस शाह की शैली अभी तक पंजावी में अत्यन्त सत्कारी जाती है। हीर के सौन्दर्य को वारिस शाह इस प्रकार दरसाता है—

कही हीर दी करे तारीफ शायर
मत्थे चमकदा हुसन महताव दा जी।
सैयां नाल लटकदड़ी आंवदी ए
पर झूलदा जिवे उकाव दा जी।
नैन नरगिसी मिरग समोलड़े दे
गल्हां टहकियां फुल गुलाव दा जी।
सुरमां नैना दी धार विच फव रह्या
चढया हिन्द ते कटक पंजाव दा जी।

[हीर की कवि कैसे प्रशंसा करे।
उसके माथे पर चाँद की सुन्दरता चमकती थी।
सहेलियों के साथ इस प्रकार अठखेलियाँ करती हुई आई।
जैसे उकाव का पंख झूल रहा हो।
उसकी नरगिसी आँख हिरनों की भाँति थीं।
उसके गाल गुलाव के फूल की तरह महक रहे थे।
उसके नेत्रों में सुरमा इस प्रकार रचा हुआ था।
जैसे हिन्द पर पंजाव की सेना ने आक्रमण किया हो।]

कवि के रूप में हाशिम वारिस शाह से कहीं कम नहीं था। हाशिम ने शीरीं-फरहाद, लैला-मजनू, सोहनी-महिवाल, सस्सी-पून्नू आदि कई किस्से और कुछ दोहरे लिखे। शब्दों का संयम, वर्णन का वहाव और पात्रों के हृदय के कोमल-से-कोमल भावों का ज्ञान हाशिम की कविता की विशेषताएँ हैं। विरह के भाव को हाशिम ने जहाँ-कहीं भी अंकित किया है, वहुत सफलता से किया है। शीरीं की कोमलता का वर्णन हाशिम यों करता है—

नाजक पैर शीरीन रंग मेंहदी नाज न्याजाँ वाले
जे ओह पैर जिमी ते रखे पुर पुर लूं सूं छाले।
उसनूं वेख फरिश्ते जीवण आदिम कौन विचारे
पंछी वेख डिगन अस्मानी आशिक होवन सारे।

[शीरीं के मेंहदी से रँगे कोमल पाँव, जिनके कितने नाज होते थे।

यदि वह कहीं जमीन पर पाँव रखती तो ।
उसके पोर-पोर पर, रोम-रोम पर छाले हो जाते ।
उसको देखकर फरिश्ते जीते थे, मनुष्य बेचारे, क्या हैं ?
पक्षी उसे देखकर आकाश से गिर पड़ते, हर कोई उसपर आशिक हो जाता ।]

शाह मुहम्मद के साथ हम उन्नीसवीं शती के अर्द्ध में पहुँच जाते हैं। शाह-मुहम्मद महाराजा रणजीत सिंह का दरबारी कवि था। शाह मुहम्मद ने पहली बार पंजाबी में ऐसी कविता लिखी, जिसे ठीक देश-प्रेम की कविता कहा जा सकता है : पंजाब देश से प्रेम, पंजाब की धरती से प्रेम, पंजाब की परम्परा से प्रेम, पंजाब के सिपाहियों से प्रेम, पंजाब के सरदारों से प्रेम। पंजाब के शत्रु शाह मुहम्मद के शत्रु थे, चाहे वे मुसलमान ही क्यों न हों। सिखों और फिरंगियों की लड़ाई का वर्णन करते हुए शाह मुहम्मद कहता है—

सिंहा मार के कटक मुकाय दित्ते
हिन्दुस्तानी ते पूरबी दक्खिनी जी।
लंडन टापुआँ विच कुरलाट पया
कुर्सी चार हजार है सखणी जी।

[सिखों ने फौज की फौज मारकर समाप्त कर दी
हिन्दुस्तानी भी, पूरबी भी, और दक्खिनी भी।
लंदन के द्वीपों में हाहाकार मच गया
कि चार हजार कुर्सियाँ खाली हो गई हैं।]

नवीन पंजाबी-साहित्य उस मानसिक वातावरण का परिणाम है, जो प्रथम महायुद्ध ने विशेष रूप से उत्पन्न किया था। युद्ध-प्रचार और पंजाबी सिपाहियों के मनोरंजन को सामने रखकर साहित्य-निर्माण किया गया। युद्ध में बाहर गये पंजाबी सिपाहियों ने दूसरों के जीवन में झाँका, उनके मनोरंजनों का अध्ययन किया; लौटे हुए पंजाबियों को अवकाश था, प्रान्त का साहित्य इस वातावरण में निखरकर प्रगतिशील हुआ।

प्रथम महायुद्ध अभी समाप्त ही हुआ था कि सिंह-सभा की लहर जोर पकड़ गई। इस लहर का मन्तव्य था—सिख-मत और सिख-सभ्यता का प्रचार और इनको अलग करके विभिन्न रूपों से दरसाना। इस जमाने में गैर-सिखों से वाद-विवाद हुए, ट्रैक्ट छपे, समाचार-पत्रों द्वारा जनता में जागरण उत्पन्न किया गया।

साहित्यिक दृष्टिकोण से इसका यह लाभ हुआ कि पंजाबी-गद्य निखर गया। इससे पहले प्राचीन गद्य-रचना में कविता-सा स्वाद है।

इसके पश्चात् अकाली लहर का युग आरंभ हुआ, यह एक प्रगतिशील युग था। जहाँ सिखों ने अपनी सभ्यता, संस्कृति और अपने सम्प्रदाय के लिए रक्तपात करके अपने गौरव को सुरक्षित रखा, वहाँ अपने प्रान्त के साहित्य में भी उन्होंने प्राण फूँक दिये।

इन दोनों लहरों के साथ स्कूलों की संख्या पंजाब में बढ़ रही थी। पश्चिम की नवीन प्रवृत्तियों के साथ जनता का परिचय बढ़ रहा था और एक ताजगी-सी पंजाबी जीवन में आ रही थी।

ठीक इस समय भाई वीरसिंह और भाई मोहनसिंह वैद्य ने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ किया। वीरसिंह नवीन पंजाबी-साहित्य का प्रथम कवि है और कविता-जैसी आकर्षक परन्तु सरल-सीधी गद्य-शैली में इसने सिख-इतिहास और सिख-दर्शन को जनता के सामने रखा। स्पष्टता और सरलता वीरसिंह के काव्य की भी विशेषताएँ हैं। उसने पंजाबी में मुक्तक कविता को जन्म दिया और पहली बार एक लम्बी काव्य-रचना सिरखंडी-छंद में की। 'राणा सूरतसिंह' एक सफल रचना है। 'बिजलियाँ दे हार', 'लहराँ दे हार', 'मटक हुलारे', वीरसिंह की कविता के कुछ एक संग्रह हैं, जिनमें कवि का दर्शन और काव्य-कला अपने शिखर पर पहुंच गई है। वीरसिंह से पहले पंजाबी कविता में कवित्त, बैंत आदि जैसे लम्बे छन्द ही प्रयोग में लाये जाते थे। भाई साहब ने सिख-गुरुओं के अनन्तर पहली बार पश्चिमी प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर छोटे और सरल रूप से निवाहे जानेवाले छंदों में कविता लिखी। वीरसिंह के दर्शन-संबंधी विचार सिख-दर्शन से विभिन्न नहीं। कवि जीवन को उल्लास समझता है और सूफी कवियों के समान जब वह अपने इष्ट के लिए व्याकुल होता है, उसकी आवाज में सूफियों से कहीं अधिक धरती का स्पंदन सुनाई देने लगता है—

पत्थर नाल नियों ला बैठी, न हस्से ना बोले।
सोहणा लग्गे, मन नू मोहे घुंडी दिलों न खोले।
छड्डियाँ छड्डियाँ जाँदाँ नाहीं, मिलियाँ निग्ध ना कोई
हच्छा, जिवें रजा है तेरी, अखियों हो न ओहले।

[मैं पत्थर से से दिल लगा बैठी हूँ, न हँसता है, न बोलता है।
वैसे वह सुन्दर और मनोहर है, किन्तु मनोग्रन्थि नहीं खोलता।
छोड़ना भी चाहूँ, तो नहीं छोड़ सकती,
मिलने पर कोई उत्तेजना अनुभव नहीं होती।
अच्छा, जैसी तेरी मरजी, मेरे नैना से ओझल न रह।]

उधर मोहनसिंह वैद्य एक गद्य-लेखक थे, जिन्होंने हर विषय पर रचनाएँ लिखीं और एक एकेडेमी स्थापित की, जिसके द्वारा संसार-भर की लगभग दो सौ पुस्तकें पंजाबी में रूपान्तरित करवाई गईं। पंजाबी में इस आन्दोलन के कारण विज्ञान और अन्य विषयों पर भी हमें पुस्तकें मिलती हैं। वैद्यजी की लेखन-शैली सरल थी। इन्होंने कुछ उपन्यास भी लिखे हैं, जो केवल लम्बी कहानियों के प्रयास तक ही सीमित हैं। वास्तव में, भाई वीरसिंह और मोहनसिंह वैद्य नये पंजाबी-साहित्य के प्रारम्भिक स्तम्भ हैं।

इन दोनों कलाकारों की छाया में पला और पनपा हुआ साहित्य प्रायः परम्परागत रहा है। हमेशा यह प्रयत्न किया जाता था कि किसी उद्देश्य को पेश किया जाय और कोई शिक्षा सुझाई जाय। फिरोजदीन शरफ, विधाता सिंह 'तीर' और ज्ञानी गुरुमुख सिंह 'मुसाफिर' की कविता इसी तरह की थी। अधिक-से-अधिक ये कलाकार अपने कला-कौशल से जनता को झकझोर सकते थे और बस इनकी कविता के भाव-विषय देशप्रेम, अँगरेजी राज में नौकरशाही की बुराइयों तक ही सीमित थे या फिर प्रेमपूर्ण गाथाओं का ही वर्णन होता था।

लाला किरपासागर ने 'लेडी ऑफ दी लेक' के आधार पर 'लक्ष्मी देवी' शीर्षक एक प्रवन्ध-काव्य लिखा, जो दो भागों में प्रकाशित हुआ। विवरण-शैली के दृष्टिकोण से यह एक अमूल्य रचना है। इसी युग में 'शकुन्तला' और 'विक्रमोर्वशी' आदि नाटकों का अनुवाद हुआ, जो अत्यन्त सफल है। अनुवादक संस्कृत के ज्ञाता होने के कारण कालिदास के साथ न्याय कर पाये हैं। मौलिक नाटककारों में ईश्वरचन्द्र नंदा-लिखित 'सुभद्रा' और 'लिल्ली दा ब्याह' बृजलाल शास्त्री-लिखित 'सावित्री सुकन्या' और 'पूरण नाटक' तथा बावा बुधसिंह-रचित 'दामिनी' और 'नार नवेली' जनसाधारण में लोकप्रिय हुए। इन नाटकों के विषय रहे हैं—विधवा-विवाह, अछूतोद्धार आदि। सरदार नानकसिंह ने लगभग दो दर्जन उपन्यास लिखे हैं। इस लेखक ने जनसाधारण की रुचि को ध्यान में रखकर लिखा है। इसने तीन गल्प-संग्रह भी प्रकाशित किये, जो उसके उपन्यासों के समान कथानक के चुनाव की विशेषता के कारण लोकप्रिय हैं।

पंजाबी-भाषा का सम्पूर्ण साहित्य अपने उर्दू और हिन्दी के साहित्य से सर्वथा अछूता रहा है। साहित्यिक पंजाबी साहित्य के निर्माण में सीधे अँगरेजी से ही प्रभावित होते रहे हैं। खालसा-कालिज, अमृतसर, सिखों की सबसे बड़ी शिक्षण-संस्था होने के साथ-साथ बहुत देर से पंजाबी साहित्यकारों का केन्द्र भी रहा है। प्रिंसिपल जोधासिंह, प्रिंसिपल तेजासिंह, प्रिंसिपल गुरुबचन सिंह 'तालिब', प्रोफेसर संतसिंह सेखों, प्रोफेसर मोहन सिंह पिछले बीस वर्षों से पंजाबी-साहित्य को यहीं से समुज्ज्वल करते और नये लेखकों को उत्साह देते आये हैं। इन सबने अँगरेजी-साहित्य की लेखन-शैली का ही अनुकरण किया है। नये उभरनेवाले कलाकारों की रचनाओं को भी ये अँगरेजी-भावशैली के अनुसार ही आलोचना की कसौटी पर जाँचते आये हैं—

सुफ़ने विच तुसी मिले असा नूं
असी धा गल वक्कड़ी पाई
निरा नूर तुसी हत्थ न आए
साडी कम्बदी रही कलाई
[पलने में तुम हमें मिले
हम दौड़कर तुम्हें भींच मिले
केवल प्रकाश थे, तुम हमारे हाथ न
लगे हमारी कलाई काँपती रही]
('कम्बदी कलाई' : वीरसिंह)

भाई साहब भाई वीरसिंह 'कम्बदी कलाई' (काँपती हुई कलाई) में पंजाबी-कविता की प्राचीन परम्परा को उसके उच्च शिखर तक ले गये।

यह बात उस समय की है, जब पश्चिम में इटली अबसीनिया को रौंदे जा रहा था, जब 'हेलसिलासी' चिल्लाकर कह रहा था—'यदि मेरे साथियों ने मेरी सहायता न की, तो मेरी बात याद रखना, सारा पश्चिम मेरी ही तरह बरबाद होकर रहेगा।' यह उस समय की बात है, जब मुसोलिनी बार-बार कहता था—'सदा ही शान्ति रहे, यह एक असंभव बात है।' अँगरेज बड़े आराम से इन बातों को सुन रहे थे। फ्रांस मदमस्त पड़ा था। उस समय

हिटलर ने 'लीग ऑफ नेशन्स' को ठुकराकर 'सार' को निगल लिया था; जिस समय जापान ने 'लीग' से त्यागपत्र दे दिया था और जिस समय स्पेन में विद्रोह आरंभ हो गया था, उस समय दुनिया-भर के लेखकों ने अपने उत्तरदायित्व को समझा और सन् १९३५ ई० में पेरिस में एक कान्फ्रेंस हुई। उस कान्फ्रेंस में भारत की ओर से 'मुल्कराज आनन्द' और 'सज्जाद जहीर' सम्मिलित हुए। सन् १९३६ ई० में प्रगतिशील साहित्यिकों की एक कान्फ्रेंस लखनऊ में बुलाई गई। इसके प्रधान थे मुन्शी प्रेमचन्द। सज्जाद जहीर, राहुल सांकृत्यायन, डॉ० अख्तर हुसेन रायपुरी, डॉ० रशीद जहाँ, अहमद अली आदि हिन्दुस्तानी लेखक इस कान्फ्रेंस में सम्मिलित हुए थे।

इन दोनों कान्फ्रेंसों में बहुत दिनों से चले आ रहे इस मत का खंडन किया गया कि कला कला के लिए है। उसकी जगह इस मत की स्थापना की गई कि कला जीवन के लिए है और कलाकारों से कहा गया कि वे अपने आसपास की वास्तविकता और युग-सत्य से विमुख न रहें। जहाँ दुनिया के राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक दुनिया को विनाश की ओर ले जा रहे थे, संसार के लेखकों और कलाकारों में यह विचार जगा कि वे जनता को इस विनाश से सावधान कर दें।

उस समय 'लिखारी' नामक एक मासिक पत्र मोहनसिंह के संपादकत्व में निकाला गया। नये पंजाबी-साहित्य के पुराने-से-पुराने नमूने इसी पत्र में मिलते हैं। आजकल के प्रगतिशील कलाकारों ने पहली बार 'लिखारी' में ही लिखना आरम्भ किया था। प्रो० मोहनसिंह को प्रगतिशील कविताएँ भी सबसे पहले इसी पत्र में प्रकाशित हुई। प्रो० सन्तसिंह सेखों की नई शैली की कहानियाँ 'प्रेमी देनियाएो' और 'मँझधार' आदि 'लिखारी' में ही सबसे पहले छपीं। 'पंज दरया' नामक पत्र मोहनसिंह की उसी लगन का एक दूसरा उदाहरण है। वास्तव में, कुछ दिनों बाद 'लिखारी' का नाम बदलकर 'पंज दरया' पाठकों को भेजा जाने लगा था।

उस समय तक नये लेखकों ने यह बात पूरी तरह अनुभव कर ली थी कि जिस तरह की कविता फिरोजदीन शरफ लिखता है, जिस प्रकार की कहानियाँ जोशुआ फजलदीन ने लिखीं और जो नाटक कृपासागर ने प्रस्तुत किये, वे प्रगतिशील साहित्य के मापदंडों पर पूरे नहीं उतरते। लेकिन, जो कुछ पेरिस में कहा गया और जिसे लखनऊ में भी दुहराया गया, उसे न पाश्चात्य लेखक अभी तक हृदयंगम कर सके थे और न हमारे देश के कलाकार ही।

हमारे देश में उन बातों को ग्रहण न कर सकने के कई कारण थे।

तब हम पराधीन थे—न हमें बोलने की स्वतन्त्रता थी और न लिखने की। जो कुछ हमारे कलाकार कहना चाहते थे, उसे कई कारणों से नहीं कह पाते थे। इस अभाव और विवशता ने संकेत से बात कहने की रीति को जन्म दिया। भाई साहब भाई वीरसिंह की 'गंगाराम' नामक रचना में जो कटु स्पष्टवादिता थी, वह मोहनसिंह और प्रीतमसिंह सफीर की रचनाओं में केवल प्रतीक-मात्र होकर रह गई :

हटलर एटीला चंगेज खाँ
रत्ते गट-गट भरे प्याले
मत्ते गुडलक पींदे,

ज़रा खरीद गोरी वीच वन्हेरे
कोझे ते वलवान विषय
सुंगडी विच चलावे
[हिटलर एटीला और चंगेज खाँ
रुधिर-पूर्ण प्याले
मस्ती में 'गुडलक' कहकर गट-गट पी रहे हैं।
क्रीत नवयौवना अँधेरे में
कुरूप और वलवान् वासना के
भुजपाश में सिकुड़ी हुई है।]

('अधवाटे' : मोहनसिंह)

प्रीतमसिंह अपनी कविता के लिए जव प्रतीक भारतीय परम्परा, लोक-साहित्य, संस्कृति या प्राचीन भारतीय इतिहास से लेते हैं, तव उन्हें समझने में पाठकों को इतनी कठिनाई नहीं होती। लेकिन कभी-कभी कवि अपनी भावनाओं के वेग और अपने स्वभाव की चंचलता के कारण उन्हें सुलझाये-सँवारे विना ही छोड़ देता है।

इक मिट्टी दी मुट्ठी
भर के
नैनां नाल नीझ ला तक्की
नक्श गवाचे हुए न दिस्से
होठ हंसा न सक्की,
लभ-लभ चमकीलियां घुंघरालियां
नज़र सैहक के थक्की
केर-केर उङ्गला चों भौं ते
कूक अन्त में उट्ठी
हाय नी
इक मिट्टी दी मुट्ठी
[मिट्टी की एक मुट्ठी
भरकर
नैनों के समीप ले जाकर उसे निहारा।
खोये हुए नक्श नज़र न आये
वह होठों पर मुस्कान न ला सकी।
ढूँढ़-ढूँढ़कर चमकीले घूँघट
नज़र तरस-तरस कर थक गई।
उँगलियों के वीच से जमीन पर गिरा-गिराकर
आखिर में चिल्ला पड़ी
हाय री
मिट्टी की मुट्ठी।]

('कत्तक कूंजा' : प्रीतमसिंह सफीर)

नये पंजाबी लेखकों में अमृता प्रीतम ने प्रतीकात्मक शैली का शायद सबसे अधिक प्रयोग किया है, इसलिए कि वह नारी है। एक नारी जो कवि है, और अपनी कविताओं में हमारे जीवन पर व्यंग्य करती है, कहीं उसे ऐसी वात कहनी होती है, जिसे यदि हमारे समाज की कोई नारी कहे, तो अच्छा नहीं समझा जाता। स्त्री की बेबसी का अमृता प्रीतम ने यों वर्णन किया है—

रत्ती मेंदी नाल लवेडी
सूहे सालू विच लपेटी
पीले सोने नाल वलेटी
मास दी बोटी, कुख दी बेटी
वाह-वाह दानी
वाह-वाह दात्रे
किड्डे करम कमाण
जेहड़ी झोली तक्कन
ओ हो ही परवाण।

[मेंहदी से हाथ पीले किये हुए
लाल दुपट्टे में लिपटी
पीत स्वर्ण से मढ़ी
मांस की बोटी, कोख से जन्मी,
धन्य हैं दानी
धन्य हैं दाता,
कितने बड़े कर्मवीर हैं!
जो झोली देखते हैं
वही उन्हें स्वीकार है।]

('कन्यादान' : अमृता प्रीतम)

आर्थिक विवशता के कारण एक भारतीय नारी किसी की हो गई। सारे जीवन के लिए बलात् वह एक ऐसे आदमी के साथ वाँध दी गई, जिसके लिए उसके हृदय में कोई भावना नहीं, कोई स्थान नहीं। आजकल के युग में चाहे वह इस अन्याय के प्रति भीतर विद्रोह कर ले, किन्तु उसके विरुद्ध वह खुले शब्दों में अक्सर अपनी आवाज बुलन्द नहीं कर सकती। यदि उसपर कटाक्ष करना भी चाहेगी, तो किसी वहाने या ओट से ही वह कर सकती है —

अन्नदाता
कामें मां बाप
दिते कामे ने जम
कामे दा कम है
सिर्फ कम।
बाकी वी तां कम
कर दै एहोई चम
ए वी इक कम।
अन्नदाता।

में चम दी गुड्डी
खिडलै खिडालै
लहू दा प्याला
पो लै पिला लै।

[अन्नदाता !
मेरे माता-पिता श्रमिक थे
जिन्होंने मुझ श्रमिक को जन्म दिया।
श्रमिक का काम है
केवल काम करना
शेष काम भी तो हैं
यही शरीर करता है
यह भी एक काम है ?
अन्नदाता !
में मांस की एक गुड़िया हूँ
खेल ले, खिला ले
लहू का प्याला हूँ,
पी ले, पिला ले।]

('अन्नदाता' : अमृता प्रीतम)

पंजाबी में कहानी का जन्म सही अर्थों में सन् १९३५-३६ ई० में ही हुआ था। इस युग को पंजाबी-कविता की प्रतीकात्मक शैली ने गद्य में चेतना की अंतर्धारा (Stream of Consciousness) का रूप ग्रहण किया। किसी पात्र से कुछ कहलवाना इतना सरल नहीं, जितना उसकी उपचेतना का अध्ययन करके उसमें समा जाना। इस तरह समय, स्थान और वास्तविकता के बन्धनों से ऊपर उठकर कई बार लेखक, कम-से-कम शब्दों में, वह कुछ कह सकता है, जो यों ही किसी पात्र से कहलवाना असम्भव-सा प्रतीत होता है। पाश्चात्य देशों में इस शैली का कविता में भी प्रयोग किया गया। हमारे देश के उर्दू के कवि 'मीराजी' ने चेतना की धारा को अपनी रचनाओं में बड़ी सुघरता से निखारा। पंजाबी में इस तरह की कविता कम लिखी गई। किन्तु पंजाबी-कहानी में नवीनता को ग्रहण करके उसके सुन्दर प्रयोग किये गये। जब उर्दू में हसन अस्करी की प्रसिद्ध कहानी 'हरामजादी' छपी, उससे पहले पंजाबी में इस प्रकार की कई कहानियाँ छप चुकी थीं। हमारे देश में चेतना की धारा की चर्चा पाश्चात्य उपन्यासकार 'जेम्स जायस' के प्रसिद्ध उपन्यास 'यूलिसि' के द्वारा हुई थी। 'सवेर सार' कहानी-संग्रह में इसी नाम को कहानी चेतना की धारा के आधार पर ही लिखी गई। एक सुबह एक नौजवान सो कर उठता है। पलंग पर लेटे-लेटे उसे जो-जो खयाल आते हैं, उन्हीं खयालों की लड़ी ही अन्त में एक कहानी बन जाती है। 'आन्द्रा' नामक उपन्यास में जब जमींदार को यह पता लगता है कि जिसको

वह मरवा रहा है, वह उसी के खून का खून है, उसी के अंग का अंग है—इस द्वन्द्व, इस उलझन को लेखक ने चेतना की लहर के द्वारा ही व्यक्त किया है।

नये लेखकों ने यह भी सोचा कि साहित्य को जीवन के निकट होना चाहिए। हमारा साहित्य सामान्य जीवन का, वह जैसा भी है, दर्पण होना चाहिए।

फलतः, हमारे नये लेखकों और कलाकारों ने जीवन की साधारण-से-साधारण घटनाओं को घिनौने-से-घिनौने पहलुओं को, भद्दे-से-भद्दे पात्रों का चित्रित करना आरंभ कर दिया। इस तरह, एक तो वे यह दिखाना चाहते थे कि उन्होंने पुराने बन्धनों को तोड़ फेंका है और दूसरे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि हमारे चारों ओर का धूलि-धूसर जीवन भी कला का विषय बन सकता है। बस, वे जिन्दगी की नालियों को उलीचने लगें। समतल और सुन्दर को उखाड़कर उसके नीचे की मुद्दतों की गंदगी को सजा-सँवारकर, उस भद्देपन और उलझन को सविस्तर प्रस्तुत करते लगे।

उर्दू के कुछ लेखकों ने भी गन्दगी और भद्देपन को आश्रय दिया। 'लिहाफ' और 'काली सलवार' जैसी कहानियाँ लिखी गईं। हस्मत और मंटो पर मुकद्दमे चले। पंजावी-साहित्य भी इस असर से न बच सका। कविता में प्रीतम सिंह 'सफीर' के ये शब्द कुछ अधिक कड़े अनुभव किये गये—

किसे कुँआरों दे कजले रंगे नैन
प्रीत नक्शयाँ नाल भरे होय
सत अठ वार झनां नूं तरे होय।
घुग्घी वाँग बना के मुखड़ा
कन्त नूं बरदें हैं न।

[किसी कुमारी के कजराये नयन,
प्रीति के डोरों से चित्रित,
सात-आठ बार चनाव को जो पार कर चुके हैं
फाख्ता की तरह अपना मुख बनाकर
कन्त को अपनाते हैं।]

('अमृतसरी प्रीत' : प्रीतमसिंह 'सफीर')

'कुड़ी कहानी करदी गई' नामक कहानी-संग्रह को लड़कियां लुक-छिपकर पढ़ती थीं। लड़कियों के कालिजों की लाइब्रेरी में तो इस संग्रह को स्थान नहीं मिला, लेकिन कालिज की प्रिन्सिपल और लाइब्रेरी की अध्यक्षा निजी कॉपी खरीदने के लिए उतावली रहती थी। इसलिए कि 'कुड़ी कहानी करदी गई' संग्रह में 'खरींड' नामक कहानी में एक ऐसे अध्यापक का चित्र खींचा गया है, जो दूसरी-तीसरी कक्षा में पढ़नेवाले एक लड़के से इस प्रकार प्यार करता है, जैसे एक मर्द एक औरत से। इस तरह, 'मनमारे' नामक कहानी में एक पढ़ी-लिखी औरत अपने शरीर की गरमी देकर एक गरीब भूखे-नंगे ठंड से ठिठुरे हुए नौकर को मौत

के मुँह से बचा लेती है। 'गुलाम' नामक कहानी एक ऐसी अँगरेज औरत का चित्र सामने लाती है, जो एक हिन्दुस्तानी नौकर को दूर नदी के किनारे ले जाकर हरी घास के ऊपर बिछे हुए एक बहुत कीमती कालीन पर बैठने को कहती है; एकान्त में अपने साथ शराब पीने पर मजबूर करती है, उसे अपने शरीर का गोरापन दिखाती है और वह नौकर घबराया हुआ उस अँगरेज औरत की बाँहों से अपने को छुड़ाकर भाग जाता है।

बलवन्त गार्गी के नाटक 'लोहाकुट' में काकू अपनी बेटी बैणों की लिपटी हुई सलवार का बार-बार जिक्र करता है। 'निक्की निक्की बाशना' में मोहनसिंह का एक पात्र अपनी बेटी रेशमा से उसके घर देर से आने पर इस तरह के प्रश्न पूछता है, जो शायद ही कोई बाप अपनी बेटी से पूछेगा।

इसी तरह जिन्दगी के गन्दे चित्रों को और भी गन्दा प्रस्तुत करना, जान-बूझकर भद्दी चीजों को ढूँढ़ना और उन्हें उनके स्वाभाविक वातावरण से अलग करके पेश करना उस युग के साहित्य का एक विशेष गुण था। जिन स्थानों का, जिन वस्तुओं का उल्लेख करना साहित्य में वर्जित था, उन्हें विशेष रूप से उभारा जाने लगा।

एक समय था कि राजे-महाराजे, अमीर, जागीरदार, पंडित, संत, विद्वान्, फौजी, चाँद-जैसी सुन्दर 'हीर', फूल-जैसे कोमल 'राँझे' और 'यूसुफ' साहित्य की चेतना में बसे हुए थे। फिर, एक समय यह आया, जब मध्यम श्रेणी के पात्र भी साहित्य के मन और प्राण में स्थान पाने लगे।

मेरी नाजो नार
नहीं कोई हीर
ना मैं हां रांझा
....
....
भावें तक मेरी नाजो दा कुछ बेडोला
मुख तों झांके मुठ हड्डियां दी नक शिख होला
बाकी वी मूंह मत्था मसा गुजारा।

[मेरी नाज-भरी पत्नी
न तो कोई हीर है
और न मैं राँझा हूँ।
....
....
चाहे मेरी नाज भरी पत्नी की नाक बेडौल-सी है।
उसके मुखड़े पर हड्डियाँ झाँक रही हैं
और उसका नख-शिख साधारण है
बाकी भी उसका चेहरा-मोहरा बस मामूली है।
......................]

('मेरी नाजो नार' : देवेन्द्र सत्यार्थी)

इस तरह 'मसां गुजारा' से हटते-हटते हमारे कलाकार उन पात्रों की ओर आये, जो गन्दे थे—बहुत गन्दे, जिनसे आम लोगों को घिन आती थी, लेकिन वे हमारे समाज में थे जरूर।

'आन्द्रा' नामक उपन्यास में इसी तरह का पात्र ढेरों है।

पर, यह सब नवीनता क्या स्वस्थ थी? सन् १९४६ ई० में पंजाबी के नये लेखकों ने सोचा कि हम किधर जा रहे हैं। हमारे साथी उर्दू के लेखक भी उस समय भटके हुए थे। हमने अपने-आपसे पूछा कि दुनिया में जो इतनी बड़ी लड़ाई हुई, उसका हमने साहित्य में कितना और कैसे चित्रण किया? सन् १९४२ ई० में हमारे देशवासियों ने स्वतन्त्रता के लिए एक बड़ा प्रयत्न किया था। हमारे साहित्यिकों ने उसपर क्या लिखा? सन् १९४३ ई० में बंगाल भूख से मर गया। हमारे कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार और नाटककार उस दुर्घटना से कहाँतक प्रभावित हुए? महात्मा गांधी के अहिंसा-दर्शन पर सारे विश्व की नजरें लगी हुई थीं। हमारे लेखकों ने उस दर्शन को कभी अपना विषय बनाया? अपनी मातृभूमि, अपने देश की बड़ाई में, 'वन्देमातरम्' और 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' के अतिरिक्त सारे-के-सारे देश में इस तरह के कितने गीत लिखे गये? हम नये लेखक बगलें झाँकने लगे। हमें ऐसा लगा, जैसे हम अभी तक अपनी जिन्दगी से, वास्तविकता से, स्वस्थ मूल्यों से बहुत दूर पड़े हैं। जो कुछ हमारे कवि गा रहे थे, जो कुछ हमारे कहानीकार लिख रहे थे, जो कुछ हमारे नाटककार खेल रहे थे, जो कुछ हमारे उपन्यासकार चित्रित कर रहे थे—वह सब कुछ फीका-फीका-सा गलत-गलत-सा लगने लगा। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जो खेल हमारे देशवासियों ने सन् १९४७ ई० में खेला, जो खून की होली हमारी साम्प्रदायिक भावनाओं ने हमसे खिलवाई, उसे हमारे साहित्यकार पहले से भाँप न सके। जनता हमसे चेतावनी न पा सकी। नये लेखकों की यह सबसे बड़ी हार थी। यदि हम सही अर्थों में प्रगतिशील होते तो, अपने पाठकों को सीधे और सही रास्तों पर चला सकते।

सन् १९४६ ई० में एक बार हमने फिर अपने दृष्टिकोण को बदला और यह फैसला किया कि प्रगतिशील साहित्य वह है, जिसमें प्रतिदिन के साधारण जीवन को विकासोन्मुख दिखाया जाय। जिसमें जीवन की स्वस्थ भावना का चित्रण हो, जीवन के स्वस्थ मूल्यों को उभारा जाय। लूट, खसोट, गन्दगी, अंधविश्वास, अज्ञानता, भूख और बीमारियों के प्रति घृणा पैदा की जाय। स्वस्थ साहित्य वह है, जिसमें इन्सान की इन्सानियत को उसके सारे उपकरणों के साथ सजा-सँवारकर प्रस्तुत किया जाय। कला और जन-साधारण के बीच जो खाई है, उसे पाट दिया जाय। स्वस्थ साहित्य में नकारात्मक चरित्र (Negative Characters) नहीं होते, गन्दी बात करके मजा नहीं लिया जाता। स्वस्थ साहित्य में जीवन की वास्तविकता को उसकी सुन्दरता और उसके स्वस्थ उद्देश्यों के साथ चित्रित किया जाता है। 'लहू-मिट्टी' नामक उपन्यास के पात्रों में आम आदमियों की सामान्य सुन्दरता झलकती है। इस उपन्यास के पात्र इसलिए अच्छे नहीं कि वे निर्धन भूखे हैं और उनके प्रति हमारे हृदय में दया पैदा होती है, वरन् इसलिए कि वे पुराने बंधन, रीतियों और जीवन के अस्वस्थ मूल्यों की उपेक्षा करके, नई राहों पर विचरना चाहते हैं।

इस तरह प्रगतिशील साहित्य के बारे में हम पंजाबी-लेखक अपने विचार सुलझाने लगे। नई विचारधारा और भावनाओं के अनुसार इस तरह की रचनाएँ हमें पसंद आने लगीं :

सवेरे सवेरे
अज मुंह हनेरे
किसान इक दे बेटे
फसलां च खल के
घुमाणी घुमाई
ते बदलां दे पिच्छे
चिरां दे सुत्ते होए
अण दिसदे रब्बां नं
पत्थर ने मारे।
परोई होई ए लडी टुट जासी
आकाशां दे विच इक शोर होर पैसी
सिथिल पैंतरे दा गला घुट जासी
तारे, लथ जासन ए तारे
× × × ×

[सवेरे-सवेरे
एक किसान के बेटे ने
खेतों में खड़े होकर
गोफना घुमाया,
और बादलों के पीछे
चिरकाल से सोये हुए
अदृश्य देवताओं पर
ढेले मारे।
यह पिरोई हुई लड़ी टूट जायगी
आकाश में एक ओर शोर होगा
शिथिल पैंतरे का गला घोंट दिया जायगा
तारे, उतर जायेंगे—ये तारे।]

'तारे लथ जासन' : दुग्गल

इस तरह की 'पगडंडियाँ' हम ढूँढ़ ही रहे थे कि सन् १९४७ ई० में देश स्वतंत्र हो गया। देश की स्वतंत्रता के साथ देश के टुकड़े भी हो गये। देश के बँटवारे में जो खून-खराबा हुआ, उसका उदाहरण शायद ही कहीं मिले।

अगस्त, सन् १९४७ ई० के बाद के प्रगतिशील पंजाबी-साहित्य में अन्य बोलियों की तरह दो विशेष प्रवृत्तियाँ पाई जाने लगीं।

देश के विभाजन और उसके साथ हुए अत्याचारों ने कई प्रगतिशील साहित्यिकों की कड़ी परीक्षा ली। उर्दू के प्रसिद्ध साहित्यिक सआदत हसन मंटो और हसन अस्करी जैसे मुस्लिम लीगी हो गये। हमारे कुछ पंजाबी-साहित्यिकों ने भी पाकिस्तानी नमक और फलों का बॉयकाट कर दिया। साम्प्रदायिक झगड़ों की बाबत पंजाबी-साहित्य में कुछ लेखकों ने सारा अपराध

मुसलमानों पर थोपा है, किन्तु इससे समझदार पाठक सन्तुष्ट नहीं हो पाता। कइयों ने जहाँ मुसलमानों को बुरा-भला कहा है, तो साथ-साथ हिन्दू और सिखों की भी निन्दा की है। इस तरह, जान-बूझकर केवल दोनों पार्टियों में अपराध को बाँटना कुछ बनावटी-सा मालूम होता है। कइयों ने इस अत्याचार का उत्तरदायित्व आदमी के अन्दर की पैशाचिक प्रवृत्ति को ठहराया है, नेताओं के माथे दोष मढ़ा है। अमृता प्रीतम की साम्प्रदायिक झगड़ों के बारे में प्रसिद्ध कविता इस विषय पर एक सुलझा हुआ उदाहरण है—

आज आखाँ वारिश शाह नूं कित्ते कबरां विच्चो बोल
... ...

इक रोई-सी धी पंजाब दी, तूं लिख-लिख मारे वैण
अज लक्खाँ धीआं रोंदिया, तैनूं वारिसशाह नूं कैहण
वे दर्दमन्दां दया दर्दिया उठ तक अपना पंजाव,
अज वेले लाशां विच्छियां, ते लहू दी भरी चिनाव।

[आज वारसशाह से कहती हूं : कहीं कब्रों में से बोलो
... ...

एक रोई थी बेटी पंजाब की, तुम करुण गान लिखते चले गये,
आज लाखों बेटियाँ रोती हैं, वारिसशाह और तुमसे कहती हैं,
ओ दुखियों के हमदर्द उठ देख अपना पंजाव
आज जंगल में लाशें बिछी हुई हैं और चनाव खून से भरपूर है।]

'अग खाए वाले' नामक कहानी-संग्रह साम्प्रदायिक झगड़ों के बारे में ही लिखा गया है। इनमें रावलपिंडी-कांड से महात्मा गांधी की हत्या तक के रक्तिम युग का चित्रण है। नानक सिंह के दो उपन्यासों का विषय भी यही साम्प्रदायिक भावना ही है।

अगस्त, सन् १९४७ ई० में देश स्वतंत्र हुआ। लाखों बेघर हो गये, लाखों जानें चली गईं। मन्दिरों को जलते हमने देखा, मस्जिदों की ईंट-से-ईंट हमारे सामने बजाई गई। अमृता प्रीतम ने 'मेरी इकरारोंवाली रात' नामक एक कविता लिखी। पर, मोहन सिंह मानते हैं कि सही स्वतंत्रता तभी मिलेगी, जब हम इस भुखमरी के अभिशाप से मुक्त होंगे, जब हमारी दरिद्रता की काली चादर उतर जायगी। स्वतंत्रता का एक लाभ अवश्य हुआ। हमारे साहित्यकों ने स्वतंत्र देश के लेखकों की तरह सोचना आरंभ कर दिया। मोहन सिंह, प्रीतम सिंह 'सफीर', अमृता प्रीतम आदि साहित्यिक जन-साधारण के पास आकर खड़े हो गये हैं और उनके साथ हो रहे अन्याय की बात दुनिया को पुकार-पुकारकर सुनाने लगे हैं।

नया पंजाबी साहित्य आज बड़े योग्य और समर्थ हाथों में है। प्रथम बार साहित्य के सभी अंगों की समान रूप से उन्नति हो रही है। जहाँ आज सुरेन्द्र सिंह नरूला पंजाबी-जीवन को सुचारु रूप से अपने उपन्यासों में चित्रित कर रहे हैं, जहाँ बलवन्त गार्गी पंजाबी रहन-सहन को अपने नाटकों में स्वस्थ ढंग से अंकित कर रहे हैं, वहाँ मोहन सिंह 'सफीर', अमृता प्रीतम आदि पंजाबी के कवि ऐसे काव्य का सर्जन कर रहे हैं, जिसपर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है।

—करतारसिंह दुग्गल

कश्मीरी-भाषा और उसका साहित्य

(क)

कश्मीरी-भाषा का क्षेत्र तो कश्मीर-घाटी के अन्दर ही सिमटा हुआ है, जो १०,००० वर्गमील से कुछ कम है; पर जम्मू-प्रान्त के किश्तवार जिले में भी कश्मीरी की ही एक उपभाषा बोली है। इस तरह, कुल मिलाकर, यह लगभग ५०,००० व्यक्तियों की मातृभाषा है।

ध्वनि-विशेष

इस भाषा की ध्वनिमाला में छह स्वर ऐसे हैं, जो देवनागरी स्वरों के अतिरिक्त हैं। वे यों है—

१,२ : अ, आ (अर और आर या लर और लार शब्दों में)

३,४ : अु, अू * (तुर और तूर शब्दों में); और

५, ६ : ऍ, ऑ (जो प्राकृतों के ह्रस्व ए और ओ के समान हैं—म्यै और मौर शब्दों में)

ऐसे ही व्यञ्जनों में—

च़, छ़ और ज़ विशेष ध्वनियाँ हैं, जिनमें से च़ और ज़ विशेष ध्वनियाँ तो मराठी और पश्तू में भी पाई जाती हैं; और छ़ च़ का ही महाप्राण है।

लिपि

आज से छह सौ वर्ष पहले कश्मीरी भाषा शारदा-लिपि में लिखी जाती थी, जो ब्राह्मी का कश्मीरी-संस्करण-मात्र है। पर १४वीं शती में फारसी राजभाषा बनी, तो कश्मीरी के लिए भी फारसी-लिपि का प्रयोग बढ़ता गया और धीरे-धीरे शारदा-लिपि पुरोहितों तक ही सीमित रह गई। इसी कारण अब फारसी-लिपि को ही कश्मीरी-ध्वनियों के अनुकूल बनाकर अपनाना पड़ा है। वैसे शारदा-लिपि भी सभी ध्वनियों के लिए संतोषजनक नहीं रही है। उसमें भी उसी प्रकार के परिवर्द्धन की आवश्यकता है, जैसे देवनागरी में। छोटे-से घेरे में देवनागरी-लिपि का भी प्रयोग होता ही रहा है। भारत के संविधान का कश्मीरी-अनुवाद देवनागरी-लिपि में भी छपनेवाला है।

---

*ध्वनि-विशेष की संख्या ३-४ की मात्राओं में जो चिह्न कश्मीरी भाषा में प्रयुक्त होते हैं, वे चिह्न हिन्दी में नहीं है। केवल संकेत के लिए मात्राओं के नीचे छोटी लकीर लग दी गई है।

उद्भव

कश्मीरी-भाषा कब और कैसे उभरी, निश्चय से नहीं कहा जा सकता। फिर भी, ग्रियर्सन के मत को फिर से परखना जरूरी है। उन्होंने जिन तथ्यों के आधार पर कश्मीरी को दारद-परिवार की संतति बताया था, उससे इस मत का समर्थन वहुत कम हो पाता है; विशेष कर कश्मीरी-क्रिया पदों और सर्वनामों की दृष्टि से।

कश्मीरी-क्रियापदों का विकास एक ऐसी संश्लेषण-पद्धति पर होता रहा है, जो भारत की दूसरी आधुनिक भाषाओं में प्रचलित नहीं। उदाहरण के लिए लीजिए—

हावुन (दिखाना) के ये रूप—

१. हावथस (तुमने दिखाया उसको)
२. होवथस (तुमने दिखाई उसको)
३. होव्यथस (तुमने दिखाये उसको)
४. हाविथस (तुमने दिखाई उसको)
५. होवथम (तुमने दिखाया मुझे)
६. होवनम (उसने दिखाया मुझे)
७. होवनस (उसने दिखाया उसे)
८. होवमस (मैंने दिखाया उसे)
९. होवमय (मैंने दिखाया उसे) आदि-आदि।

कश्मीरी के इन क्रियापदों में कर्ता के अतिरिक्त कर्म के पुरुष, लिङ्ग और वचन का भी स्पर्श पाया जाता है; यहाँतक कि द्विकर्मक की रंगत भी मिलती है। संश्लेषण की यह प्रवृत्ति कश्मीरी की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है; पर दारद-भाषाएँ इस रहस्य पर अभी तक कोई विलक्षण प्रकाश नहीं डाल पाई हैं।

रही बात कश्मीरी-भाषा में घोष महाप्राण के अभाव की। यह विशेषता सिन्धी और पश्तू की भी है; बल्कि पंजाबी तथा डोंगरी में भी इन वर्णों का उच्चारण 'ह्' की ध्वनि से मुक्त है। पूर्वी बंगाल और राजस्थानी में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। इसे दारद-प्रस्ताव मान भी लिया जाय, तो इसी बिना पर केवल कश्मीरी-भाषा को दारद-संतति ठहराना युक्तियुक्त नहीं।

इसके विपरीत बिल्हण, कल्हण, शितिकण्ठ और श्रीवर आदि की साक्षियों से स्पष्ट होता है कि कश्मीरी-भाषा भी उन्हीं परिस्थितियों और प्रभावों का परिणाम है, जिनसे गुजराती, मराठी, बँगला, हिन्दी और उर्दू आदि का विकास हुआ है। सम्भवतः, कश्मीरी का उद्गम वह पैशाची है, जो कभी उत्तर-पश्चिम में प्रचलित थी; जिसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में उदीच्य कहा गया है।

शितिकंठ (१३वीं ई०) ने 'महानयप्रकाश' की भूमिका यों बाँधी है—

अथोचितरुचितां नुतिं सर्वगोचरया देशभाषया विरचयितुमाह।

और सर्वगोचर देशभाषा में रची गई नुति का पहला पद्य यों है—

देवत अक्क किश्शी परु राजि
जग घस्मरु भैरु भत्तेत।
नन्त शत्त गासक नेरांज
शमवाजी आशय तत्तेत॥

यह भाषा निस्सन्देह संस्कृत से भिन्न है और प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक निकट है। तो क्या, यही उस समय की कश्मीरी-भाषा नहीं थी और इसी से आज की कश्मीरी का विकास नहीं हुआ है?

बात यों है कि उन दिनों लोकभाषा में शैव-सिद्धान्त प्रस्तुत करने की लगन वैसी ही रही होगी, जैसी पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंशों में बौद्ध और जैनदर्शन समझाने की। शैवदर्शन को लोकसुलभ बनाने का यह प्रयत्न बाद मे भी जारी रहा ही होगा, जभी तो ललद्यद के 'वाख्यों' में भाषा का लालित्य छलक उठा है। चौदहवीं सदी तक कश्मीरी-भाषा बोलचाल के अतिरिक्त दर्शन और लोक-संस्कृति का भी माध्यम बन चुकी थी और जब हम 'ललवाख्य' (अर्थात्, लल की वाणी) की भाषा को बाणासुरवध की भाषा के साथ मिलाकर परखते हैं, तब समझ लेते हैं कि मौखिक परम्परा ने इसे कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिया है।

बाणासुरवध हरिवंश के आधार पर लिखा हुआ पहला कश्मीरी-प्रबन्धकाव्य है। महावतार ने जैनुलाबिदीन बडशाह (१५वीं शती) के शासनकाल में इसे रचा था। श्रीवर की 'राजतरंगिणी' से ज्ञात होता है कि इस शासक के दरबार में कश्मीरी-भाषा का भी काफी मान था। महावतार के अतिरिक्त महसोम और योधभट्ट ने भी कश्मीरी में रचना की। सोम ने जैनचरित में अपने आश्रयदाता के गुण गाये और योध ने उसके विषय में एक नाटक जैनविलास रचा। इन तीनों काव्यों में केवल बाणासुरवध बच पाया है; और इसकी 'देशभाषा' के अध्ययन से कश्मीरी-भाषा की अपभ्रंशमूलकता और भी स्पष्ट हो जाती है। एक उद्धरण काफी होगा—

वैशम्पायन कहते हैं—

शुनेत् वनों कुम्भाजे बाणस्
आनोत् मङ्गेत् कित् विनाश्
युद्ध महा दुस्सह ए पानस
चल देवा अपवंचन म भाष्॥ (नर्कटावृत्तम्)

अर्थात्—सुनकर कहा कुम्भज ने बाण से
लाया तू माँगकर विनाश।
युद्ध महादुस्सह यह; अपने-आप
चला जा, देव को अपवचन मत कह!

(ख)

साहित्यारम्भ

अतः, इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि शितिकंठ के 'महानयप्रकाश' की **सर्वगोचर देशभाषा** में ही कश्मीरी-पद्य का पहला प्रस्फुटन दृष्टिगोचर होता है; पर इसका स्पष्ट रूप सबसे पहले ललद्यद के लोकप्रिय 'वाख्यों' में ही हमारे सामने आता है। ललद्यद की यह वाणी कश्मीरी-साहित्य की अमर थाती है और हिन्दू-मुस्लिम, बच्चे-बूढ़े, नर-नारी, सभी के होठों पर शताब्दियों से नाचती आई है। आज भी, जबकि ललद्यद के युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि लुप्त हो चुकी है, उसके सन्देश का रागात्मक स्वर कश्मीर के अन्तस्तल में सोल्लास गूँज रहा है—

श्येवय छुय थलि थलि रोज़ान
मो ज़ान ह्योंद त मुसल्मान
त्रुखय छुख पनुन पान परज़ान
स्वय छय साहिबस सूत्य ज़ान ज़ान

अर्थात्—शिव ही कण-कण में विद्यमान
भिन्न न हिन्दू - मुस्लिम जान।
निपुण है तो आपा पहचान
साहिब का सच्चा वह ज्ञान॥

सन् १३५० ई० के लगभग जब ललद्यद ने होश सँभाला, तब कश्मीर के सांस्कृतिक जीवन में उथल-पुथल मची हुई थी। इधर से शैवदर्शन की जीवन-पोषक परम्पराओं को बाह्य आडम्बरों ने ढक लिया था और उधर से इस्लाम के प्रचारक सूफी फकीर एक नया दृष्टिकोण पेश करने लगे थे। बुद्धिभेद के घुप अँधेरे में अध्यात्म की अमरज्योति लेकर ही ललद्यद कश्मीरी-साहित्य में उतर आई। स्थूल मूर्त्तिपूजा को धर्म का सर्वस्व माननेवाले अविवेकी को उसने आड़े हाथों लिया—

देव है पत्थर, देवल पत्थर
पत्थर ही ऊपर - नीचे
पूजेगा किसको रे पंडित
मन को श्वास से गरमा ले।
पढ़-पढ़ होंठ छिले हैं तेरे
लिख-लिख घिसी अंगुलियाँ हैं
खेद कि फिर भी द्वन्द्व न तेरे
मन के भीतर से छूटा! (रूपान्तर)

कबीर से सौ-एक वर्ष पहले ललद्यद ने इस बाह्य आडम्बर और पाखण्ड पर तीव्र चोटें कीं और लोकभाषा में ही मानव-कल्याण की उद्‌भावना करनेवाली लोक-कविता के सोते बहा दिये। सहजावस्था की अनुभूति पर उसने विशेष जोर दिया—

जो जो काम किया अर्चन है
मंत्र कि जो कुछ उचारा
तन का परिचय पाया मैंने
तंत्र यही परमेश्वर का! (रूपान्तर)

सहजावस्था को पहुँचने से पहले उसने कठोर-से-कठोर साधना की। उसी के शब्दों में—

शून्युक मोदान कोडुम पानस
म्य ललि रुदुम न ब्वद न होश
व्येज़य सपज़िस पानी पानस
अद क्याह गिलि फोल ललि पम्पोश।

अर्थात्—शून्य का मैदान पार कर चुकी तो
मैं लल सुधबुध खो बैठी;
अपने-आप से परिचित हुई तो
कीच में से कमल-जैसी उल्लसित हुई!

और—दर्पण की तरह मेरे दिल से मैल धुल गया
जब कहीं मैं 'जन' को जान पाई
उसे अपने पास ही देखा तो
सब कुछ वही और मैं कुछ भी नहीं!

[कबीर के—अब हरि है मैं नाहीं से मिलान कीजिए!]

संसार से पलायन की जो प्रवृत्ति लल-वाख्यों में कहीं-कहीं नजर आती है, उसका मूल कारण लल के घरेलू जीवन की कठोरता ही नहीं, देशव्यापी राजनीतिक और सामाजिक अस्तव्यस्तता भी है। हृदयहीन सास और अविवेकी पति ने उसकी नाक में दम कर ही रखा था, सामाजिक उपद्रव ने उसके भाव-प्रवण हृदय पर और भी भीषण आघात किया तथा उसका अध्यात्म चीत्कार कर उठा—

कच्चे धागे से सागर में खेती जाती हूँ नैया
टेर दई सुन लेता मेरी पार मुझे पहुँचा देता
खो जाती हूँ कच्ची मिट्टी की थलिया में ज्यों पानी
जियरा मेरा ललचाता है—घर जाती, मैं घर जाती

और—शिव हो, केशव हो, जिन हो या
कमलजनाथ—नामा ही हो
मुझ अबला की भव-रुज हर ले
वह या वह या वह या वह

वास्तव में, कश्मीरी कविता ने जिस वातावरण में आँख खोली, वह सामाजिक और राजनीतिक उपद्रवों से विपएण हो चुका था। लोग दुनिया के कड़वे यथार्थ से घबराकर अध्यात्म की मीठी कल्पनाओं में समाश्वासन ढूँढ़ रहे थे। ऐसे संकट की घड़ी में हमारे कवियों ने भी आध्यात्मिक समन्वय का आसरा लेकर उनके सामने मानवता का एक प्यार-भरा सन्देश रखा। ललद्यद के तीस वर्ष बाद नुंदर्योश (नूरउद्दीन) की वाणी में भी इस संदेश की गूँज साफ सुनाई पड़ती है, जिसमें ज्ञान, भक्ति और सदाचार द्वारा आध्यात्मिक और आधिभौतिक सन्तुलन की प्रेरणा यों प्रकट हुई है—

मक्का और मदीना को मन में ही खोजो
निकट ही राह तो है
सत्य को गहो, द्वेष को तजो
जब कहीं तुम्हें सहज क्रिया सूझेगी !
और—सच यदि सुनो तो पाँचों (इन्द्रियों) को झुका दो
नहीं तो केवल 'मांस' को झुकाने से
तुम बच नहीं पाओगे
'शिव' के साथ जब तुम्हारा मेल हो जाय
हे ऋषितात ! तुम्हारी नेमाज़ जभी सिद्ध हो जाय !

नुंदर्योश की शिष्य-परम्परा 'र्यश' (अर्थात्, ऋषि)-परम्परा कहलाई और इसमें जीवन की तपोमयता के साथ-साथ आचार और विचार की सरल पवित्रता के द्वारा मानव-प्रेम की साधना पर ही जोर दिया गया। 'दूर के ढोल सुहावन' समझनेवाले कौलाचारियों को इस परम्परा ने इसीलिए चिताया—

अरे 'कौल' कहाँ जायगा तू इस पन्थ से
तजकर बाल-बच्चों और घर-गृहस्थी को ?
पाप का यह भार तू किस पर लादेगा ?
हे परमात्मा, हमारे पाप निवार !

नुंदर्योश के बारे में जो सुन्दर लोकगीत और संलापगीत आज भी प्रचलित हैं, उनसे साफ ज्ञात होता है कि 'र्योश'-साहित्य की परम्परा कम-से-कम सोलहवीं शती तक जारी रही होगी,

जब कि वर्तमान 'येंशनामा' लिपिवद्ध किया गया। इस संग्रह में नुंदर्योश की पत्नी ज़यद्यद तथा सन्त महिला शामद्यद आदि की वाणी के नमूने भी उद्धृत हैं।

इसके पश्चात्, जैन-उल् आविदीन बडशाह (१५वीं शती) के काल में कश्मीरी-साहित्य की जो प्रगति रही, उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। बडशाह के पोते हसनशाह के दरबार में भी कश्मीरी-भाषा का बड़ा आदर रहा। उसके कवि गणक प्रशस्त की एक निराली रचना आज भी उपलब्ध है—'सुखदुखचरित', जिसके चार अध्याय हैं—विद्यापरिश्रम, मदनशास्त्र, जन्मजरामरण और तानप्रकाश। शेष साहित्य लुप्त हैं।

गीतिकाव्य

आश्चर्य की बात है कि १६वीं शती में मृतप्राय कश्मीरी कविता को फिर से सजीव करने का श्रेय भी एक नारी को ही है, और वह नारी है हबा ख़ातून।

ललद्यद के 'वाक्यों' का छन्दोविधान परिष्कृत और कसा हुआ नहीं था; उसमें लचीली लय का एक मनोरम संगीत था, पर हबा ख़ातून ने फारसी की 'बहरों' का सहारा लेकर एक संयत छन्दोविधान की स्थापना की। ऐसा लगता है कि उसके पहले ही लोकगीतों के द्वारा कश्मीरी-कविता के आकार-प्रकार में परिवर्तन हो चुका था, पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हबा ख़ातून ने कश्मीरी-गीतिकाव्य की एक नई विधा को विकसित किया, जिसमें आत्मनिवेदन की कोमलता, मार्मिकता और संगीतमयता वैसी ही प्रबल है, जैसी ललद्यद के मुक्तकों में तीव्रता, स्पष्टवादिता और दर्शन-गम्भीरता।

हबा ख़ातून का जीवन ही एक ऐसा करुण काव्य है, जिसका 'अथ' पीडा से होता है और 'इति' विरह से। कश्मीर के शासक यूसुफ शाह चक की प्रेमिका बनने पर उसके कुछ दिन सुख से कट गये, तो उसने रोमांस के मधुर राग भी अलापे, पर उल्लास की मस्ती उनमें भी नहीं ; मानों बीते जीवन का अवसाद उसका पीछा कर रहा हो। उसके कविहृदय पर क्या-क्या बीती थीं, यह उसकी इन धड़कनों से स्पष्ट होता है—

किस आशा पर प्राण टिकेंगे, किस आशा पर ?
सखि वह तो सुध मेरी भूले,
नाम नहीं मेरा लेता, वह नाम नहीं लेता मेरा !
'उर्फा' मना रही है दुनिया
'ईद' है आई हर प्रेमी की
प्रिय बिन 'ईद' भी कैसी ! वह नाम नहीं लेता मेरा !
भीतर ही भीतर सुलगाया
झोंक दिया भट्टी में मुझको
क्षार हुआ चम्पा-तन मेरा, वह नाम नहीं लेता मेरा !
गला दिया है हिम-सा मुझको
व्याकुल कर डाला झरना-सा
भटकाया है सरिता-जैसा—वह नाम नहीं लेता मेरा !

कश्मीरी मौसीक़ी (अर्थात्, संगीत-संहिता) के सर्वप्रथम सम्पादन का श्रेय भी हवा ख़ातून को ही दिया जाता है। आजकल शादी-ब्याह के अवसरों पर जो लोकगीत कश्मीर में गाये जाते हैं, उनमें से अधिकांश या तो हवा ख़ातून के बताये जाते हैं या अरणिमाल के।

अरणिमाल ने १८वीं शती में वही काम किया, जो ख़ातून ने १६वीं शती में। हवा के बाद कई एक कवियों ने उसकी गीति-प्रणाली को अपनाकर वेदान्त और सूफी मत के सामंजस्य से प्रेरित कविता की ; और मुगलकाल में एक साधिका रूपभवानी (अलक्ष्येश्वरी) ने ललद्यद की अध्यात्म-परम्परा को पुनः जीवित भी किया ; पर उसकी पद्य-रचना में वह भावमयता नहीं, जो लल-'वाख्यों' की विशेषता है।

मुगलों के बाद कश्मीर की राजनीतिक स्थिति और भी विप्लवाकुल रही। समाज की नींव हिल उठी, तो आध्यात्मिकता अकर्मण्य निराशा का केन्द्र बनके रह गई, और तुकबंदियों में 'उस पार' के जटिल रहस्य की दुहाई दी जाने लगी। इन परिस्थितियों में किसी ऐसी कवि-प्रतिभा की आवश्यकता थी, जो कविता की सूखी शिराओं में नई अभिव्यक्ति का संचार कर सके; और इसी आवश्यकता की पूर्त्ति अरणिमाल ने की।

अरणिमाल साकार वेदना थी; उसका निष्ठुर पति मुंशी भवानीदास काचरू, फारसी 'बहरे तवील' का विख्यात कवि था ; पर अरणिमाल के प्रति उतना ही निर्मम, जितनी वह उसके प्रति साभिलाष थी। अतः, उस परित्यक्ता तपस्विनी ने अपने पाषाणहृदय प्रियतम के विछोह में तड़प-तड़पकर अपनी दर्द-भरी धड़कन को ही करुण-मधुर गीतों में शब्दबद्ध कर दिया। मांसल होते हुए भी उसका प्रेम पवित्र है और तीव्र होते हुए भी कोमल। इसमें वही समर्पण है, जो मीराँ की पदावली का सर्वस्व है। प्रतीक्षा के जो भावपूर्ण चित्रण अरणिमाल ने किये हैं, वे कश्मीरी-साहित्य में बेजोड़ हैं। उसकी विरह-व्यथा उत्कंठा के आतुर स्वरों में कूक उठती है—

रस के घट पर घट भरती हूँ
उर में मधुमक्खी-गण मेरे!
धर्मस्थानों पर तो तुम्हारे प्रेम की भिक्षा माँगी मैंने
तोड़ चली मैं हेतु तुम्हारे घर के बन्धन सारे
तुम नहीं और मकड़ियों ने बुन डाले जाले
सम्मुख द्वार हमारे!...............

और—*चम्पा हूँ मैं बार-बार क्या बिकूँगी, बिकूँगी?*
मेरे सुन्दर, सुन लो मेरा करुण-क्रन्दन, सुन लो—
यथासमय मुरझा जाऊँगी, आओ भी, आओ भी!

और—*मैं सावन की चम्पा थी, अब आह,*
अरणि-सी पियराई हूँ।

अरणिमाल के ये वेदनागीत भी कश्मीरी-मौसीक़ी का शृंगार बन चुके हैं।

गीतिकाव्य की यह परम्परा १८वीं शती के अन्त तक जारी तो रही, पर बहुत कुछ घिस गई। फिर भी, कश्मीरी-मौसिक़ी के संग्रहों में अज्ञात कवियों के सैकड़ों गीत ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें प्रायः स्त्री की ओर से ही आत्मनिवेदन है और कश्मीर के प्राकृतिक परिवेश में आस-उसास का चित्रण बहुत सुकुमार है। हाँ, स्वरों में मिलन का उल्लास उतना नहीं, जितना विरह-व्यथा का कम्पन है। जैसे इस धड़कन में—

रात-भर मेरे साथ अभिन्न रहा
(फूल पर) ओस की तरह;
सवेरे की किरण फूटते आह मुझे
क्यों छोड़ चला?
सखि, उससे अनुरोध करो,
छवि तो देख के जाय!

रहस्यराग

चार सौ वर्ष की लम्बी यात्रा में कश्मीरी-गीतियों का जो अध्यात्म-स्वर बजता रहा, वह १६वीं शती में पुनः जोर से गूँज उठा। लोकगीतों से जान पड़ता है कि १८वीं शती में भी इस तरह की उत्कृष्ट कविता होती ही रही। नयिहंज़ कथ (नै की कथा) में बाँसुरी की पुकार यों फूट पड़ी है—

मैं दूर जंगल में ओझल थी.....
मेरा भाग्यचोर लकड़हारा मेरा घातक बनकर
आ पहुँचा;
उसकी हत्यारी दृष्टि ने मेरा कचूमर निकाल दिया—
कुलहाड़े से वह जानलेवा चोट करता रहा—

इस तरह की यातनाएँ झेलकर बाँस का टुकड़ा बाँसुरी बन पाया, तो उसके दिल की गहराई से आवाज आई—

चाहता हूँ कि साथियों को दुखड़ा सुनाऊँ
सीना चीरकर अपना दर्द दिखाऊँ
नैस्तान मेरा कितना अच्छा है
अनजान क्या जाने महिमा उसकी
वही जाने जो लामकान (अनिकेत) को है पाये!

जीवात्मा और परमात्मा के विरह का यह संकेत फारसी रहस्यवाद के प्रसिद्ध कवि रूमी की उस विश्वविख्यात मसनवी से प्रभावित है, जिसका आरम्भ यों होता है—

बिश्नव अज नय चूँ हिकायत पी कुनद !

एक और प्रसिद्ध लोककविता 'मांछ तुलर' (मधुमक्खी) है, जिसके रहस्यवाद में भी यथार्थ का राग झनक उठा है।

अत्याचार-पीडित मधुमक्खी एक किसान-नारी को अपना दुखड़ा सुनाती है—

पर्वत-पर्वत से मैं शहद ले आई ····
किसान ने मक्खन से पुती हुई, एक कोठी
बनवाई मेरे लिए;
मैं एक किसान के पल्ले पड़ी, यही मेरी
विधि-विडम्बना थी।
जब उसने भ्रान्ती से मेरा छत्ता चीर डाला,
कितने ही जीवों की मौत उसके सिर चढ़ी ····

यह सुनकर किसान-नारी भी अपनी रामकहानी सुनाती है—

वसन्त को जब मुतस्सद आ गये
किसानों को ढारस बँधाने के लिए
चाटुकारी से उन्होंने हमारा पेट भर दिया
हम झाँसे में आ गये—
शरद में 'समवेदना' भूलकर हमें मारने आ दौड़े।
....
जो फसलें मैंने धरती में बो दी थीं
अरी वह पक भी गईं
खलिहान में उसके ढेर भी लगा दिये मैंने
—सैकड़ों खरवार निकले !
अरी, चप्पे-चप्पे पर मुकद्दम और पटवारी
तौलने आ धमके
बेबस और अकिंचन कितने ही, सखि,
आँचल पसार-पसारकर आ पहुँचे !
मैंने उनके आँचल भर दिये—
यही तो मुक्ति का मार्ग है री !

शताब्दियों से कश्मीरी किसान की जो लूट-खसूट होती आई है, उसपर कितनी चोखी टिप्पणी है इस रहस्य-गाथा में !

रहस्य-काव्यों की यह परम्परा कश्मीरी-साहित्य की एक सम्पन्न पूँजी है। करमबुलंद खान, शाह गफूर और स्वच्छकाल जैसे मस्त कलन्दरों के बाद १९वीं शती के आरम्भ में महमूद गामी ने फारसी-कवि निजामी के 'पंजगंज' को कश्मीरी जामा पहनाकर इस परम्परा को एक नई दिशा दी। पर, प्रवन्ध-काव्य की चर्चा करने के पहले मुक्तक कविता का कुछ और परिचय जरूरी है।

महमूद गामी की गजलों में फारसी तसव्वुफ की लय साफ सुनाई पड़ती है। उसका विश्वास था कि—

भिन्न-भिन्न हैं रंग और भिन्न-भिन्न हैं नाम
आप ही अपने-आपको 'वह' देखने निकला है!

और, 'तमसीले आदम' मसनवी में उसने ज़ीवात्मा और परमात्मा के सम्वन्धों को पानी, बुलबुले आदि प्रतीकों द्वारा चित्रित किया है—

'सूरत' में 'पानी' है, 'ख्वाब' में 'ताबीर'
वैसे ही जैसे 'गुलाब' में 'सुगंधी' व्याप्त है।
मैं एक 'जर्रा' हूँ, 'आफताब' से मेरा मेल होगा?

महमूद गामी ने बुलबुले से पूछा—

रिन्द! तू किस पानी से जिन्दा है रे?

महमूद के समकालीन परमानन्द ने इस अध्यात्म-तत्त्व को 'परा पूजा' के एक प्रतीक द्वारा यों ध्वनित किया—

देह की गुफा के अन्दर सच्चिदानन्द-लिंग
मन के पीठ पर निःसंग बैठा है!

अतः, 'अमरनाथ-यात्रा' के रूपक में 'अध्यात्म-यात्रा' को ही झलकाते हुए उसने पुकारा—

गुफा के अन्दर तुम अपनी (अन्तर्) गुहा में जा पहुँचो—
दूसरे देवी-देवताओं को छुट्टी तो दो!

इस परा पूजा से ही वह 'सहज विचार' सम्भव है, जिसका तत्त्व—'पानृ रोस्त पान स्वरुन', अर्थात् 'आपे से रहित अपने-आपका स्मरण करना' है। 'कुल त छाय' मसनवी में उसने प्रतिपादित किया है कि 'पेड़' के साथ रहने से ही 'छाया' को 'सूर्य' के दर्शन हो सकते हैं।

दूसरे सूफी कवियों ने भी ऐसी ही आध्यात्मिक एकता के तराने गाये, जिनकी टेक यही है कि—

सु छु नोन म्य छु ठोर पननुय पानस।
(वह तो प्रकट है; मेरा आपा ही मेरा आवरण है!)

हसन सूफी, मकबूलशाह, शमस फकीर, रहमान डार, वहाबखार आदि ने संकीर्णता और कट्टरता पर रहस्य-गम्भीर चोटें कीं। इनकी रचनाओं में तसव्वुफ, वेदान्त और शैवदर्शन एकजबान होकर बोलते सुनाई पड़ते हैं। शमस फकीर ने तो वेदान्त और शैवदर्शन की कई परिभाषाओं को भी बड़ी सफाई से अपने छन्दों में उतारा है। जैसे—

दम दमन दम म्य ह्यती, गोम थ॰ऽसानो ;
न्यर्मल मद-वार पिवुम तती, लो लती लो !
तुर्या सुषुफ स्वपुन जाग्रती, दीवान को ज़ानो;
शमस फ़कीरो गम स्य अती, लो लती लो....

अर्थात्—क्षण क्षण मैंने प्राणायाम किया,
मैं 'एकसान' हो गया !
निर्मल मदिरा मैंने वहीं पी डाली,
वाह री, वाह री, वाह !
तुरीया, सुषुप्ति, स्वप्न और जागृति,
मैं दीवाना क्या जानूँ ?
शमस फ़कीर ! हर प्रकार से वहीं पर
निर्विकल्प हो जा—वाह री, वाह री, वाह !•••

जातिभेद को प्रायः इन सभी कवियों ने धिक्कारा है। अजीज दरवेश ने 'कुफ्रो इस्लाम' का समन्वय एक सुन्दर रूपक में यों किया है—

जब उस (प्रियतम) ने मुखड़े पर बाल बिखेर दिये,
कुफ्र और इस्लाम (के कजिये) मिटा दिये,
उजाला और अँधेरा गले मिल गये—
मेरा 'जाने जानाँ' आड़ में जा छिपा !

अतः, वह विवेक के पुल से पार उतरने का उपदेश करता है ; क्योंकि—

उससे आगे 'फनि फीलल्लाह'।

(अर्थात्, 'दिव्य में अन्तर्लीनता' है)—

वहाँ हिन्दू है न मुसलमान !

हसन के शब्दों में—*ओलिमव छ्रु यन द्युत काबृ बुतख़ानस।*

(अर्थात्, 'पंडितों और मुल्लाओं ने ही काबे को बुतखाने से अलग कर दिया।')

धार्मिक उद्गार

धार्मिक कविता भी उन दिनों खूब हुई। जहाँ एक ओर शिव, पार्वती, राम और कृष्ण के भजन, कीर्तन और चरित गाये गये, वहीं दूसरी ओर हजरते मुहम्मद की शान में नातें कही गईं और मेराजनामे लिखे गये। कई रचनाओं में विशेषकर कृष्णदास वनपूह और अब्दुल अहद नादिम की 'लीलाओं' और 'नातों' में उत्कृष्ट कविता का भी उन्मेष हुआ है। कुछ-एक गीतों में तो भावमय सरलता का चित्रण अपूर्व है, जैसे इस गीत में—

सुब्हहकि नूरो मो कर चेर!
अर्थात्,—*सुबह के उजाले! देर न कर!*
ज्यों ही तेरा प्रतिबिम्ब पूर्व से झलकेगा
घुप अँधेरा गल जायगा, आकाश मुसकरायगा!
दिन दौड़ा-दौड़ा आयगा; शब दूर हो जायगा
सुबह के उजाले! देर न कर!

ऐसे ही कृष्णराजदान के रास-गीतों से दो भावचित्र लीजिए—

छह महीने एक ही 'रात' हो गये
गोपीनाथ जो नाचने लगा।
वर्ष एक दिन हुआ; मास एक पहर हुआ—
चलो री, चलो री, रास खेलें!

और—

रात हुई दिन, बस्ती भी वन
मन ले भागा मनमोहन!
समय थमा और 'कल्प' हुए क्षण
मन ले भागा मनमोहन!"

इस प्रकार की कविता में विषय सौर भाषा पर हिन्दू और मुस्लिम-दर्शनों की छाप अनिवार्य थी; फिर भी अध्यात्म की मूलभूत एकता का राग दोनों में फूट पड़ा है, और यह राग प्रबन्ध-काव्य में और भी गम्भीर होता गया।

प्रबन्ध-काव्य

अबतक हम पौराणिक प्रबन्ध-काव्य के साथ ही ऐतिहासिक चरित-काव्य का आरम्भ भी देख चुके हैं। बडशाह के शासनकाल (१५वीं शती) में जहाँ 'बाणासुरवध' लिखा गया, वहाँ 'जैनचरित' भी रचा गया; परन्तु बाद में किसी ऐतिहासिक चरितकाव्य की सूचना तक नहीं मिलती। हाँ, १७वीं शती में साहिबकौल ने 'कृष्णावतार' लिखा, जिसकी शैली ने बाद में 'लीलाकाव्य' की विधा प्रचलित की; और राम तथा कृष्ण के आख्यानों पर काव्य

लिखे जाने लगे। साहिबकाल के इस काव्य का कृष्ण-सुदामाप्रसंग काफी आकर्षक है। किन्तु, इस विषय पर सबसे सुन्दर काव्य है (१९वीं शती का) परमानन्द का 'सुदामचर्यथ', जिसमें सुदामा का परिचय यों कराया गया है—

सुदाम जीव ओस यार बगवानस !

अर्थात्, सुदामा जो (=जीव) भगवान् का मित्र था !

जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की यह व्यंजना इस काव्य में बहुत स्वाभाविक हुई है ; कहीं पर भी व्याघात नहीं आने पाया है। कृष्ण ने सुदामा को भगवान् बना दिया; क्योंकि—

जो कोई उसकी ओर एक पैर बढ़े
भगवान् उसकी ओर दस पैर आगे आ जाय !

और—

जिसपर भगवान् का अनुग्रह हो जाय
उसकी अपनी पर्णकुटी ही द्वारका बन जाय !

रादा-स्वयंवर में परमानन्द ने प्रेम की व्याख्या यों की है—

अभेद का भेद पराये पर प्रकट नहीं किया जाता ;
आँख की पुतली ही पुतली का आलिंगन करती है ;
प्रेम की कथा है ही क्या ?
दो का एक होके रह जाना !

और, आरम्भ में ही कवि ने काव्य की भूमिका यों बाँधी है—

हृदय मेरा गोकुल है,
वहीं तुम्हारी गायें चरती हैं;
हे 'चित-विमर्श—दीप्तिमान् भगवान्'।
वृत्तियाँ मेरी गोपियाँ हैं, तुम्हारे पीछे दौड़ती हैं,
बाँसुरी का नाद सुनकर मतवाली हो उठती हैं—

और फिर 'प्रेमयोग' का रास खेला जाता है, तो—

पेड़-पौधे, घास-फूस और कंकड़-पत्थर
दीदे फाड़-फाड़कर
अपने अन्तर के रहस्य खोलने लगते हैं !

पौराणिक काव्य में शिव-पार्वती के दिव्य प्रेम का भी चित्रण हुआ है। इस विषय की सबसे सुन्दर रचना भी परमानन्द की ही है। वह है 'शिव-लगन', जिसमें शिव और पार्वती के

मिलाप में आत्मा और परमात्मा के एकीभाव का ही रूपक बाँधा गया है। कवि का कौशल देखिए कि लौकिक जीवन के तारों पर ही उसने आत्मा का दिव्य संगीत छेड़ा है।

भाव की मनोरम गम्भीरता के साथ-साथ परमानन्द की कविता का भाषा-चातुर्य अपूर्व है। पद-पद उसकी प्रतिभा के इशारे पर वैसे ही नाचता दिखाई देता है, जैसे बीन की धुन पर साँप ! प्रासानुप्रास के मधुर संगीत में यमकों और श्लेषों की सरस ध्वनि एक अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि करती है और सुकुमार माधुर्य का प्रपात-सा फूट पड़ता है।

परमानन्द के शिष्य कृष्णदास ने भी 'शिवलग्न' कहा और कृष्णलीला रची। दोनों में उसने लोकगीत की शैली अपनाई; विशेषकर 'शिवलग्न' में।

कश्मीरी-प्रबन्ध-काव्य का एक प्रिय विषय रहा है—'दमयन्तीचरित'। परमानन्द के एक और शिष्य लक्ष्मणभट्ट नागाम ने 'नलदमन' लिखा है, जो फैजी के फारसी 'नलदमन' से होड़ करने की कोशिश का परिणाम मालूम होता है।

एक और विषय, जिसपर आधा दर्जन से अधिक कवियों ने अपनी प्रतिभा को आजमाया है, अकनन्दुन की करुण कथा है। एक दम्पती वचन पालने पर मजबूर हो स्वयं अपने हाथों अपने इकलौते बेटे को मारकर पकाते हैं और खाते हैं और परीक्षा में खरा उतरकर फिर से उसे प्राप्त कर लेते हैं ! विषम वेदना और अपार उल्लास की धूप-छाँह ने रमजान भट्ट के अकनन्दुन को अमर कर दिया है।

रामकथा का पहला कश्मीरी-काव्य तो १८वीं शती का रामावतारचरित ही जान पड़ता है, जिसका कवि दिवाकरप्रकाश फारसी का भी अच्छा विद्वान् था। अतः, आश्चर्य की बात नहीं, जो इस रचना पर फारसी 'रज़्मिया' शायरी की छाप हो। इसमें राक्षस-सेना और रामसेना की जो भड़पें चित्रित की गई हैं, उनमें फारसी शाहनामे के जंगों-का-सा समाँ बाँधा गया है; और इसके छन्दोविधान पर भी फारसी प्रभाव स्पष्ट है। फिर भी, विषय और भाषा के लिहाज से यह काव्य कश्मीरी की मौलिक रचनाओं में से है। भाषा वर्णनानुकूल और संतुलित है तथा मनोवेगों का चित्रण बहुत स्वाभाविक और प्रभावशाली है। जंगों के अतिरिक्त शेष सभी प्रसंगों में देशकाल की उद्भावना खूब हुई है। वेदना को जाग्रत् करने में कवि को विशेष सफलता मिली है। काव्य के परिशिष्ट लवकुशचरित में सीता का करुण निवेदन तो कश्मीरी-साहित्य में बिलकुल निराली चीज है।

वसन्तागमन के उल्लास का सबसे गतिशील चित्रण भी इसी काव्य में मिलता है—

आ ही गई बहार ; बुलबुल बोलो तो
हमारे हाँ आ जाओ—उत्सव मनाऊँगी
'कठकुश' विदा हो गया ; गरजो नन्हीं जलधारा
नींद से जाग उठो—अभी सुवेला है !
चम्पई तन को महकाकर निकलो भी संबुल,
जमीना के पास आजादी का खत लेकर ?

'नरगिस' है प्याला लिये तुम्हारी प्रतीक्षा में ;
हमारे हाँ आ जाओ—उत्सव मनाऊँगी !

कथावस्तु की दृष्टि से भी **रामावतारचरित** विलक्षण है। इसमें सीता को मन्दोदरी की बेटी और महामाया का अवतार बताया गया है। (मलयरामायण में भी यही अनुश्रुति सुरक्षित है।) कुश के जन्म की बात भी यहाँ निराली है—कुश के एक तिनके से उसे वाल्मीकि ने उपजाया है।

बाद के रामकाव्यों में १९वीं शती का **शंकररामायण** और २०वीं के आरम्भ का **विष्णुप्रतापरामायण** भारी-भरकम होते हुए भी पठनीय हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, **महमूद गामी** ने कश्मीरी-प्रबन्धकाव्य को फारसी-प्रेमाख्यानों की डगर पर डाल दिया। उसके **यूसुफ-जुलैखा, शीरीं-खुसरो** और **लैला व मजनूँ** का उद्देश्य जायसी के पद्मावत की तरह लौकिक प्रेम में आध्यात्मिकता की उद्भावना है, अर्थात्, 'इश्के मजाजी' में 'इश्के हक़ीक़ी' की तरनुमानी है। इसी उद्देश्य से **मक़बूल कालवारी** ने **गुलरेज** और **वली उल्लाह मत्तू** तथा **जरीफ** ने **हीमाल** लिखे। दोनों ने फारसी-काव्यों को सामने रखकर ही रचना की; फिर दोनों ने मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है, विशेषकर मकबूल नें। करुणा का जो चित्रण 'गुलरेज़' में हुआ है, वह भाषा और भाव के सामंजस्य का एक उत्कृष्ट आदर्श है। **हीमाल** की कथावस्तु मूलतः ईरानी नहीं, कश्मीरी लोकवार्त्ता से उद्धृत है। रचना की दृष्टि से यह काव्य साहित्यिक सहकार का एक निराला नमूना है; क्योंकि इसका कथानक वली उल्लाह मत्तू ने लिखा है और गीत रचे हैं जरीफ ने। मजे की बात यह कि दोनों का रस-संयोजन अनुपम है।

इनके अतिरिक्त भी कश्मीरी में दर्जनों प्रेमाख्यान हैं, जिनमें अधिकांश फारसी, पंजाबी, अरबी और उर्दू के कुशल रूपान्तर हैं, जैसे—'किस्स-ए-खंजरि इश्क', 'जौहरी इश्क', 'जेबा निगार', 'गुलबकावली', 'चन्द्रवदन' और 'सोहनी-मैंहवाल' ; पर 'जैनुख अरब' और 'मुमताजे बेनजीर' का स्तर काफी ऊँचा है। फारसी किस्सों पर आवृत कई रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें महज तर्जुमा नहीं कहा जा सकता। जैसे—'कलील-व-दिमनु', 'हारून रसीद', 'सुलतान महमूद गजनवी', 'गुरबा-व-मोश' और 'हातिमताई'।

कश्मीरी जनता में जो दास्तानें सबसे लोकप्रिय रही हैं, वे हैं सामाजिक व्यंग्य-काव्य, जिनसे हँसी-मजाक के साथ-साथ शिक्षा की प्रेरणा भी होती है। इन खण्डकाव्यों में **मकबूल का ग्रीस्तिनामा** (किसान-चरित) विशेष महत्त्व का है; क्योंकि इसमें यद्यपि किसानों की खिल्ली उड़ाई गई है, फिर भी उनके जीवन की बेबसी और विडम्बना का यथार्थ चित्रण है। व्यंग्य-काव्य की रचना उन दिनों जोरों पर थी। 'ग्रीस्तिनामा' के जवाब में एक 'मुकदमनामा' लिखा गया, और स्वयं मकबूल ने 'पीरनामा' और 'मल्लानामा' में पीरों और मुल्लाओं पर फब्तियाँ कसीं और उनके पाखण्ड पर से परदा सरका दिया। बीसवीं सदी के आरम्भ में **वहाब परे** ने अपने कश्मीरी 'शाहनामे' में **शहर-आशोब** भी लिखा है, जिसमें उस समय की अफ़रातफ़री का अच्छा व्यंग्य-चित्रण हुआ है।

वहाब परे ने कश्मीरी-साहित्य को जो 'शाहनामा' दिया है, वह फारसी मूल का अनुवाद-मात्र नहीं, कई बातों में एक स्वतन्त्र रचना है—विशेषकर जंगों के वर्णन में और अपने समय के वस्तु-चित्रण में। वहाब के बाद भी कई जंगनामे लिखे गये, जिनमें से अधिकांश तो फारसी-काव्यों के पर्याय-से ज्ञात होते हैं। फिर भी, 'खावरनामा' और 'सामनामा' लोकप्रिय हो चुके हैं।

पर, सबसे लोकप्रिय जंगनामे हैं—कर्बला के विषय पर लिखे गये **मसिये**, जो भाषा के ओज:पूर्ण प्रवाह और करुणा के द्रावक चित्रण में बेजोड़ हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि महमूद गामी का समय कश्मीरी कविता के लिए बहुत ही सक्रिय रहा; पर उसके शिष्यों में एक **रसूलमीर** ही था, जिसने रहस्यात्मकता का मोह छोड़कर लौकिक प्रेम की मांसल अभिव्यक्ति को ही अपना ध्येय बनाना। पर फारसी गजल के अत्यधिक अनुकरण ने उसकी कविता के रोमांस की मनोरम भाव-भंगिमा को बहुत ही कृत्रिम स्वर दिया। फिर भी, उसकी कई गजलों में रूप-चित्रण खूब रहा है।

शायद इसीलिए, कई आधुनिक कवि उसके प्रभाव को अनायास ही ग्रहण कर बैठे। यहाँ-तक कि आधुनिक काल का युगप्रवर्त्तक कवि **महजूर** भी बड़े गर्व से इस प्रभाव को स्वीकारता है।

आधुनिक काल

वैसे तो **महजूर** की पहली पद्य-रचना हब्बा खातून के एक गीत से प्रेरित है और मकबूल की 'गुलरेज़ा' ने भी उसे कश्मीरी-काव्य की ओर खींचा है; पर जिस समय उसने कश्मीरी-भाषा को अपनाया, उस समय कश्मीरी-कविता में ठहराव-सा आ गया था। रचनात्मक प्रतिभा के अभाव में साधारण कोटि के तुक्कड़ पुरानी लकीर पीटे जा रहे थे। जीवन की असारता का रोना रोनेवाली तुकबंदियों में कभी-कभी ही सप्राण अभिव्यक्ति का एक-आध स्वर सुनाई पड़ता था। प्रधानता छिछले शब्द-गुम्फन की ही थी।

ऐसी परिस्थिति आकस्मिक नहीं थी। उन दिनों कश्मीर का वातावरण 'रेजिडेण्टशाही' के छल-बल से उखड़ा-उखड़ा था। द्विराजी शिकंजे में कसी हुई जनता की सामाजिक-राजनीतिक चेतना मूर्च्छित पड़ी थी। पर, जब सन् १९३१ ई० में कश्मीर की चेतना अँगड़ा उठी, तब बरसों की अन्धाधुन्ध हलचल ने एक आन्दोलन का रूप धर लिया। कश्मीरी-कविता इससे प्रभावित ही नहीं होती रही, इसे अनुप्रेरित भी करती रही।

कश्मीर के जन-आन्दोलन की यह पृष्ठभूमि आधुनिक कश्मीरी-साहित्य में खूब झलक उठी है। सुविधा के लिए हम इस काल को तीन भागों में बाँट सकते हैं—

१. सन् १९३८ ई० से पहले ;
२. सन् १९३८ ई० से १९४७ ई० तक ; और
३. सन् १९४७ ई० के पश्चात्।

सन् १९३८ ई० से पूर्व तो पीरजादा गुलाम अहमद महजूर का ही रचनात्मक महत्त्व रहा। वास्तव में, वही आधुनिक कश्मीरी-कविता का अगुआ हैं। 'प्यार के साज पर ताजा लय

लेकर' उसकी गजलों ने 'गुल' और 'बुलबुल' के प्रतीकों में एक नई अर्थ-गम्भीर ध्वनि की उद्भावना की और अपने 'वतन' को प्रमाद की नींद से जगाते हुए गाया—

सवेरे-सवेरे बेदार हो जा, ऐ गुले बोस्ताँ
बुलबुल के फ़साने सुन !
पौ फटी, खोल दे मस्तानी आँखें
बुलबुल के....................!

'ग्रीस्तिकूर' (किसानकुमारी) में उसने रोमांस के रस से ओतप्रोत शैली में कर्मठ किसानकन्या की सहज मधुरता के गतिचित्र प्रस्तुत किये हैं। इसी कविता के द्वारा महजूर ने महाकवि टैगोर का ध्यान अपनी ओर खींचा था। 'कोशिर ज़नान' (कश्मीरी नारी) में उसने सदियों से मौन कश्मीरी नारी की बेबसी का उच्छ्वास सुनाया है, मानों सदियों से पराधीन कश्मीर का दुःखी दिल ही चीख उठा हो।

सन् १९३८ ई० में जनता और शासन की जो टक्कर हुई, उससे प्रेरित होकर महजूर ने भी जागरण और क्रान्ति का सप्राण सन्देश गाया और जनता को एक नये युग की अवतारणा के लिए निमन्त्रित किया—

गुलों की बस्ती को जगाना है तो ज़ीरो बम को रहने दो;
भूचाल लाओ, आँधी को बुलाओ, जोर से गरजो ;
तूफान उठाओ !

आश्चर्य की बात नहीं, जो महजूर ने साम्प्रदायिक भाई-चारे पर बहुत जोर दिया। उसका विश्वास था कि कश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम 'दूध और शक्कर की तरह' घुल-मिल गये हैं। जनता को आश्वासन दिलाते हुए उसने गाया—

जाड़ा बीत ही जायगा, बर्फ पिघल ही जायगी ;
बहार लौट के आयगी।
महजूर ! प्रेम का साज़ तैयार रखो !
फूल खिलेंगे अपने-आप—
तुम जरा बहाना तो बन जाओ !

आजादी के संघर्ष में जोखम उठानेवालों को उसने ढाढ़स बँधाया कि पर्वत-शिखर 'नई भोर' के प्रकाश से जगमगा उठे हैं।

उन दिनों उसने सामूहिक आशावाद के जो नग्मे रचे, उनमें कश्मीरी-कविता एक नई लय से परिचित हो गई।

सन् १९३४ ई० के लगभग अम्बारदार और फाजिल ने अँगरेजी-कविता के कुछ सुन्दर अनुवादों और अनुकरणों से 'रोमांस'-काव्य की एक नई धारा भी बहानी चाही, पर इस दिशा में वे बहुत आगे नहीं बढ़ पाये। अतः, आरम्भ में महजूर अकेले ही कश्मीरी-कविता

को घिसी-पिटी परम्परा से मोड़कर नई परिस्थितियों के अनुकूल करता रहा, पर बहुत शीघ्र उसे एक योग्य साथी मिल गया। सन् १३६८ ई० के लगभग अब्दुल अहद 'आजाद' रहस्यवाद की डगर छोड़कर राष्ट्रीय, सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर जोरदार कविता करने लगा। शुरू-शुरू में वह 'इकबाल' से प्रभावित रहा, और 'नाल-ए-इब्लीस' के अनुकरण पर उसने शिकव-ए-इब्लीस लिखा, जिसमें मानव-समाज को बदलने की चेतना अँगड़ा उठी है।

आजाद ने हर तरह की भौगोलिक, राष्ट्रीय, जातिगत और साम्प्रदायिक संकीर्णता के विरुद्ध आवाज उठाई और देशभक्ति, सामाजिक न्याय और आर्थिक समता आदि विषयों पर इनकिलाबी कविता की। मानवता ही उसका उद्देश्य रही और मानवता ही आराध्य। सच्ची देशभक्ति ने उसे यह सोचने पर विवश कर दिया कि—

कल्हण, ग़नी और सर्फी जिस जल से पनप उठे;
वही जल हमारे लिए आज हलाहल क्यों?

पर, देशभक्ति भी जब मानवता की राह में रोड़े अटकाये, तो उसे धत्ता बताते झिझक नहीं। समाज की विषमता को देखकर उसकी चेतना दरिया में बोल उठी—

ऊँच-नीच और सीमाबन्धन देखकर
मैं आपे से बाहर हो जाता हूँ
दौड़ा फिरता हूँ, जान लड़ाता हूँ
एकता और समता की खोज में....
मुझे तो जिन्दगी का आनन्द
यात्राओं और गन्तव्यों में ही मिलता है!

इस तरह, आजाद ने कश्मीरी-कविता में मानववाद का जो अन्तरराष्ट्रीय सुर छेड़ा, उसे उसके साथियों—फानी, काफूर, नाज और आसी के अलावा महजूर-जैसे बुजुर्गों ने भी प्रतिध्वनित किया। बेबस पीडित जनता की वकालत कश्मीरी-कविता का प्रिय विनोद बनने लगा। और तो और, रहस्यवाद के भावप्रवण और कल्पनामधुर वयोवृद्ध कवि 'मास्टरजी' ने भी 'करनावि तारख ना अपार' जैसी कविताओं में समय की नदी के उस पार 'वर्गहीन समाज' की उज्ज्वल दुनिया में पहुँचने की अभिलाषा घोषित की। इससे पहले 'वदिहे भनुश च्ययि हे न ओश' में उन्होंने मानव की शाश्वत विवशता और लाचारी का रहस्यात्मक राग अलापा था, और तार्किक जिज्ञासा के बावजूद आत्मसमर्पण की भावात्मक व्याख्या की थी—

जाने कब किसी ने कहीं
उसी की परछाईं पीछे से—दूर से देखी होगी
हमारे कानों में उसी की भनक पड़ी है
हमारे दिलों में वही बात जम गई है...

मानव रोता, आँसू न पी लेता,
रोने की तासीर ही क्या देखी उसने ?
आँखों से खून बहाये तो क्यों ?
पत्थर से सिर पटकाये तो क्यों ?
जानकर कि कोई सुनता ही नहीं ;
फर्याद करने की यह इल्लत क्यों ?
आकाश में तीर मारने की यह बेसमझी क्यों ?
मजबूरी है, लाचारी है !................

परिस्थितियों से बाध्य होकर जब कश्मीर की जनता ने सन् १९४६ ई० में 'कश्मीर छोड़ दो' तहरीक चलाई, तब कवियों ने भी समर्थन किया। 'महजूर' ने पय बोव लय थव जमानस सूत्य् में पुरानी व्यवस्था को ललकारा; 'आसी' ने हलवाले झण्डे का तराना लिखा ; और 'आरिफ' ने 'मगर कारवाँ सोन ब्रोंह ब्रोंह पकान गव' शीर्षक लम्बी कविता में इस आन्दोलन की 'वीरगाथा' गाई। रजवाड़ाशाही की दमन-नीति का सामना करते हुए कश्मीरी-जनता ने क्या-क्या यातनाएँ सहीं और क्या-क्या बलिदान किये—इन सभी बातों का उत्तेजक वर्णन 'आरिफ' ने चतुराई से किया है। इससे पहले उसने 'मजूरिन' (मजदूरिन) में एक ऐसी दुलहन के जवान दिल की उजड़ी बहारों का दर्दीला संगीत समो दिया था, जो रेशमखाने में मजदूरी करने पर मजबूर थी। ऐसे ही 'घुस्सा' में उसने कारीगरों की बेवसी के नक्शे उतारे हैं।

राजनीतिक मतभेद के कारण 'आजाद' ने 'कश्मीर छोड़ दो' आन्दोलन का साथ तो नहीं दिया, पर समाजवादी मानववाद की अभिव्यक्ति में उसकी कविता अग्रसर रही। भारत का बँटवारा होते ही जब कश्मीर पर कबाइली हमला हुआ, तब उसके मानववाद का महत्त्व यथार्थ से संपृक्त होता दिखाई दिया। खेद की बात है कि अपने काव्य का यह गौरव देखने से पहले ही वह उसी वर्ष चल बसा।

गद्य-विकास

सन् १९४७ ई० का वर्ष कश्मीरी-साहित्य के लिए युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। शत्रु के विरुद्ध मोर्चा खड़ा करने में कश्मीरी-कविता आगे-आगे रही और पहली बार कश्मीरी-गद्य के लिए भी मैदान साफ होने लगा। 'कश्मीर कल्चरल फ्रण्ट' के प्रयत्नों से लोक-रंगमंच की स्थापना हुई, तो कश्मीरी-गद्य का प्रयोग होने लगा और कश्मीर-रेडियो से भी इसे प्रोत्साहन मिला। बाद में जब 'कुंगपोश' मासिक निकला, तब निबन्ध के अतिरिक्त कहानी की ओर भी साहित्यिकों का ध्यान जाने लगा। इससे पहले कॉलेज-मैगजीनों में ही इसके लिए थोड़ी-बहुत गुंजाइश होती थी। रेडियो और पत्रिका का सहयोग पाकर कश्मीरी-गद्य अब जरा रेंगने लगा है ; अपनी घुटनों पर खड़ा नहीं होने पाया है। जबतक कश्मीरी का कोई दैनिक पत्र नहीं निकलता, तबतक कश्मीरी-गद्य का विकास असम्भव है। फिर भी, आज लिखनेवालों की कमी नहीं; कमी है तो प्रकाशन के साधनों की।

कश्मीर के प्रसिद्ध उर्दू-कहानीकार दिवंगत प्रेमनाथ परदेशी ने रेडियो के प्रभाव से कश्मीरी में भी लिखना शुरू कर दिया था और दूसरे लेखकों को भी प्रेरित किया था। वैसे तो आज के कवियों में रोशन, मजबूर, नादिम, कामिल आदि ने भी कहानियाँ लिखी हैं; पर इस क्षेत्र में सोमनाथ जुत्शी, अख्तर मुहीउद्दीन और उमेश कौल विशेष प्रयत्नशील रहे हैं। नाटक लिखनेवालों में वलीमुहम्मद लोन और पुष्करमान का भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। जगन्नाथ वली और मुहीउद्दीन हाजिनी भी एक-एक नाटक लिख चुके हैं। वली का नाटक 'ज़ून' हवा खातून के रोमांस पर आधृत है और भाषा के लिहाज से बहुत रोचक है। आज से ३० वर्ष पहले 'हरिचन्द्राज' नाम का जो नाटक रंगमंच पर काफी सफल रहा था, उसकी शैली पर मदन-थियेटर की छाप थी। आज जो नाटक लिखे जा रहे हैं, उनपर रेडियो का प्रभाव है।

सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर जो निबन्ध पिछले छह वर्षों में लिखे गये हैं, उनमें भी कश्मीरी-गद्य खूब निखरता रहा है। दैनिक पत्र का आसरा मिलने पर अवश्य ही इसकी प्रगति तेज हो जायगी। गद्य के विकास की इस प्रासंगिक चर्चा के बाद अब नये पद्य की गतिविधि पर ध्यान देना जरूरी है।

सन् १९४७ ई० के अश्चात् कश्मीरी-कविता ने कई करवटें लीं। पहले दो वर्ष तो शत्रु के प्रतिरोध और नई आजादी के संरक्षण की उमंग ही गूँजती रही। उसके बाद नये कश्मीर के निर्माण की मूलभूत अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए 'आर्थिक प्रजातन्त्र' की स्थापना और 'विश्वशान्ति' की प्रतिष्ठा पर जोर दिया जाने लगा। 'जमीन किसान की' आन्दोलन ने भी कश्मीरी-कविता में प्रबल समर्थन पाया। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कविताएँ ही नहीं, गीतिनाट्य और नाचगीत भी रचे गये, जिनमें 'नादिम' की रचना विशेष सफल रही।

दीनानाथ 'नादिम' ने क्रान्ति की उत्कृष्ट रागिनी गाकर कश्मीरी जनता को 'स्वदेशी' और 'विदेशी' सभी प्रकार के शत्रुओं से सचेत कर दिया है। पीडित-शोषित वर्ग से उसकी समवेदना, भावुकता या आवेश पर निर्भर नहीं, बल्कि गहन अनुभूति से उमड़ आई है। उसे जिन्दगी से प्यार है, जिन्दगी के साजो-सामान से प्यार है—

वासन्ती शुगूफों की मस्तानी मुसकान से
आड़ू के कुसुमित कपोल की लालिमा से
बच्चों के विनोद और माताओं के प्रसव से

और, इस तरह के दूसरे जीवन-व्यापारों से उसे प्यार है, पर अभावग्रस्त मानव को जीवन से प्यार करने का सौभाग्य ही कहाँ? इसीलिए वह किसान को उभारता है कि—

हर साल धरती माता के भाग्य को अपने हल की नोक से बदलनेवाले!
इसी हल की नोक से अपना 'भाग्य' तो उखाड़ ले!

'बम्बुर यम्बरजल' गीतिनाट्य में उसने अपने कश्मीर की एक प्राचीन लोककथा को नई समस्याओं का वाहक बनाकर अपने देश की नई बहारों को खिजाँ से बचाने का दृढ संकल्प चित्रित किया है।

नूर मुहम्मद 'रोशन' ने भी मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त कई संगीत-रूपक लिखे हैं। ऋतुओं के वैभव पर उल्लासमय रचनाओं में उसने लोकगीत-शैली के कुछ सफल प्रयोग किये हैं। 'नादिम' की तरह मुक्त छन्द से भी उसने काम किया है और शब्दों के भावानुकूल गुम्फन में विशेष सतर्कता और चातुरी दिखाई है।

नवोदित कवियों में 'प्रेमी', 'राही', 'कामिल', 'मजबूर', 'अलमस्त', और 'फिराक' बड़े होनहार दिखाई देते हैं। 'प्रेमी' ने 'लोरी', 'लडीशाह', 'जोड़ी के गीत', 'खलिहान के गीत', 'रिक्षेवालों के गीत' और घुमक्कड़ भिखमंगों के गीत आदि कई लोक-शैलियों में नवयुग की मनोरम धड़कनें सुनाई हैं। 'शरदृऋतु' शीर्षक एक लम्बी रचना में उसने श्रम के उल्लास को एक नई आशा का आलोक दिखाया है, और नात्र-गीत के बहुत सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किये हैं। कामिल की 'मसम्नलर' में नये प्रयोगों की एक महत्त्वपूर्ण साधना है, और 'साकीनामा' में उसने नये दृष्टिकोण को एक प्राचीन टैकनीक में पेश किया है। 'राव-रूपी' संगीत-रूपक में भी उसके नये प्रयोग आकर्षक हैं। नई चेतना को नये यथार्थ और आदर्श के सन्तुलन में चित्रित करने का एक सफल प्रयत्न राही की गजलों और लम्बी कविताओं में मिलता है। रूप, रस और गंध के चित्र उभारने में उसकी चातुरी ने उसकी रचनाओं को बहुत ही आकर्षक बना दिया है। 'कतिरोजि', 'गट-जोल' (कहाँ रह पायगा घटाटोप अंधकार?) में उसने नये युग की प्रभाती गाई है और 'बहार आव व्ययि लोल सान शोर मारान' (बहार आ गई प्यार से फिर मटकती) के मुक्त छन्द में नई बहार के शुभागमन का आह्लाद छलक उठा है—

बहार आ गई और दिल चल पड़े 'बादमावारी' में उत्सव मनाने;
'निशात' की कल्पना ने उत्सुकता की
गिरहें खोल दीं
'डल' लहरा उठी; यौवन-मधु-आसव लिये
'शालामार' की राह ताकता रहा,
और 'बैशाखी' चोरी-छिपे अठखेलियाँ करतीं
दौड़ पड़ी 'चश्माशाही' की ओर
आज पर्वतों ने नये परिधान पहन लिये
नई नीलिमा आकाश पर निखर उठी
कश्मीर की रगों में आज नया खून ठाठें मार रहा है,
इसलिए कवि नये प्यालों से
जीवन का नया-नया रस बाँट रहा है आज
इसलिए तो 'राही' छेड़ रहा है गीत नये जीवन के!

और आज की कश्मीरी-कविता सचमुच नये प्यालों से जीवन का नया-नया रस बाँटकर ही अपना भविष्य उज्ज्वल बना पायगी।

—पृथ्वीनाथ 'पुष्प'

उर्दू-भाषा और उसका साहित्य

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ-साथ देश में सबसे अधिक बोली और समझी जानेवाली भाषा उर्दू है। कश्मीर से कन्याकुमारी और पंजाब से आसाम तक चले जाइए, हर जगह आपको उर्दू बोलने और समझनेवाले मिलेंगे। भारत में आज भी कम-से-कम छह करोड़ आदमियों की मातृभाषा उर्दू है, और करोड़ों ऐसे हैं, जिनकी मातृभाषा उर्दू तो नहीं, लेकिन वे अपने सारे काम उर्दू में करते हैं। कोई उर्दू जाननेवाला देश के किसी हिस्से में चला जाय, उसे कहीं किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी। उर्दू की सबसे बड़ी विशेषता राष्ट्रभाषा हिन्दी से उसका गहरा सम्बन्ध है। दो नाम पड़ जाने पर भी उनकी धाराएँ साथ-साथ बहती हैं। जन्मदिन से दोनों का ऐसा गहरा सम्बन्ध है कि एक को दूसरी से अलग नहीं किया जा सकता। आज ये दोनों भाषाएँ अपने रंग-रूप और बनावट में इतनी मिलती-जुलती हैं कि कभी-कभी एक को दूसरी से अलग करना और पहचानना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है।

उर्दू भारत में पैदा हुई, भारतीय भाषाओं के अलावा अरबी, फारसी, तुर्की और दूसरी विदेशी भाषाओं से शब्द ले-लेकर बढ़ी और फूली-फली। अब यह विशाल शक्तिशालिनी भाषा बन चुकी है। उर्दू भारत के ही कोने-कोने में बोली और समझी नहीं जाती, बल्कि भारत से बाहर भी अरब देश, ईरान, मिस्र, बर्मा, सीलोन, मलाया, कनाडा और अफ्रिका के बहुत-से शहरों में बोली और समझी जाती है। भारत-निवासी जहाँ भी गये, अपनी प्यारी भाषा को साथ ले गये, नये वातावरण में पड़ने पर भी अपनी भाषा को न भूले। इन्हीं कारणों से आज उर्दू केवल भारत की ही नहीं, बल्कि एशिया की बड़ी भाषाओं में गिनी जाती है।

उर्दू के जन्मदिन से लेकर उसकी आजतक की कहानी बड़ी दिलचस्प है। उर्दू का जन्म उन ऐतिहासिक शक्तियों ने दिया, जो कई सौ वर्ष तक भारत के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में हिलकोरें पैदा करती रहीं और जिनकी गहरी छाप हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर आज भी दूर से ही दिखाई पड़ती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उर्दू के जन्म का सबसे बड़ा कारण मुसलमानों का भारत में आना और बस जाना था। मुसलमानों के आने से बहुत पहले भी अरब और ईरान के साथ भारत का सम्बन्ध था। अरब-व्यापारी भारत में व्यापार के लिए आते थे, या भारत के समुद्री शहरों में ठहरते हुए मलाया और पूर्व के दूसरे देशों में व्यापार करने जाया करते थे। अरबों ने भारतवालों से कुछ सीखा था, और भारतवालों को सिखाया भी था। भारत का प्रभाव अरबों के और अरबों का प्रभाव भारतवासियों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर पड़ता था। मौलाना सुलेमान नदवी ने अपनी पुस्तक 'अरब व हिन्द के ताल्लुकात' में लिखा है—

"महाभारत के जमाने में भी हिन्दुस्तान में ऐसे लोग थे, जो अरवी जवान से वाकिफ थे। गो मुश्किल से इसका यकीन आ सकता है, ताहम चूँकि एक बड़े पंडित ने इनको माना है, इसलिए मुझे इसके इनकार की जुर्रत नहीं। सत्यार्थप्रकाश के मुसन्निफ स्वामी दयानन्दजी ने ग्यारहवें समुल्लास (पहला प्रो० अध्याय १४७) में लिखा है—'महाभारत में जव कौरवों ने लाख का घर बनाकर पाण्डवों को उसके अन्दर जलाकर फूँक देना चाहा, तव विदुरजी ने युधिष्ठिर को अरबी जवान में बताया और युधिष्ठिरजी ने उसी अरबी जवान में उनको जवाब दिया।"

अगर हम इसको ठीक मान लें, तो फिर अरव और भारत के पुराने सम्वन्ध में कुछ और कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यों भी यह बात मानी जा चुकी है कि भारत का अरब देशों से पुराने काल में संवंध था। भारत की पुरानी पुस्तकों में अरवों का हाल मिलता है और अरवों की पुरानी पुस्तकों में भारत का। मौलाना सुलेमान नदवी ने यह भी लिखा है कि अरब के पुराने इतिहासों में भारत की दो लड़ाकू जातियों का हाल मिलता है। ये जातियाँ जाट और मेड हैं। जाटों के बारे में अरब-इतिहासों में लिखा है कि ये वलूचिस्तान और सिन्ध के रहनेवाले थे और जब ईरान ने वलूचिस्तान और सिन्ध पर कब्जा कर लिया था, तवसे ईरान की सेना में थे। जव अरवों ने ईरान पर चढ़ाई की, तव जाट-सेना अरवों से मिल गई। अरव-सेनापति ने इन जाटों का वड़ा आदर किया और इन्हें अपनी सेना में मिला लिया। ये जाट बड़े अच्छे सिपाही थे और अरवों को इनपर वड़ा भरोसा था। वाद में अरवों ने इन जाटों को बड़े-वड़े काम सौंपे।

मौलाना सुलेमान नदवी 'हिन्द' शब्द के वारे में लिखते हैं—

"मुसलमानों के आने से पहले इस पूरे मुल्क का कोई एक नाम न था। हर सूवा का नाम अलग-अलग था। या हर रियासत का नाम उसकी राजधानी के नाम से मशहूर था। पहले फारस ने जब इस मुल्क के इस सूबे पर कब्जा किया तव उस दरिया का नाम, जिसको अव 'दरियाय सिन्ध' कहते हैं और जिसका नाम अरवों की जवान में मीरान है, 'हिन्दू' रखा। पुरानी ईरानी जवान और संस्कृत में 'सीन' और 'ह' आपस में वदला करते हैं। इसकी काफी मिसालें हैं। इसलिए, फारसवालों ने इसको 'हिन्दू' कहकर पुकारा और इससे इस मुल्क का नाम 'हिन्द' पड़ गया। अरवों ने, जो इस मुल्क के दूसरे शहरों से भी वाकिफ थे, सिन्ध को सिन्ध ही कहा, लेकिन इसके अलावा हिन्दुस्तान के दूसरे शहरों को हिन्द करार दिया और आखिर यही नाम दुनिया में कई तरह के रूपों में फैल गया और 'ह' हरफ 'अलिफ' होकर फ्रेंच में 'इन्द' और 'इण्डिया' और कई तरह के रूप होकर तमाम दुनिया में मशहूर हो गया। और, खैवर से आनेवाली कौमों ने इसका नाम हिन्दुस्थान रखा, जो फारसी तलफ्फुज में 'हिन्दुस्तान' वोला जाता है। यह अजीव बात है कि हिन्द का लफ्ज अरवों को ऐसा प्यारा मालूम हुआ कि उन्होंने मुल्क के नाम पर अपनी औरतों का नाम रखा। चुनांचे अरवी शायरी में यह नाम वह हैसियत रखता है, जो फारसी में लैला और शीरीं की है।"

भारत से अरवों की दिलचस्पी का हाल आपने देख लिया। अरब-व्यापारी व्यापार के लिए आते थे, लेकिन मालूम पड़ता है कि और चीजों के साथ शब्दों का भी

लेन-देन करते थे। सिन्ध और पंजाब के इलाकों में इन शब्दों का व्यवहार भी होने लगा था; पर वे भारत की भाषाओं को प्रभावित नहीं कर सके, बल्कि आप ही भारतीय भाषाओं में घुल-मिलकर भारतीय बन गये। पर; जब यही अरब इस्लाम के झण्डे के नीचे दिग्विजयी बनकर निकले, तब इनमें नई शक्ति थी। ये अरब भारत को नहीं भूल सके। ईरान पर कब्जा करते ही इन्होंने सिन्ध पर चढ़ाई कर दी और घमासान लड़ाई के बाद सिन्ध पर कब्जा कर लिया। इसके कुछ दिनों के बाद तो भारत पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का सिलसिला शुरू हो गया। भारत की जलवायु और प्राकृतिक सुन्दरता ने इन मुसलमानों को ऐसा मोहित किया कि वे यहीं के हो रहे। इसी पवित्र भूमि को अपना देश बनाया और अपनी जन्मभूमि की ओर कभी मुड़कर भी न देखा। मुसलमानों के भारत में बस जाने के बाद उनकी भाषा का प्रभाव यहाँ की भाषा पर पड़ना आवश्यक था और उनकी भाषा से भारत की भाषा प्रभावित होने लगी।

कोई भाषा दो-चार वर्ष में नहीं बनती। उसके बनने में हजारों वर्ष लग जाते हैं। कभी-कभी दो या उनसे ज्यादा भाषाओं के मेल से एक नई भाषा बन जाती है; पर उसमें भी सैकड़ों वर्ष लगते हैं। एक दूसरी से मिलकर भाषा धीरे-धीरे अपना चोला बदलती है। फिर, एक नई भाषा बन जाती है। उर्दू इसी तरह कई भाषाओं के मेल से पैदा हुई।

उर्दू भारत की भाषाओं और मुसलमानों के साथ बाहर से आनेवाली भाषाओं—अरबी, फारसी और तुर्की—के मेल-जोल से बनी है। बाद में योरोपीय भाषाओं के शब्द भी आकर इसमें मिले। पर, यह भी इतना आसान काम नहीं था। इस हेर-फेर में सैकड़ों वर्ष लग गये। तब आज उर्दू एक विशाल और शक्तिशालिनी भाषा के रूप में दिखाई पड़ती है। इस सारी कथा को जानने और समझने के लिए जरूरी है कि मुसलमानों के भारत में आने से पहले के इतिहास पर भी एक छिछलती नजर डाली जाय। हम केवल इसी ढंग से समझ सकेंगे कि मुसलमानों के भारत में आने से पहले यहाँ की भाषाओं की दशा क्या थी, वे किस प्रकार बदल रही थीं और बदलते-बदलते इस योग्य हो गई थीं कि दूसरी भाषाओं के मेल-जोल से एक नई भाषा को जन्म दे सकें।

आर्यों से पहले भारत में द्राविड और औस्ट्रिक जातियों के लोग बसते थे। मोहनजोदारो और हड़प्पा की खुदाइयों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि द्राविड एक महान् संस्कृति के मालिक थे। बाद में आर्यों ने उन्हें लड़ाई में हराकर पीछे ढकेल दिया। पंजाब से आसाम तक आर्यों का बोलबाला हो गया और द्राविड दक्खिन भारत में चले गये, जहाँ उनकी संस्कृति और भाषाएँ आज भी जीवित हैं। उत्तरी भारत में जब हर तरफ आर्य छा गये, तब उनकी भाषा भी फैली। यह भाषा संस्कृत थी, जो बढ़ते बढ़ते एक महान् भाषा बनी। पर संस्कृत के बढ़ने से स्थानीय प्राकृत-भाषाएँ मरी नहीं। ये अपनी जगह पर रहीं और संस्कृत से नया खून और नई शक्ति पाकर बढ़ती ही रहीं! पर, संस्कृत की उठान और प्रगति ऐसी थी कि उसके नीचे दबकर रह गईं। संस्कृत ने भारत के साहित्यिक भाण्डार में वह अनमोल रत्न भर दिये हैं, जिनकी चमक-दमक से आज भी संसार की आँखें चकाचौंध हैं। लेकिन, संस्कृत

की इसी प्रगति ने उनको जनता से दूर कर दिया और वह केवल पढ़े-लिखे और ज्ञानियों की भाषा बनकर रह गई। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि जब संस्कृत-भाषा और उसका साहित्य बहुत ऊँचा और जनता से दूर हो गया, तब जनता प्राकृत-भाषाओं की ओर लौट गई और संस्कृत ब्राह्मणों और हिन्दू-धर्म की भाषा बनकर रह गई। उस समय दो बलवान् प्राकृत-भाषाएँ थीं—एक तो हमारी मागधी या पाली और दूसरी शौरसेनी। आज की अधिक भारतीय भाषाएँ इन्हीं दो प्राकृत-भाषाओं से निकली हैं। पर, हमारा विषय यह नहीं है, इसलिए हम इस बहस को यहीं छोड़ते हैं।

भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार के लिए इसी मागधी या पाली को चुना। उनके चेलों और बौद्ध भिक्षुओं ने इस भाषा को सारे भारत, बर्मा, सीलोन और तिब्बत तक पहुँचा दिया। बौद्धधर्म के प्रचार से हिन्दू-धर्म और संस्कृत-भाषा दोनों को बड़ा धक्का लगा। हिन्दू-धर्म के पाँव तो फिर बाद में जम गये, बौद्धधर्म के पाँव उखड़ गये, लेकिन संस्कृत-भाषा के पाँव फिर भारत में जम न सके। वह रोज-रोज सिमटती ही गई और और आज केवल पुस्तक की भाषा बनकर रह गई है, जिसका जनता से बहुत कम सरोकार है। भगवान् बुद्ध के समय में ही संस्कृत जनता से दूर हो चुकी थी। इसका अनुमान एक किस्से से होता है, जो श्यामसुन्दरदासजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' में लिखा है। इस किस्से को डॉ० मसऊद हुसेन ने अपनी किताब 'मुकदमए-तारीखे जबाने उर्दू' में उल्था किया है—

"बमिवल और उतयकील नाम के दो ब्राह्मण भाई महात्मा (बुद्ध) के पास आते हैं और दरखास्त करते हैं कि ऐ भगवन्, मुख्तलिफ जात-पाँत के लोग आपके बोलों को दुहराकर नापाक कर रहे हैं। इसलिए, हमें हुक्म दीजिए कि उन्हें छन्दों (वैदिक संस्कृत) में लिख दें, ताकि उनमें किसी किस्म की तबदीली न की जा सके। महात्मा इनकार करते हुए कहते हैं—ऐ भिक्षुओ, बुद्ध के बोलों को संस्कृत में हरगिज न लिखना, जो ऐसा करेगा, वह मेरी तौहीनी करेगा। मेरी बातों को अपनी ही भाषा में समझने की कोशिश करो।" अपनी भाषा से मुराद यही मागधी जबान है।

इससे साफ पता चलता है कि संस्कृत जनता से बहुत दूर हो चुकी थी और जनता की भाषा प्राकृत थी। अशोक की लाटों से यह पता चलता है कि उस समय अधिक-से-अधिक और कम-से-कम दो प्राकृत-भाषाएँ प्रचलित थीं और यही दो लोकप्रिय थीं। एक तो पूरबी और दूसरी पच्छिमी—यानी मागधी या पाली और शौरसेनी। शहबाजगढ़ी में अशोक की लाट पर जो खुदाई मिली है, उससे पता चलता है कि इस पच्छिमी प्राकृत पर संस्कृत का गहरा प्रभाव था। डॉ० ग्रियर्सन ने भी इसे माना है। इन दोनों प्राकृतों की अलग विशेषताएँ थीं। उस समय दक्खिन भारत में किसी प्राकृत का पता नहीं चलता।

भाषाएँ भी जीवित रहने और बढ़ने के लिए एक दूसरी भाषा से शब्दों का लेन-देन करती रहती हैं। जो भाषाएँ लेन-देन का व्यापार नहीं करतीं, वे अगर मरती नहीं, तो दुर्बल जरूर हो जाती हैं। भाषाओं के इतिहास में ऐसी बहुत-सी मिसालें मिलती हैं।

केवल वही भाषाएँ बढ़ती और फैलती हैं, जो अपने सम्पर्क में आनेवाली भाषाओं से शब्द और विचारों का लेन-देन करती हैं और दूसरी भाषाओं से उनका सम्पर्क बढ़ता जाता है। वे नया खून पाकर बलवती होती जाती हैं।

पाली ने अपने लिए संस्कृत से हटकर अलग राह बनाई। मगर, पश्चिमी प्राकृत शौरसेनी के प्रभाव से नहीं बच सकी। और, शौरसेनी पर संस्कृत का प्रभाव था। इसलिए, शौरसेनी द्वारा पाली पर भी संस्कृत का प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे वह भी साहित्यिक रूप धारण करने लगी। इस प्रकार, पाली भी जनता से दूर होकर विद्वानों में घर कर गई। फिर, उसका व्याकरण बना और कड़ाई के साथ उसकी पाबन्दी होने लगी। जनता ने फिर मिली-जुली बोलियों को अपनाया। ऐसी मिली-जुली बोलियाँ अपभ्रंश कहलाईं। अपभ्रंश का अर्थ है—बिगड़ी हुई भाषा। मगर जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह अपभ्रंश बोलियाँ भी मँजती और अपने-अपने क्षेत्रों में फैलती गईं और धीरे-धीरे इन अपभ्रंश बोलियों ने भी साहित्यिक रूप धारण करना शुरू कर दिया—विशेषकर, गुजरात, राजपूताना और दोआबा की बोलियाँ तेजी के साथ बढ़ने लगीं। राजपूतों की राजनीतिक ताकत और असर ने शौरसेनी-अपभ्रंश को ऐसी लोकप्रिय बना दिया कि सं० ८०० से सं० १००० तक सारे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा बन गई और इसमें साहित्य बनने लगा।

खड़ीबोली या उर्दू उसी अपभ्रंश से पैदा हुई, जो दिल्ली, मेरठ और उसके आसपास बोली जाती थी। पश्चिमी हिन्दी, जो मुसलमानों के भारत में आने से पहले ही पंजाब में फल-फूल रही थी, उसी शौरसेनी-अपभ्रंश से निकली थी और पंजाब में पाँव धरते ही मुसलमानों ने उसको अपना लिया था। इसी कारण प्रोफेसर महमूद शीरवानी को धोखा हुआ और उन्होंने यह बात कही कि उर्दू पंजाब में पैदा हुई। इसी प्रकार का धोखा मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद को भी हुआ था और उन्होंने अपनी पुस्तक 'आबे हयात' में उर्दू को ब्रज से निकलनेवाली भाषा बताया, जो मथुरा और उसके आसपास के इलाकों की भाषा थी। मगर, नई खोजों ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि उर्दू दिल्ली और मेरठ के इलाकों में बोली जानेवाली शौरसेनी-अपभ्रंश या पश्चिमी हिन्दी से पैदा हुई। हाँ, यह जरूर है कि आरम्भ से ही उसपर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा है। उसने ब्रज से पूरा-पूरा लाभ उठाया। इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि ब्रज और शौरसेनी-अपभ्रंश या पश्चिमी हिन्दी की सीमाएँ आपस में मिलती थीं।

संवत् १००० के बाद से मुसलमानों ने भारत पर बार-बार चढ़ाइयाँ कीं। ये चढ़ाइयाँ अफगानिस्तान के रास्ते से हुईं। इसका फल यह हुआ कि भारत में पंजाब मुसलमानों का अड्डा बन गया। इससे पहले सन् ७१२ ई० में मुहम्मद-बिन-कासिम ने राजा दाहिर को हराकर सिन्ध पर कब्जा कर लिया था। बाद में मुहम्मद-बिन-कासिम तो चला गया, पर अरब मुसलमान वहाँ बस गये। उनकी अरबी-भाषा स्थानीय भाषा के साथ घुल-मिल गई। उसके बाद दो सौ वर्ष तक हाल यह रहा कि मुसलमान भारत पर चढ़ाई करते और लौट जाते। मगर, सन् १००० ई० के बाद तो जैसे मुसलमानों की बाढ़ आ गई।

कवि नामदेव का नाम भी, कबीर और गुरु नानक की तरह भाषा के इतिहास में अमर सन्त रहेगा। सन्त नामदेव ने कबीर और नानक से बहुत पहले ही उस खड़ीबोली में कविताएँ लिखीं, जो देश में पैदा हो रही थी। सन्त नामदेव का जमाना सन् १३२८ से १४०५ ई० तक है। यही समय है, जब मुहम्मद तुगलक ने देवगिरि पर चढ़ाई की थी और दिल्ली-वालों को वहाँ ले जाकर बसाया था। सन्त नामदेव महाराष्ट्री कवि थे; मगर उन्होंने खड़ी-बोली में भी कविताएँ लिखीं—

माई न होती बाप न होते कर्म न होता काया।
हम नहीं होते तुम नहीं होते कौन कहाँ ते आया॥
चन्द्र न होता सूर्य न होता पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता वेद न होता कर्म कहाँ ते आया॥

या यह कि —

मन मेरी सुई मन मेरा धागा
खींचर जी के चरण पर नाभा सींपी लागा।

कबीर का जमाना बाद का है—सन् १४४० से १४१५ ई० तक। वे कहते है—

बोली मेरी पूरबी ता है न जनिये कोय।
मेरी बोली सो मुखे जो पूरब का होय॥

गुरु नानक का जमाना कबीर के बाद का है। वे कहते हैं—

अंधे अक्ली बाहरे क्या तन सो कहिये,
बिन गुरु न सूझई किस दो ही निरमये।
आवत को जाता कहें जाते को आया,
पर की कर अपनी कहें अपनो नहीं भाया।

इन उदाहरणों से साफ मालूम पड़ता है कि तीनों सन्तों की भाषा एक ही जंजीर की कड़ियाँ हैं। इन तीनों सन्तों का समय अलग-अलग था, स्थान अलग-अलग था। इनके विचार भी अलग-अलग थे, फिर भी भाषा में बहुत-कुछ समानता है।

सन् १५२६ ई० में बाबर ने इब्राहीम लोदी को हराकर दिल्ली पर कब्जा कर लिया। जब इब्राहीम लोदी का सर काटकर बाबर के सामने लाया गया, तब एक हिन्दी-कवि ने यह दोहा कहा—

लोय ऊपर था बतीसा। पानीपत में भारत दीसा॥
अट्ठीं रजब सुक्कर बारा। बाबर जीता ब्राहीम हारा॥

और तो और, कहा जाता है कि दिल्ली में रहकर बाबर को भी यह भाषा भा गई। वह फारसी का कवि था। उसने एक शेर इस भाषा में भी कहा। नवाब नसीर हुसेन खयाल ने यह शेर अपनी पुस्तक 'मुगल और उर्दू' में लिखा है—

मुज का न हुआ कुज हवस मानको मोती,
फुकरा हलीफ़ बस बोलगों सेहुर पानी व रोटी।

उसके बाद हुमायूँ के दरबार में भी ऐसे कवियों का पता चलता है, जो दिल्ली की भाषा में भी कविताएँ लिखते थे। उनमें शेख गदाई देहलवी प्रसिद्ध हैं। उसी समय हिन्दी

कवि छेम की कविताएँ भी मिलती हैं, जिनपर शौरसेनी-अपभ्रंश का रंग छाया हुआ है। लेकिन, अकबर के समय में तो दिल्ली की यह भाषा सबसे अलग एक भाषा बन गई थी। अकबरी दरबार के एक रत्न अबुलफज्ल ने अपनी फारसी 'दरबारे अकबरी' में 'जबाने देहलवी' की बार-बार चर्चा की है। यह भाषा दूसरी भाषाओं से अलग थी और दिल्ली में तेजी के साथ बढ़ रही थी।

लेकिन, अकबर के समय में इस 'जबाने देहलवी' को एक झटका लगा और वह इस तरह कि अकबर ने अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर आगरा में बनाई। इससे दिल्ली की जिस भाषा का ढाँचा तैयार हो चुका था, उसकी प्रगति कुछ दिनों के लिए मद्धिम पड़ गई। मगर, एक बड़ा लाभ भी हुआ और वह यह कि इस भाषा ने व्रज और राजस्थानी से बहुत-कुछ पाया। आगरा के आसपास व्रज का जोर था और उसके बाद राजस्थानी का। फारसी के साथ शाही महल में भी व्रज और राजस्थानी का व्यवहार होता था। अकबर का सेनापति तलवार का धनी होने के साथ-साथ कलम का भी धनी था। अरबी-फारसी का विद्वान् और व्रजभाषा का रसिया था। उसने व्रजभाषा में जो दोहे कहे हैं, वे अनमोल हैं। फिर यह कि अकबर की सेना में हर इलाके के लोग थे—पंजाबी, हरियानी, राजस्थान के राजपूत और मुसलमान। ये सारे सिपाही अपनी-अपनी भाषा बोलते थे। मगर इनका आपस में रोज-रोज का मिलना-जुलना था और इनके मेल-जोल से आगरा में भी भाषा की खिचड़ी बनने लगी।

इसी समय अकबर के मन्त्री राजा टोडरमल ने एक और कदम बढ़ाया, जिससे इस नई भाषा को बढ़ने में बड़ी सहायता मिली। राजा टोडरमल ने सरकारी नौकरों के लिए फारसी पढ़ना जरूरी कर दिया और सारे हिन्दू सरकारी नौकर फारसी और अरबी पढ़ने लगे। इसके बाद फारसी की चर्चा हिन्दू-घरों तक में होने लगी। अकबर ने हिन्दू और इस्लाम-धर्म की अच्छी बातों को इकट्ठा करके अपना नया धर्म 'दीने इलाही' चलाया। अकबर चाहता था कि हिन्दू और मुसलमान का भेद मिट जाय और भारत में एक नई सम्मिलित राष्ट्रीयता पैदा हो। उसे इस विचार में सफलता नहीं मिली। पर, उसने हिन्दुओं के साथ जो बरताव किया, उससे यहाँ के हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये और उनके जीवन में नया सुभाव पैदा हो गया। इन सब बातों से इस नई भाषा को आगे बढ़ने में बहुत मदद मिली।

अकबर के ही समय (सन् १५७२ ई०) में गंग कवि ने 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' खड़ीबोली में लिखी, जिसकी भाषा यह थी—

"अकबर शाहजी आम खास में तख्त ऊपर विराजमान हो रहे और आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमरा आये कोर्निश बजाये जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें। अपनी-अपनी मिस्ल से जिनकी बैठक नहीं सो रेशम के रस्से में रेशम की लोस पकड़े-पकड़े खड़े ताजीम में रहे।"

मुसलमान आते और पंजाब में बस जाते। सन् ११४५ ई० में ख्वाजा मसऊद सुलेमान भारत आये। यह तुर्क थे। अरबी और फारसी के विद्वान् और कवि थे। उन्होंने किसी भारतीय भाषा में भी कविताएँ लिखी थीं। उनकी लिखी कोई कविता मिलती नहीं। पर, अमीर खुसरू और कुछ दूसरों ने भी उनको भारतीय भाषा की कविता के बारे में लिखा है। अनुमान किया जाता है कि जिस भारतीय भाषा में उन्होंने कविताएँ लिखी होंगी, वह पंजाबी होगी।

सन् १२०७ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। यहाँ की भाषा मुलतान और लाहौर की भाषा से अलग थी। यह न तो शुद्ध भाषा थी और न खड़ीबोली; बल्कि शौरसेनी-अपभ्रंश की परम्परा में जकड़ी हुई भाषा थी, जिसपर राजस्थानी और व्रज का भी गहरा प्रभाव था। चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराजरासो' में यह प्रभाव साफ झलकता है। पर, दरबारी भाषा पर राजस्थानी और हरियानी की छाप थी। बारहवीं सदी के एक शाही परवाने की भाषा देखिए—

"श्री श्री बलयन महाराजम धीराजम हिन्दुस्थानम राजमधानम सम्मरी नरेश पूरब दिल्ली तख्त श्री श्री माहानम राजमधीराजम, श्री पृथ्वीराज सोसाथनम आचार्य रिशिकेश धनम तरी अपरए तुम ने काका जी के दवा की आराम चतो जेन के रीज में रागड़ रुपया ५००० तुमरे अवाई गोड़े का खरचा सेवाय आवेंगे। खजानम से इनम को कोई माफ करेंगे जेन को नीर के अधिकारी होवेंगे। सति दूबे के हुक्म होमन्त रा सम्वत् ४५ और शय असाढ़ सरी १३।"

शाही परवाने की भाषा आपने देख ली। अब पृथ्वीराज की बहन प्रथाबाई का एक पत्र देखिए। यह पत्र प्रथाबाई ने सती होने से पहले अपने बेटे को लिखा था—

"श्री हुजूर सिमर में मारे गये और उनके संग रिशिकेश भी वैकुण्ठ को पधारे हैं। रिशिकेश उन चार लोगों में से हैं जो दिल्ली से मेरे संग दहेज में आये थे। इसलिए इन वंशजों की खात्री रखना। ने पाछे मारा। चियारी ग्रांमंशां की खात्री राख जो। ई मारा जिव का चाकर है। जोथा कदि हरामखोरी नेवेगा।"

प्रो० महमूद शीरानी इन परवानों और पत्रों को असली नहीं मानते; मगर दूसरे विद्वानों ने इसे माना है। बात कुछ भी क्यों न हो, पर यह बात साफ मालूम होती है कि उस समय दिल्ली और उसके आसपास की बोली में अरबी और फारसी शब्द मिल गये और खड़ी बोली का ढाँचा तैयार होने लगा था। कुतुबुद्दीन ने दिल्ली को राजधानी बनाया, तो पंजाब से मुसलमान भी आकर यहाँ बसने लगे। पंजाब से आनेवाले मुसलमानों की भाषा पंजाबी थी, जिसमें अरबी और फारसी के बहुत-से शब्द मिल चुके थे। दिल्ली में उस समय कई प्रकार की बोलियाँ बोली जाती थीं। एक ओर पुरानी खड़ी बोली थी, दूसरी ओर हरियानी। पूर्वी पंजाब की बोली इन्हीं दोनों बोलियों के मेल से बनी थी और आनेवाले मुसलमान इससे भी परिचित थे। इसीलिए, मुसलमानों को हरियानी और खड़ी-बोली अपनी बोली से निकट दिखाई दी और उन्होंने अपना काम चलाने के लिए इसी

खड़ीबोली को चुना और इस बोली का अरबी और फारसी शब्दों की मिलावट से रूप बदलने लगा।

जब दिल्ली में मुसलमानों के पाँव जम गये, तब उनका रास्ता साफ हो गया। भारत के दूसरे हिस्सों पर भी उनकी ललचाई नजरें पड़ने लगीं। उनके सैनिक और सिपाही बढ़ने लगे और नये-नये हिस्से दिल्ली के राज में मिलाये जाने या दूसरे-दूसरे इलाकों में नये-नये राज स्थापित होने लगे। सिपाहियों के अलावा सूफी और धर्म के प्रचारक भी हर तरफ फैले और उनके प्रभाव से हर तरफ भाषा बदलने लगी। उस समय खड़ीबोली के अलावा देश में पूर्वी हिन्दी, ब्रज, राजस्थानी और दक्खिन में दक्खिनी बोलियाँ बढ़ रही थीं। मुसलमानों के पहुँचते ही इन बोलियों में अरबी और फारसी के शब्द मिलने लगे। फिर, दिल्ली भी कई बार उजड़ी और हर बार दूसरी जगह बसाई गई। इसीलिए, दिल्ली की भाषा पर कई बोलियों का रंग छाया हुआ था। पच्छिमी हिन्दी, पूरबी हिन्दी, ब्रज और राजस्थानी का मिला-जुला प्रभाव था। सूफियों, साधुओं और संतों ने अपने विचारों के प्रचार के लिए जन-साधारण की बोलियों से काम लिया। मुसलमान सूफी जहाँ भी गये, वहाँ की भाषा को अपने प्रचार के लिए चुना और उनकी भाषा में अरबी-फारसी शब्दों की मिलावट हुई। हिन्दी के शब्द फारसी में आये। महमूद गजनवी के समय महाकवि फिरदौसी ने अपनी अमर रचना 'शाहनामा' में 'कोतवाल' शब्द लिखा है। 'कोतवाल' हिन्दी शब्द है, जिसका अर्थ है—किला का मालिक।

कुछ लोगों का कहना है कि सुलतान बलबन के समय दिल्ली में एक नई भाषा बन चुकी थी, जिसे हम उर्दू या हिन्दी के नमूने कह सकते हैं और इस भाषा में अमीर खुसरू ने कविताएँ लिखी थीं। अमीर खुसरू उस समय के महान् और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। वे फारसी-अरबी के बड़े विद्वान् और कविता तथा संगीत के आचार्य थे। आज भी उनके नाम से बहुत-सी चीजें मशहूर हैं। उनकी एक प्रसिद्ध गजल है, जिसका एक टुकड़ा फारसी और दूसरा खड़ी बोली में है—

जे हाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल लड़ाये नैनाँ बनाये बतियाँ।
कि तावे हिजराँ नदारम ऐ जाँ न लेहू का है लगाये छतियाँ॥

या फिर उनकी पहेलियाँ, मकरनियाँ, अनमलियाँ और दो-सुखने। अमीर खुसरू ने अपनी फारसी-कविता में हिन्दी-भाषा की बड़ाई की है। उसे बहुत सराहा है और अपने बारे में लिखा है कि खुद भी हिन्दी-भाषा में कविताएँ लिखी हैं। आज हिन्दी में जो चीजें अमीर खुसरू के नाम से मशहूर हैं, उनको पूरे विश्वास के साथ उनकी नहीं कहा जा सकता। मगर फिर भी, इतना मानना ही पड़ता है कि उनके समय एक ऐसी भाषा बनकर प्रचलित हो चुकी थी, जिसको उन्होंने 'जबाने हिन्दी' कहा है और जिसमें उन्होंने कविताएँ लिखी थीं।

सूफियों की तरह सन्तों और भगतों ने भी बड़ा काम किया है। उन्होंने भी अपने प्रचार के लिए उन्हीं भाषाओं को चुना, जो जनता में लोकप्रिय हो रही थीं। महाराष्ट्र के

कवि नामदेव का नाम भी, कबीर और गुरु नानक की तरह भाषा के इतिहास में अमर सन्त रहेगा। सन्त नामदेव ने कबीर और नानक से बहुत पहले ही उस खड़ीबोली में कविताएँ लिखीं, जो देश में पैदा हो रही थी। सन्त नामदेव का जमाना सन् १३२८ से १४०५ ई० तक है। यही समय है, जब मुहम्मद तुगलक ने देवगिरि पर चढ़ाई की थी और दिल्ली-वालों को वहाँ ले जाकर बसाया था। सन्त नामदेव महाराष्ट्री कवि थे; मगर उन्होंने खड़ी-बोली में भी कविताएँ लिखीं—

माई न होती बाप न होते कर्म न होता काया।
हम नहीं होते तुम नहीं होते कौन कहाँ ते आया॥
चन्द्र न होता सूर्य न होता पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता वेद न होता कर्म कहाँ ते आया॥

या यह कि —

मन मेरी सुई मन मेरा धागा
खींचर जी के चरण पर नाभा सींपी लागा।

कबीर का जमाना बाद का है—सन् १४४० से १४१५ ई० तक। वे कहते है—

बोली मेरी पूरबी ता है न जनिये कोय।
मेरी बोली सो मुखे जो पूरब का होय॥

गुरु नानक का जमाना कबीर के बाद का है। वे कहते हैं—

अंधे अक्ली बाहरे क्या तन सो कहिये,
बिन गुरु न सूझई किस दो ही निरमये।
आवत को जाता कहें जाते को आया,
पर की कर अपनी कहें अपनो नहीं भाया।

इन उदाहरणों से साफ मालूम पड़ता है कि तीनों सन्तों की भाषा एक ही जंजीर की कड़ियाँ हैं। इन तीनों सन्तों का समय अलग-अलग था, स्थान अलग-अलग था। इनके विचार भी अलग-अलग थे, फिर भी भाषा में बहुत-कुछ समानता है।

सन् १५२६ ई० में बाबर ने इब्राहीम लोदी को हराकर दिल्ली पर कब्जा कर लिया। जब इब्राहीम लोदी का सर काटकर बाबर के सामने लाया गया, तब एक हिन्दी-कवि ने यह दोहा कहा —

लोय ऊपर था बत्तीसा। पानीपत में भारत दीसा॥
अट्ठीं रजब सुक्कर बारा। बाबर जीता ब्राहीम हारा॥

और तो और, कहा जाता है कि दिल्ली में रहकर बाबर को भी यह भाषा भा गई। वह फारसी का कवि था। उसने एक शेर इस भाषा में भी कहा। नवाब नसीर हुसेन खयाल ने यह शेर अपनी पुस्तक 'मुगल और उर्दू' में लिखा है—

मुज का न हुआ कुज हवस मानको मोती,
फुकरा हलीफ़ बस बोलगों सेदुर पानी व रोटी।

उसके बाद हुमायूँ के दरबार में भी ऐसे कवियों का पता चलता है, जो दिल्ली की भाषा में भी कविताएँ लिखते थे। उनमें शेख गदाई देहलवी प्रसिद्ध हैं। उसी समय हिन्दी

कवि छेम की कविताएँ भी मिलती हैं, जिनपर शौरसेनी-अपभ्रंश का रंग छाया हुआ है। लेकिन, अकबर के समय में तो दिल्ली की यह भाषा सबसे अलग एक भाषा बन गई थी। अकबरी दरबार के एक रत्न अबुलफज्ल ने अपनी फ़ारसी 'दरबारे अकबरी' में 'जबाने देहलवी' की बार-बार चर्चा की है। यह भाषा दूसरी भाषाओं से अलग थी और दिल्ली में तेजी के साथ बढ़ रही थी।

लेकिन, अकबर के समय में इस 'जबाने देहलवी' को एक झटका लगा और वह इस तरह कि अकबर ने अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर आगरा में बनाई। इससे दिल्ली की जिस भाषा का ढाँचा तैयार हो चुका था, उसकी प्रगति कुछ दिनों के लिए मद्धिम पड़ गई। मगर, एक बड़ा लाभ भी हुआ और वह यह कि इस भाषा ने व्रज और राजस्थानी से बहुत-कुछ पाया। आगरा के आसपास व्रज का जोर था और उसके बाद राजस्थानी का। फारसी के साथ शाही महल में भी व्रज और राजस्थानी का व्यवहार होता था। अकबर का सेनापति तलवार का धनी होने के साथ-साथ कलम का भी धनी था। अरबी-फारसी का विद्वान् और व्रजभाषा का रसिया था। उसने व्रजभाषा में जो दोहे कहे हैं, वे अनमोल हैं। फिर यह कि अकबर की सेना में हर इलाके के लोग थे—पंजाबी, हरियानी, राजस्थान के राजपूत और मुसलमान। ये सारे सिपाही अपनी-अपनी भाषा बोलते थे। मगर इनका आपस में रोज-रोज का मिलना-जुलना था और इनके मेल-जोल से आगरा में भी भाषा की खिचड़ी बनने लगी।

इसी समय अकबर के मन्त्री राजा टोडरमल ने एक और कदम बढ़ाया, जिससे इस नई भाषा को बढ़ने में बड़ी सहायता मिली। राजा टोडरमल ने सरकारी नौकरों के लिए फारसी पढ़ना जरूरी कर दिया और सारे हिन्दू सरकारी नौकर फारसी और अरबी पढ़ने लगे। इसके बाद फारसी की चर्चा हिन्दू-घरों तक में होने लगी। अकबर ने हिन्दू और इस्लाम-धर्म की अच्छी बातों को इकट्ठा करके अपना नया धर्म 'दीने इलाही' चलाया। अकबर चाहता था कि हिन्दू और मुसलमान का भेद मिट जाय और भारत में एक नई सम्मिलित राष्ट्रीयता पैदा हो। उसे इस विचार में सफलता नहीं मिली। पर, उसने हिन्दुओं के साथ जो बरताव किया, उससे यहाँ के हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये और उनके जीवन में नया सुभाव पैदा हो गया। इन सब बातों से इस नई भाषा को आगे बढ़ने में बहुत मदद मिली।

अकबर के ही समय (सन् १५७२ ई०) में गंग कवि ने 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' खड़ीबोली में लिखी, जिसकी भाषा यह थी—

"अकबर शाहजी आम खास में तख्त ऊपर विराजमान हो रहे और आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमरा आये कोर्निश बजाये जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें। अपनी-अपनी मिसिल से जिनकी बैठक नहीं सो रेशम के रस्से में रेशम की लोस पकड़े-पकड़े खड़े ताजीम में रहे।"

अकबर के समय खड़ी बोली में अरबी और फारसी शब्दों का व्यवहार आम हो गया था। अकबर के पोते शाहजहाँ ने फिर दिल्ली को बसाया, वहाँ राजधानी बनाई और उसका नाम शाहजहाँ-आबाद रखा। लाल किले के पास ही उर्दू-बाजार बसाया। उसके चारों तरफ सिपाहियों और फौजी सरदारों की आबादी थी, जिसमें यही खड़ीबोली प्रचलित हो गई और इस बोली का नाम 'शाहजहानी उर्दू' पड़ गया और यह तेजी के साथ बढ़ने लगी। अबतक तो यह समझा जाता था कि दक्खिन के शायर वली औरंगाबादी उर्दू के पहले शायर थे। वली ने शाहजहाँ का आखिर और औरंगजेब का शुरू का जमाना देखा है। लेकिन, अब यह बात नई खोजों ने स्पष्ट कर दी है कि वली जब दिल्ली आये, तब यहाँ पहले से ही इस नई भाषा में कविता करनेवाले मौजूद थे। शाहजहाँ के दरबार के मीर मुन्शी राय रायान पंडित चन्द्रभान ब्राह्मण ने उर्दू कविताएँ कहीं। पंडित चन्द्रभान कश्मीरी ब्राह्मण थे, अरबी और फारसी के बड़े विद्वान् और कवि थे। उनकी फारसी-शायरी की धूम ईरान तक पहुँच चुकी थी। उनकी उर्दू-गजल यह है—

> खुदा ने किस शहर अन्दर हमन को लाय डाला है
> न दिलवर है न साकी है न शीशा है न प्याला है।
> खुबां के बाग में रौनक होवे तो किस तरह यारां
> न दोना है न मरवा है न सौसन है न लाला है।
> पिया का नाम भी सुमिरन किया चाहूँ कहूँ किससे
> न तस्बी है न सुमरन है न कंठी है न माला है।
> पिया के नाम को कत्ल वाअजब देखे हों
> न बरछी है न तिरछी है न खंजर है न भाला है।
> बरहमन वास्ते स्नान के फिरता है बगिया में
> न गंगा है न यमुना है न नद्दी है न नाला है।

इस भाषा का नाम शाहजहानी उर्दू इसीलिए पड़ा कि यह पहले-पहल सेना में फैली। तुर्की भाषा में उर्दू का अर्थ होता है सेना, यानी शाहजहानी सेना की भाषा, जो अब यहाँ की हर भाषा से अलग-अलग थी और स्थानीय बोली में अरबी-फारसी और तुर्की शब्दों के मेल से बनी थी।

उत्तरी भारत में उर्दू-भाषा जिस प्रकार बढ़ी, उसे आपने जान लिया। दक्खिन पर मुसलमानों ने सबसे पहले अलाउद्दीन खिलजी के समय चढ़ाई की और उसके बाद मुहम्मद तुगलक ने। मुहम्मद तुगलक को देवगिरि का शहर ऐसा पसन्द आया कि उसने दिल्लीवालों को वहाँ जाकर बसने का हुक्म दिया। दिल्ली के बहुत-से परिवार वहाँ जाकर बस गये। बहुत-से फकीर और सूफी पहले ही दक्खिन पहुँच चुके थे। मुसलमानों के पहुँचने के बाद दिल्ली की यह सरल भाषा लोकप्रिय बनने लगी। सन्त नामदेव के कुछ दोहे ऊपर दिये जा चुके हैं। दक्खिन में उर्दू के नमूने उस समय भी मिलते हैं, जब उत्तरी भारत में कहीं उसका नाम न था। फीरोजशाह बहमनी के समय ख्वाजा गेसूदराज गुलबरगा

आये थे। उनकी तीन पुस्तिकाएँ मिलती हैं। ये तीनों पुस्तिकाएँ सूफी मत पर हैं। उनके नाम हैं—

१. मेराजुल आशिक़ीन, २. हिदायतनामा और ३. रेसाला सेह बारह। मेराजुल आशिक़ीन की भाषा यह है, देखिए—

ऐ अज़ीज़ो, बासिलाने खुदा सों मिलना जुदा होना यो दोनों भी हैं
यो बात पीरसों मेराज को ख़बर देकर बन्दे को सरफ़राज कर।

ख्वाजा गेसूदराज के नाती अब्दुल्लाह हुसैनी भी सूफी थे। उन्होंने भी कई छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। उसी समय बहमनी दरबार में मशहूर कवि निजामी था, जो फारसी के साथ-साथ स्थानीय भाषा में भी कविताएँ लिखता था।

बहमनी-राज के पतन के बाद दक्खिन में पाँच मुस्लिम राज बन गये। हर बादशाह के दरबार में विद्वानों और कवियों की भीड़ थी। इन सबकी सूची इतनी लम्बी बनती है कि दुहराना कठिन है। उस समय के कुछ मुख्य कवि ये थे— शाह मीरानजी, शाह बुरहानुद्दीन जानम, नुसरती, हाश्मी, सेवा और राम राव। यह सब-के-सब उस नई भाषा में कविताएँ लिख रहे थे, जो तेजी के साथ उभर रही थी।

कुतुबशाही बादशाहों के समय खुद बादशाह सुलतान मुहम्मद शाह, वजही, शौकी अब्दुल्लाह, कुतुबशाह, गब्वासी, इब्ने निशाती, अबुलहसन तानाशाह और वली औरंगाबादी थे। इससे भी यह बात साफ हो जाती है कि वली उर्दू के पहले कवि नहीं थे। दक्खिन में भी उनसे पहले बहुत-से उर्दू के कवियों का पता मिलता है। मगर, इसमें कोई संदेह नहीं कि वे अपने समय के सबसे प्रसिद्ध कवि थे और दक्खिन से बाहर भी मशहूर थे। उस समय दिल्ली में भी बहुत-से कवि थे। फिर भी, दक्खिन में इन नई भाषा को बढ़ने का ज्यादा अवसर मिला और इसका साहित्य इकट्ठा हुआ। दिल्ली में ऐसी बात नहीं थी।

उस युग की विशेषता यह है कि फारसी-कविता के प्रभाव से अरबी और फारसी पिंगल देशी भाषा की कविता में प्रचलित हुए। हिन्दुस्तानी कवियों ने फारसी शायरों के चिह्न पर चलकर गजलें, कसीदे, मसनवियाँ और मरसिये लिखे। हिन्दी-पिंगल से उनका नाता टूट गया। जब वली दिल्ली आये, तब यहाँ का भी यही हाल था। आब्रू, नाजी, मज्मून, यकरंग और आरज़ू उर्दू के मशहूर कवि मौजूद थे और सबने फारसी के ढंग पर उर्दू की कविताएँ लिखी थीं। उर्दू-कविता भारत की पुरानी कविता से बिलकुल अलग एक नई राह पकड़ चुकी थी।

बिहार में मुसलमान खिलजियों के समय में आये। बिहार की भाषा मगही थी। सन् ११६० ई० हजरत ताज फकीह यरोशेलम से बिहार आये और मनेर में बस गये। वह बड़े सूफी थे। बाद में उनके वंश में और बड़े-बड़े सूफी पैदा हुए, जिनमें अहमद यहिया मनेरी, सरफुद्दीन-बिन-अहमद, यहिया मनेरी और मखदूम बिहार बहुत प्रसिद्ध हैं। मखदूम शरफुद्दीन सन् १३६३ ई० में स्वर्गवासी हुए। उनके दोहे बहुत मशहूर हैं।

पटना-कॉलेज के प्रो० हसन असकरी ने उनकी कविताओं का पता चलाया है। इनकी भाषा खड़ी मगही है। उन्होंने अपने चेलों को बाज बीमारी के नुस्खे भी दिये। ये भी दोहों में है। दाँत के मंजन का एक नुस्खा है, देखिए—

नून मिर्च मंजेठ ले आवे। नीला थोथा आग जलावे।।
लोध पठानी कथ पा परया। पीस पास के मंजन करया।।
मंजन करके पान चबैया। दांत के पीरा कभी न भइया।।

मखदूम साहब के बहुत-से वचन भी मिलते हैं, जो मगही में हैं। कहीं-कहीं फारसी या अरबी शब्द आ गये हैं। बिहार के दूसरे इलाकों में भी सूफियों के वचन के नमूने मिलते हैं। सबनें स्थानीय बोली को ही अपने विचारों के प्रचार के लिए चुना। इस तरह यहाँ की बोली में भी अरबी और फारसी के शब्द मिलने लगे और भाषा का चोला बदलने लगा। और, कुछ समय में यह भाषा इतनी मँज गई कि इसमें कविताएँ कही जाने लगीं। फुलवारीशरीफ के एक सूफी एमादुद्दीन एमाद ने सन् १६४२ ई० से सन् १७०५ ई० के बीच यह गजल लिखी—

बीच नज़र के इधर-उधर हरदम आवे जावे है
बल बे ज़ालिम तिस पर टुक देखे को तरसावे है।
जब सती छोड़िस खाना-पीना तेरा दिवाना उल्फत में
खून जिगर का पीवे है और ग़म गुस्सा को खावे है।
आवे अपने हाथ वह मूरख नहीं एमाद अब उसकी आस
उसके कारण कौन जतन हम किया जो नहीं आवे है।

इन शेरों में बिहार की मगही और खड़ीबोली या रेख्ता का रंग साफ झलक रहा है। बिहार में यह नई भाषा बराबर बढ़ती रही। जिस समय दिल्ली में फायज़ आब्रू और मजमून की तूती बोल रही थी, उसी समय फुलवारीशरीफ के एक सूफी को आयतुल्लाह जौहरी ने एक मसनवी लिखी। उसका नाम 'मसनवी-ए-गौहारे जौहरी' रखा। वे कहते हैं—

लिखा रेख्ता बीच यह मसनवी। रखा नाम बस गौहरे जौहरी।
करे जिसकी तारीख का गर ख्याल। रतन सोज मन्का से तू जो निकाल।

अब असल मसनवी के कुछ शेर देखिए—

असाढ़ आया लगा बादल गरजने। अँधेरी रात में बिजली चमकने।
गगन पर बर्क़ नैनन है चमकता। मेरा शोके सतिस है दिल धड़कता।

× × ×

घटा सावन की कारी जब पड़े झूम। मेरे जी बीच बिरहा आ करे धूम।
अकारथ जाय है मेरी जवानी। पिया परदेश क्या यह ज़िन्दगानी।

उस समय बिहार में और भी उर्दू-कवि थे। मगर, सबके बारे में लिखना बात को बढ़ाना है। पर, इनमें कुछ ऐसे कवि हैं, जिनका नाम लिखना जरूरी है। उनमें मीर गुलाम हुसेन शोरिश, मुहम्मद रोशन जोशिश, शाह रुकनुद्दीन इश्क, सज्जाद फुलवारवी, लाला रामचन्द्र फरहत और राजा रामनारायण मौजूँ हैं। राजा रामनारायण मौजूँ बिहार के गवर्नर थे। उन्होंने जब सिराजुद्दौला की हत्या की खबर सुनी, तब तुरत ही एक शेर पढ़ा—

गिजालाँ तुम तो वाकिफ हो कहो मजनू के मरने की
दिवाना मर गया आखिर को वीराने पै क्या गुजरी।

दिल्ली में मुगल-राज नाम को रह गया था। सारा शहर षड्यन्त्र और राजनीतिक जोड़-तोड़ का केन्द्र था। विद्वानों और कवियों को पूछनेवाला कोई न रहा। तो, ये लोग भी जीने का सहारा ढूँढ़ने निकले—लखनऊ, रामपुर, बनारस, हैदराबाद, अजीमाबाद (पटना) और मुर्शिदाबाद पहुँचे। नजीर अकबराबादी आगरा से निकले, तो पटना होते हुए मुर्शिदाबाद पहुँचे। मीर दिल्ली से लखनऊ पहुँचे। जिस समय दिल्ली में मीर और लखनऊ में इन्शा, सौदा, मुसहफी और आतिश की शायरी की धूम थी, उस समय अजीमाबाद (पटना) शेख गुलाम अली रासिख, मीर जियाउद्दीन जिया, राजा बहादुर राजा और राजा प्यारेलाल उल्फती की शायरी से गूँज रहा था।

उर्दू-कविता तरक्की कर रही थी और मुगल-राज का सिंहासन डोल रहा था। उसी हाल में बहादुरशाह जफर बादशाह हुए। बादशाह शायर थे। लाल किले में मुशायरे की महफिलें जमने लगीं। बादशाह के अलावा शहजादे, उस्ताद जौक, मिरजा असदुल्लाह खाँ गालिब, मुफ्ती सदरुद्दीन आजुरदा, शेख इमामबख्श सहबाई शरीक होते थे। लखनऊ में नासिख, आतिश, नसीर, मीर हसन और दयाशंकर नसीम की तूती बोल रही थी। रामपुर, हैदराबाद और अजीमाबाद में मुशायरे की महफिलें गरम रहती थीं कि सन् १८५७ ई० के इन्कलाब ने इतिहास का पन्ना उलट दिया, महफिल उजड़ गई।

इसी समय गालिब जैसा महाकवि चमका, जिसने उर्दू-शायरी की काया पलट दी। गालिब से पहले उर्दू-शायरी में भाषा पर जोर था। गालिब ने पहली बार उर्दू-कविता में दार्शनिक विचारों को समोया और शायरी में नई जान डाल दी। पर, गालिब ने उर्दू-कविता की भाषा को फारसी शब्दों और तरकीबों से बोझिल भी कर दिया। बाज शेर ऐसे कहे हैं कि अगर एक-दो शब्द बदल दिये जायँ, तो फारसी-शेर बन जायँ। दूसरी ओर लखनऊ में नासिख ने मतरुकात का सिलसिला शुरू किया। मतरुकात का मतलब है किसी शब्द या मुहावरे को छोड़ना। नासिख ने बहुत-से हिन्दी शब्दों और मुहावरों का व्यवहार गलत ठहराया और वे उर्दू-भाषा से सदा के लिए छूट गये। उर्दू-शायरी ने फारसी-शायरी की परम्पराओं को अपना लिया। इससे भाषा को बहुत हानि पहुँची।

गालिब के समय तक इस भाषा का कोई एक नाम नहीं था। गालिब ने इसे हिन्दी, हिन्दवी, रेख्ता और उर्दू-ए-मुअल्ला कहा है। फोर्ट विलियम कॉलेज में इसका नाम उर्दू और हिन्दुस्तानी था। उसके बाद ही इसका नाम आखिरी तौर पर उर्दू पड़ गया।

गालिब के बाद ही दिल्ली में दाग और लखनऊ में अमीर मीनाई चमके। दाग ने सरल भाषा में कविताएँ लिखीं, जो बहुत लोकप्रिय हुईं।

उस समय तक फारसी-शायरी की पैरवी में उर्दू में हर प्रकार की कविताएँ आने लगीं। गजलें, रुबाइयाँ, मरसिये, कसीदे, मसनवियाँ, किते, मुसद्दस, मुखम्मस, हर ढंग कविताएँ मिलती हैं। गालिब के एक शागिर्द मौलाना अल्ताफ हुसेन हाली ने बाद में एक मुसद्दस 'मद्दो जजरे इस्लाम' लिखा। यह कविता बहुत लोकप्रिय हुई और उर्दू-शायरी में राष्ट्रीय काव्य की नींव का पत्थर बनी। लखनऊ में मीर अनीस और मिरजा हबीर के मरसियों की धूम थी। इसके बाद ही थोड़े-थोड़े समय के बाद अकबर इलाहाबादी, बृजनारायण चकबस्त, एकबाल, शाद अजीमाबादी, हसरत मोहानी, तलोकचन्द महरूम और दुर्गा सहाय सरूर और इनके बाद साकिब, बेखुद, मिरजा यगाना, अजीज, सफी, जोश और जिगर मुरादाबादी आये और उर्दू का भाण्डार शायरी से भर गया।

अबतक उर्दू-पद्य की बातें थीं। यह इसलिए जरूरी था कि उर्दू-भाषा को बढ़ाने में पद्य का बड़ा हिस्सा है। अब गद्य की बातें सुनिए। असल में उर्दू-गद्य का इतिहास ख्वाजा गेसूदराज की पुस्तिकाओं से शुरू होता है, पर उसने साहित्य का रूप नहीं धारण किया था। ये पुस्तिकाएँ साहित्यिक विचार से लिखी भी नहीं गई थीं; मगर बाद में साहित्य-धारा भी आ ही गई। बहादुरशाह जफर के समय दिल्ली से उर्दू का एक अखबार निकलता था, जिसमें बादशाह-शाहजादों की गजलें और खास-खास खबरें छपती थीं। इसके सम्पादक सय्याद बाकर अली थे।

उर्दू-गद्य का असल इतिहास उस समय से शुरू होता है, जब सन् १८०० ई० में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित हुआ। इस कॉलेज का असल काम था अँगरेज अफसरों को देशी भाषाओं की शिक्षा देना और उसका प्रबन्ध करना। इसके संचालक थे डाक्टर जॉन गिलक्राइस्ट। उन्हें देशी भाषा से बहुत प्रेम था और वे उसकी तरक्की देना चाहते थे। उन्होंने खुद भी कई किताबें उर्दू में लिखीं और बहुत-से लेखकों को इकट्ठा कर लिया। उनमें मीर अमन, निहालचंद लाहौरी, लल्लूलालजी, मीर बहादुर अली हुसेनी, मीर शेर अली अफसोस, काजिम अली जवान, मजहर अली विला और लाला बेनी नारायण—जैसे लोग जमा हो गये और फोर्ट विलियम में लिखने और अनुवाद का काम शुरू हो गया।

मीर अमन ने अमीर खुसरू की फारसी पुस्तक 'बागो-बहार' का किस्सा 'चेहार दरवेश' के नाम से और अनवार सहेली का अनुवाद उर्दू में किया। शेर अली अफसोस ने शेख सादी की 'गुलिस्ताँ' और हैदरबख्श हैदरी ने 'लैला मजनू' और 'तोता कहानी' का अनुवाद किया। नेहालचंद लाहौरी ने फारसी से 'गुलबकावली' का अनुवाद किया। काजिम अली जवान से कालिदास के मशहूर नाटक 'शकुन्तला' और फरिस्ता के लिखे हुए भारत के इतिहास का अनुवाद किया। मजहर अली विला ने 'माधवमल' और 'कामकुण्डला' और 'बैताल पचीसी' का व्रज से उर्दू में अनुवाद किया। लल्लूलालजी ने 'सिंहासनबत्तीसी' लिखी। लाला बेनी नारायण ने एक फारसी-किस्से का उर्दू में अनुवाद किया और 'चार

कलश' उसका नाम रखा। उसी समय अँगरेजों ने फारसी को हटाकर उर्दू को सरकारी कचहरियों में जगह दी।

उर्दू-गद्य-साहित्य का इतिहास फोर्ट विलियम से शुरू होता है। उसके बाद तो धड़ाधड़ काम होने लगा। उसी समय गालिब ने अपने दोस्तों को जो पत्र लिखे हैं, वे उर्दू-साहित्य के बहुत ही अच्छे नमूने हैं। उसी समय बाज लोगों ने धार्मिक पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद शुरू किया और थोड़े ही दिनों में हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों की धर्म-पुस्तकें उर्दू में आ गईं। देहली-कॉलेज के एक अध्यापक मास्टर रामचन्द्र ने इतिहास, भूगोल, अंकगणित और दूसरे विषयों पर उर्दू में कई किताबें लिखीं।

सन् १८५७ ई० के बाद सर सैयद अहमद खाँ ने साइण्टिफिक सोसाइटी स्थापित की। आपने कई किताबें उर्दू में लिखीं और दूसरों से लिखवाईं। जब वे नौकरी से अलग होकर अलीगढ़ आ गये और कॉलेज बनाया, तब बहुत-से विद्वान् उनके साथी बन गये। मुहम्मद हुसैन आजाद, मौलाना हाली, मौलाना शिब्ली, डिप्टी नजीर अहमद खाँ खास तौर पर मशहूर थे। उर्दू का प्रेस कायम हुआ। मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने उसी जमाने में या उसके लगभग अपनी पुस्तक 'आबे हयात' लिखी, 'दरबारे अकबरी' का अनुवाद किया और बहुत-सी दूसरी पुस्तकें लिखीं। मौलाना हाली ने मशहूर 'मुसद्दस' लिखा, अपने उस्ताद गालिब का जीवनचरित्र—'यादगारे-गालिब'—लिखा। डिप्टी नजीर अहमद ने नौकरी के समय 'इण्डियन पेनल कोड' का अनुवाद उर्दू में किया था। उनके दिये हुए शब्द आजतक प्रचलित हैं। मौलाना शिब्ली बाद में अलीगढ़ से चले गये और उन्होंने लखनऊ में एक नई संस्था बनाई और 'इस्लाम का इतिहास' तथा दूसरी पुस्तकें लिखीं। उसी समय डिप्टी नजीर अहमद ने उर्दू में नाविल लिखे। सर सैयद ने अपनी पत्रिका 'तहजीबुल अखलाक' निकाली। मौलाना हाली ने आलोचना की पहली किताब लिखी। असल में यह उनके दीवान (संग्रह) की भूमिका है और अब 'मुकद्दमए शेरो शायरी' के नाम से अलग पुस्तक बन गई है।

लखनऊ में उस समय पंडित रतननाथ सरशार के कलम की धूम थी। वे नवलकिशोर प्रेस के 'अवध अखबार' के सम्पादक थे। उन्होंने 'फसानए आजाद', 'सैरे कोहसार', 'कामनी', "पी कहाँ' और 'कड़म धर्म' जैसी पुस्तकें लिखीं। इसे न मानना पाप के बराबर है कि मुन्शी नवलकिशोर के प्रेस ने शुरू में उर्दू को तरक्की देने के सिलसिले में बहुत काम किया। उस समय लखनऊ से मुमताज हुसैन ने हास्य का एक साप्ताहिक 'अवध-पंच' निकाला। यह अखबार कांगरेसी था और सर सैयद के खिलाफ। इसमें अकबर इलाहाबादी, मिर्जा मच्छू बेग जरीफ, मुन्शी ज्वालाप्रसाद बर्क और पंडित त्रिभुवननाथ हिज्र जैसे लोग लिखा करते थे। उस समय पटना से भी एक साप्ताहिक 'विहार पंच' निकला। उसमें फज्ले हक आजाद, खैर रहमानी, मुन्शी अबदुर्रहीम लिखा करते थे।

उन्नीसवीं सदी में उर्दू सारे देश में फैल चुकी थी और हर तरफ ऐसी संस्थाएँ थीं, जो उसे बढ़ाने का काम कर रहीं। इस सिलसिले में कुछ पत्रिकाओं ने भी बड़ा काम किया है, जिनका नाम न लेना बड़ी बेइन्साफी होगी।

'मख्जन' सन् १६०१ ई० में लाहौर से प्रकाशित हुआ। उसके सम्पादक सर अब्दुल कादिर थे। इसी पत्रिका ने सर एक़बाल, पंडित तिलोकचन्द महरूम, चकबस्त, सुलतान हैदर जोश, मौलवी अब्दुल हक और पंडित कैफ़ी और बाद में पंडित सुदर्शन को परिचित कराया। 'जमाना' कानपुर से सन् १६०३ ई० में निकला। उसके सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम थे। मुन्शी प्रेमचन्द, बालमुकुन्द गुप्त, पंडित मनोहरलाल जुत्सी, अजीज मिर्जा, दुरगा सहाय सरूर से लेकर बाद में जोश मलीहाबादी तक ने उसमें लिखा। तीसरी पत्रिका 'तमद्दुन' नाम से देहली से निकली। उनके सम्पादक कारी सरफ़राज हुसैन थे। राशिदुल खैरी, हसन निजामी और बहुत-से दूसरे लिखनेवाले उसके द्वारा परिचित हुए। चौथी पत्रिका इलाहाबाद से निकली। उसका नाम 'अदीब' था और मुन्शी नौबद राय नजर उसके सम्पादक थे। मगर, यह पत्रिका केवल तीन वर्ष के बाद बन्द हो गई।

इस समय तक अँगरेजी शिक्षा सारे देश में फैल चुकी थी। अँगरेजी भाषा के प्रभाव से उर्दू के साहित्यिकों और कवियों को नई प्रेरणा मिली और उर्दू का भांडार भरने लगा। इस सिलसिले में तीन-चार संस्थाओं के नाम और काम दुहराना आवश्यक मालूम पड़ता है।

अंजुमने तरक्की-ए-उर्दू—इसके प्रधान सर तेजबहादुर सप्रू और मंत्री मौलवी अब्दुल हक थे। इस संस्था ने सन् १६४७ ई० तक उर्दू में हर विषय की लगभग ढाई सौ पुस्तकें छापीं। इसकी सारी पुस्तकें अपने विषय के कारण उच्च कोटि की कही जायँगी। पुस्तकों के अलावा अंजुमन तीन पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती थी—'उर्दू', 'साइन्स' और 'मआशियात'। देश के बँटवारे के बाद मौलवी अब्दुल हक़ पाकिस्तान चले गये। अब इस संस्था का ऑफिस देहली से अलीगढ़ आ गया है।

दारुल मुसन्नेफीन, आजमगढ़—दूसरी संस्था है। इसे मौलाना शिब्ली के शागिर्दों ने स्थापित किया। यह संस्था अब इस्लामी इतिहास, सूफी मत और साहित्य पर सैकड़ों पुस्तकें छाप चुकी है। एक मासिक पत्रिका 'मआरिफ' भी प्रकाशित करती है।

एदारए अदबियाते उर्दू—हैदराबाद की संस्था है। इसमें भी उर्दू-साहित्य पर बहुत-सी पुस्तकें छापी हैं और एक मासिक-पत्र 'सबरस' प्रकाशित करती है। देहली में **मकतबए जामेआ** और **नदवतुल मुसन्नेफीन** भी बहुत अच्छा काम करती है।

सन् १६१८ ई० में हैदराबाद में **उस्मानिया युनिवर्सिटी** बनी और तय पाया कि उसमें हर विषय की पढ़ाई उर्दू में होगी। साइन्स की पुस्तकों के अनुवाद के लिए एक संस्था बनाई गई। उसका नाम **दारुल तरजुमा** रखा गया। इस संस्था ने डाक्टरी, इंजीनियरिंग और साइन्स के हर विषय पर सैकड़ों पुस्तकों का अनुवाद करके छापा, जिससे उस्मानिया युनिवर्सिटी में इंजीनियरिंग और डाक्टरी की भी पढ़ाई उर्दू में सम्भव हो सकी।

दूसरी बहुत-सी और भी संस्थाएँ हैं, जो काम कर रही हैं, लेकिन सबके नाम और काम को दुहराना कठिन है, इसलिए उन्हें छोड़ता हूँ।

उर्दू में नाटक कुछ नाटक-कंपनियों तक ही घिरकर रह गये। इसलिए, बहुत ज्यादा तरक्की नहीं कर सके। फिर भी, विनायकप्रसाद तालिब, मुहम्मद अहसन, नारायणप्रसाद बेताब,

बेताब, आगा हश्र, अब्दुल माजिद दरियाबादी, इम्तेयाज अली ताज और उपेन्द्रनाथ अश्क ने अच्छे ड्रामे उर्दू को दिये हैं। नाविलों के सिलसिले में मुहम्मद अली, अब्दुल अलीमशरर, मुन्शी ज्वालाप्रसाद बर्क, मिर्जा सईद, अजीज अहमद, प्रेमचन्द और सुदर्शन के नाम लिये जा सकते हैं।

बीसवीं सदी में राष्ट्रीय जागरण के कारण देश के कोने-कोने से उर्दू पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं और साहित्य में नये-नये विचार और भाव आने लगे। सन् १९३६ ई० में पंडित नेहरू, सज्जाद ज़हीर, मौलवी अब्दुल हक और मुन्शी प्रेमचन्द के दस्तखत से एक घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। उसमें कहा गया था कि देशी भाषाओं में अबतक जितना कुछ भी हुआ है, वह काफी नहीं है। लेखकों और कवियों को देश में बहनेवाली धाराओं को समझना और उनके अनुसार जनता के लिए लिखना चाहिए। इसी घोषणा-पत्र के अनुसार लखनऊ में एक कान्फ्रेंस हुई, जिसके सभापति मुन्शी प्रेमचन्द थे और उसी अवसर पर प्रगतिशील लेखक-संघ की नींव पड़ी। उर्दू के लेखकों ने उससे बड़ा लाभ उठाया। दूसरी भाषाओं के लेखकों और कवियों के सम्पर्क से उर्दू का नया साहित्य बड़ा जानदार हो गया। उस समय बहुत-से नये लेखक चमके, जिनमें कृष्णचन्द्र, राजेन्द्र सिंह बेदी, हयातुल्लाह अन्सारी, सआदत हसन मण्टो, उपेन्द्रनाथ अश्क, अख्तर उरेनवी, इस्मत चुगताई; कवियों में असरारुल हक मजाज, जाँनिसार अख्तर, राज बलदेव राज, रघुपति सहाय फिराक, साहिर लुधियानवी, फैज अहमद फैज; आलोचकों में मालिक राम, आले अहमद सरूर, एहतेशाम हुसेन और एबादत ब्रेलवी ने बड़ा नाम कमाया।

देश के बँट जाने से उर्दू की तरक्की को बड़ा झटका-सा लगा, पर यह झटका थोड़े दिनों के लिए है और अब हालत-दुरुस्त होती जा रही है। पाकिस्तान में भी अंजुमने तरक्की-ए-उर्दू काम कर रही है। उर्दू-कॉलेज खोला गया है, जिसमें हर विषय की शिक्षा उर्दू में दी जाती है और इस कॉलेज को युनिवर्सिटी बनाने की चेष्टा की जा रही है।

आज उर्दू भारत के कोने-कोने में फैली हुई है। भारत का शायद कोई बड़ा शहर नहीं, जहाँ से उर्दू पत्र-पत्रिकाएँ न प्रकाशित होती हों। बम्बई से १०, देहली से १५, जालंधर से ५, लखनऊ से ३. कानपुर से २, बनारस से १, पटना से २, हैदराबाद से ६, बंगलोर से २ और मद्रास से १ उर्दू-पत्रिका निकलती है। देहली की एक मासिक पत्रिका एक लाख से ज्यादा और दूसरी साठ हजार छपती है।

इन सारी बातों को सामने रखते हुए एक बात स्पष्ट रूप में सामने आती है और वह यह कि उर्दू भारत की विशाल भाषा है और स्वतंत्र भारत में इसका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है।

—सुहैल अजीमाबादी

◉

हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य

हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य किसी एक विभाषा और उसके साहित्य के विकसित रूप नहीं हैं; वे अनेक विभाषाओं और उनके साहित्यों की समष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः हिन्दी-भाषा उस मध्यदेश की एकाधिक साहित्यिक बोलियों की नदियों का समुद्र है, जिसमें अनेकता ने एकता उपलब्ध कर ली है। एक बहुत बड़े प्रदेश—

हिन्दी-भाषा

जिसे चिरकाल से मध्यदेश कहा जाता रहा है—की अनेक बोलियों के ताने-बाने से बुनी हुई यही एक ऐसी आधुनिक भारतीय भाषा है, जिसने अनजाने और अनौपचारिक रीति से, देश की ऐसी व्यापक भाषा बनने का प्रयास किया था, जैसी संस्कृत रहती चली आई थी, किंतु जिसे किसी नवीन भारतीय भाषा के लिए अपना स्थान तो रिक्त करना ही था।

'षड्भाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया' का दावा करनेवाले कवि चंद ने संस्कृत तथा इस्लाम से संबद्ध भाषाओं के अतिरिक्त किन छह भाषाओं का संकेत किया है, यह निश्चित नहीं है, किंतु यह सहज अनुमेय है कि वे डिंगल या पिंगल में लिखने के बदले एक ऐसी भाषा मे लिखने का प्रयत्न कर रहे थे, जो अधिक-से-अधिक भारतीय भाषा-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व कर सके। जिन अन्य विभाषाओं के कवियों ने अपने सामने यह आदर्श रखा, वे ही हिन्दी के कवि माने गये; जिन्होंने विभाषा-विशेष की सीमा का अतिक्रमण नहीं किया, वे लोकभाषा-मात्र के कवि रह गये। उदाहरणार्थ, अवधी में लिखनेवाले जायसी और तुलसी, भोजपुरी क्षेत्र के कबीर, व्रजभाषा के कवि सूर या मैथिली के विद्यापति, हिन्दी के कवि इसलिए हैं कि इनकी अवधी, भोजपुरी, व्रजभाषा या मैथिली भाषाविज्ञान की दृष्टि से ही तत्-तत् भाषाएँ हैं, साहित्यिक भाषाओं की कसौटी पर वे एक श्रेणी की सिद्ध होती हैं। ये और इन्हीं जैसी अन्य अनेक बोलियाँ ही वे धाराएं हैं, जिनसे हिन्दी का सागर निर्मित हुआ है—उसमें खड़ी बोली उससे अधिक नहीं, जितनी उपर्युक्त कवियों की अवधी में अवधी, भोजपुरी में भोजपुरी, व्रजभाषा में व्रजभाषा या मैथिली में मैथिली।

अनेकता में एकता की विशिष्टता के लिए उल्लेख्य भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही उसकी अभिव्यक्ति का व्यापक नवीन माध्यम वह भाषा है, जिसे हिन्दी कहते हैं। शौरसेनी-प्राकृत तथा उससे संबद्ध अपभ्रंशों से विकसित यह हिन्दी तत्सम और अर्द्धतत्सम के अधिकाधिक प्रयोग से अपनी भाषावैज्ञानिक सीमा का अतिक्रमण करती गई है; अनेक भाषा-वैज्ञानिकों के मतानुसार मैथिली क्या, भोजपुरी और मगही आदि विभाषाएं भी हिन्दी के अंतर्गत नहीं आतीं, किंतु साहित्यिक तथा परिनिष्ठित हिन्दी की परिधि से ये बाहर नहीं हैं, यह सर्वथा स्पष्ट है।

यही कारण है कि आठवीं-नवीं शताब्दियों के अनेक बौद्ध सिद्ध आधुनिक मगही के क्षेत्र में रहते हुए भी उस साहित्यिक अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं, जिसका राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार, हिन्दी से निकटतम संबंध है। इसी प्रकार, विद्यापति की मैथिली तत्सम के बाहुल्य के कारण और कबीर की भोजपुरी अन्य अनेक विभाषाओं के सम्मिश्रण के फलस्वरूप मैथिली या भोजपुरी-मात्र न रहकर हिन्दी में मिल जानेवाली धाराएँ बन जाती हैं। और, इस साहित्यिक संबंध के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यदि इन विभाषाओं में एक-दो कुछ दृष्टियों से बँगला के समीप हों भी, तो यह आंशिक भाषावैज्ञानिक सत्य-मात्र है। यदि बँगला और इन बोलियों को क्रियापदों की समानता के आधार पर एक वर्ग में रखा जाता है, तो सत्य का यह भी अंश है कि कुछ बातों में इन बोलियों का हिन्दी की बोलियों के वर्ग के साथ स्पष्ट साम्य है; उदाहरणार्थ, संबंध कारक के चिह्न का निर्देश पर्याप्त है; यदि बँगला में 'रामेर' होता है तो मैथिली, भोजपुरी आदि में 'रामक', 'रामके', और यह महत्त्वपूर्ण वैषम्य है।

इस विविधतापूर्ण भाषा का साहित्य भी अतिशय विविधतापूर्ण है, यद्यपि दोनों में ही अंतर्व्याप्त अविच्छिन्नता भी है। इस साहित्य का आरंभ १००० ई० से होता है, किंतु प्रायः दो शताब्दी पूर्व से ही इसका प्रारंभ माना जा सकता है, जब अपभ्रंश-भाषाएँ द्रव-स्थिति में थीं और आधुनिक भारतीय भाषाओं में नवीन रूप ग्रहण करने लग गई थीं। इस संधिकाल में अपभ्रंश-भाषा में रचित साहित्य परवर्ती वृक्ष का बीज-रूप है।

हिन्दी-साहित्य : उद्भव

अपभ्रंश-भाषा में रचित जैनधर्म से संबद्ध साहित्य सबसे पहले उल्लेख्य है। इस वर्ग के काव्यों में ऐसे भी अनेक कवियों का उल्लेख है, जिनकी रचनाएँ आज प्राप्य नहीं हैं, किंतु जिनकी सुलभ हैं, उनसे इसका महत्त्व सहज अनुमेय है। अनुमानतः, आठवीं शताब्दी के स्वयंभू की चार कृतियाँ, पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, पंचमीचरिउ तथा स्वयंभूछंद संप्रति प्राप्य हैं। अंतिम कृति में अनेक अन्य कवियों के छंद, उदाहरण-रूप हैं, संगृहीत हैं। इस प्रसंग में दूसरे उल्लेखनीय कवि हैं पुष्पदंत, जिनकी तीन कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी के साहित्यिक इतिहास-कारों ने जिन पुष्प या पुष्य कवि का, इस भाषा के प्रथम कवि के रूप में, स्मरण किया है, वे पुष्पदंत हो सकते हैं, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है। इस वर्ग के अनेक अन्य चरित-काव्य अब प्रकाश में आ गये हैं, उदाहरणार्थ, दसवीं शती की भविसयतकहा, ग्यारहवीं का सुदर्शनचरिउ, बारहवीं का करकंडुचरिउ, तथा और भी बाद के पंजुण्णचरिउ, सुकुमाल-चरिउ आदि। इन चरितकाव्यों का परभावी हिन्दी चरितकाव्यों पर स्पष्ट प्रभाव है। इनके अतिरिक्त आठवीं अथवा नवीं शती के जोइंदु और दसवीं के रामसिंह के प्राप्त दोहे परवर्ती नाथ और संत-साहित्य के अनेक स्रोतों में एक हैं, और ग्यारहवीं शती के हेमचंद्र तथा बारहवीं के मेरुतुंग के द्वारा संगृहीत छंदों में बाद की शृंगारिक, नीति-विषयक और वीर-रस की रचनाओं के बीज मिलते हैं।

जैन साहित्य

बौद्ध साहित्य

संधिकाल की यह पहली साहित्यिक धारा है। दूसरी वह है, जिसका श्रेय वज्रयानी बौद्ध सिद्धों को है, जिनकी संख्या परंपरया चौरासी मानी जाती है और जिनमें प्रमुख हैं सरहपा, शबरपा, भूसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोंबिपा, दारिकपा, गुंडरिपा तथा कण्हपा। इनका समय आठवीं-नवीं शती है और इन तथा कुछ अन्य सिद्धों की ही रचनाएँ आज प्राप्य हैं।

यदि प्राचीन हिन्दी में निबद्ध जैन साहित्य प्रायशः मध्यदेश की पश्चिमी सीमा पर रचित हुआ था, तो यह बौद्ध साहित्य उसकी पूर्वीय सीमा पर। यदि दोनों में प्रादेशिक भाषा-तत्त्व लक्षित होते हैं, तो यह भी सत्य है कि उनमें विस्मयजनक साम्य भी हैं। इसका संतोष-जनक समाधान राहुलजी ने हाल में ही प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार कन्नौज के आसपास की अपभ्रंश-भाषा ही, हिन्दी क्षेत्र में, इस युग की परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा थी; इसी के फलस्वरूप हिन्दी-क्षेत्र की दूरवर्ती सीमाओं के साहित्यों में भी भाषा-साम्य वर्त्तमान है।

नाथ-साहित्य

नवीं-दसवीं शताब्दियों में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के द्वारा प्रवर्त्तित नाथ-संप्रदाय का बौद्ध सिद्धों के संप्रदाय से बड़ा ही घनिष्ठ संबंध था, जैसा दोनों संप्रदायों की गुरु-परंपराओं की अंशतः मिलती-जुलती तालिकाओं से सिद्ध है। दोनों के सिद्धान्तों और उनकी अभिव्यंजना-पद्धति में भी, गुरु के महत्त्व, योग, सहज-साधना तथा उलटवासियों और प्रतीकों की दृष्टि से, स्पष्ट समानताएँ हैं। किन्तु, नाथ-पंथ की अपनी विशिष्टता भी है। उसमें सिद्ध-संप्रदाय के विपरीत आचार की शुद्धता, संयम, वैराग्य, मद्य-मांसादि के निषेध पर जोर दिया गया है, जो परभावी संत-संप्रदाय को इसी स्रोत से प्राप्त हुए। संस्कृत तथा हिन्दी में जो नाथपंथी साहित्य आज उपलब्ध है, उसका लिखित रूप बहुत प्राचीन नहीं है; अतः उसके प्रामाणिक अंशों का निर्धारण विशेष अवधान की अपेक्षा रखता है।

आदिकाल

पूर्व-परंपराएँ

दसवीं शताब्दी के अंत तक अपभ्रंश की नवीन भाषा-रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया प्रायः पूरी हो चुकी थी और ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ के साथ हिन्दी-साहित्य के उस आदिकाल का प्रारंभ माना जा सकता है, जिसकी समाप्ति चौदहवीं शताब्दी के अंत के साथ होती है। इस अवधि में एक तो जैन, बौद्ध तथा नाथ-संप्रदायों से संबद्ध साहित्य है, जिसकी परवर्त्ती कृतियों का भी उल्लेख पहले ही किया जा चुका , और दूसरा वह है, जिसकी प्राप्त कृतियों को, हिन्दी-साहित्येतिहास के प्रारंभिक लेखकों ने वीर-गाथा के नाम से अभिहित किया था। संप्रदायेतर कृतियों तथा वीर-गाथाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रचनाएँ भी इस काल में मिलती हैं।

वीर-गाथाओं में उल्लेख्य हैं दलपति विजय का खुमाणरासो, नरपति नाल्ह का

वीसलदेवरासो, भट्टकेदार का जयचंदप्रकाश, मधुकर कवि-रचित जयमयंक जसचंद्रिका, शार्ङ्गधर, का हम्मीररासो, नल्लसिंह का विजयपालरासो, चंद बरदाई का पृथ्वीराजरासो, जगनिक का परमालरासो तथा श्रीधर का रणमल्ल छंद आदि। इन वीर-गाथाओं—विशेषतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति पृथ्वीराजरासो—के प्राप्य वर्त्तमान रूप की प्रामाणिकता विवादास्पद है। किन्तु, इनके साहित्यिक महत्त्व पर विचार करने के बदले इनकी प्रामाणिकता पर विचार करते रहे जानेवाले भूल जाते हैं कि इस प्रकार की 'परंपरागत वीर-गाथाएँ' 'साहित्यिक प्रबंध-काव्यों' के विपरीत, लिखित रूप में सर्वत्र केवल अंशतः प्रामाणिक पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, 'होमारिक समस्या' भी ऐसी ही और कम जटिल समस्या नहीं है, किन्तु इससे होमर की वीर-गाथाओं का साहित्यिक महत्त्व कदापि उपेक्षित नहीं हुआ है। जहाँतक वीर-गाथाओं के साहित्यिक वैशिष्ट्य का प्रश्न है, आधुनिक चारणों से उनका श्रवण कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा था कि भारतीय भाषाओं में, हिन्दी की तरह, भक्ति आदि का तो प्रचुर साहित्य वर्त्तमान है, किन्तु वीर-गाथा हिन्दी की महनीय विशेषता है।

वीर-गाथाएँ

इस युग में अमीर खुसरो की पहेलियाँ-मुकरियाँ, अब्दुल रहमान का प्रेमकाव्य, संदेश-रासक, विद्यापति की आध्यात्मिक-शृंगारिक पदावली, वीर-गाथाओं से भिन्न श्रेणियों की रचनाओं में, महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बावजूद हिन्दी का यह आदि-काल, युद्धों के वातावरण के सर्वथा अनुरूप, मुख्यतः वीर-शृंगार-रसप्रधान वीर-गाथा का ही युग है।

अन्य प्रकारों का साहित्य

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ से हिन्दी का साहित्यिक वायुमंडल बदलने लगा और परिवर्तित स्थिति प्रायः सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक बनी रही। इस अवधि में वीर-शृंगार का स्थान लिया भक्ति-शृंगार ने; क्योंकि हिन्दी-प्रदेश में, प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थिति के कारण राज्याश्रय के अभाव में हिन्दी का साहित्यिक विकास अवरुद्ध हो गया था और वह कवियों के बदले भक्तों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी रही। यदि राज्याश्रय का अभाव साहित्यिक विकास में बाधक हुआ, तो परिस्थिति की माँग थी कि धर्म और दर्शन के प्लावन-कपाट खोल दिये जायँ, ताकि जन-जीवन को बंजर हो जाने से बचाया जा सके। अबतक जो सांस्कृतिक प्राणधारा संस्कृत की कुल्याओं से प्रवाहित होती थी, वह अकूल लोकभाषाओं के माध्यम से हिन्दी-क्षेत्र को सींचने लगी। युद्धों में पराजित जाति के सदस्य कहीं व्यक्तिगत जीवन में अपने को निस्सहाय न अनुभव करें, इसलिए वेदांत और भक्तिशास्त्र, रामायण और भागवत को कबीर, तुलसी और सूर तथा उनके असंख्य अनुयायियों ने सबके लिए सुलभ बना दिया। विदेशियों के बीच ऐसे कुछ सूफी थे, जो खड्ग के बदले प्रेम से विजय प्राप्त करने में विश्वास रखते थे; उन्होंने भी अपना धर्म और दर्शन हिन्दुओं तक उन्हीं की कहानी और भाषा के द्वारा पहुँचाने का प्रयास किया। चूँकि, इस युग में धर्म और दर्शन को जनसाधारण तक पहुँचाना अभीष्ट था, इसलिए उन्हें शास्त्रीय भाषा और रूपों के

भक्तिकाल

बदले लोकभाषाएँ अपनानी पड़ीं और गीत एवं कथा के रूप ग्रहण करने पड़े। रस रहा तो शृंगार ही, किन्तु उसे पुष्ट वीरत्व ने नहीं, अध्यात्म ने किया।

अध्यात्म भारत के लिए कोई नवीन तत्त्व नहीं था, किन्तु पहले जहाँ वह पारभाषिक संस्कृत में व्यक्त दार्शनिक खंडन-मंडन का विषय था, वहाँ वह अब लोकभाषाओं के छंदों, गीतों तथा रूपों में भक्ति से स्निग्ध-मधुर होकर सहज प्रेषणीय और सद्यः ग्राह्य बन गया। दर्शन के इस सामान्यीकरण का विरोध निहित स्वार्थों के कारण विशेषज्ञों ने किया होगा, किन्तु इसके लिए सुदृढ बौद्धिक आधार शास्त्रज्ञ आचार्यों ने पहले से ही प्रस्तुत कर रखा था। यदि कबीर और तुलसी को यह रामानन्द से मिला, तो सूर को वल्लभ से, तसव्वुफ के भारतीयीकरण की परम्परा भी जायसी के पूर्व ही प्रवर्तित हो चुकी थी।

निर्गुण मार्ग

रामानंद की प्रत्यक्ष प्रेरणा से, किन्तु साथ-ही-साथ बौद्धों, नाथों, वैष्णवों, अद्वैतवादियों और सूफियों की परस्पर-विरोधी-सी प्रतीत होनेवाली परंपराओं एवं मान्यताओं के समन्वय के फलस्वरूप भी, कबीर ने ऊँच-नीच, जाँत-पाँत, विधि-निषेध के बंधनों से मुक्त एक ऐसा मानववाद उद्भावित किया, जो समय से बहुत पहले होने के बावजूद, विस्मयजनक रूप में अमोघ सिद्ध हुआ। रैदास, सधना, पीपा, धना आदि अपेक्षया प्राग्भावी तथा दादू, सुन्दर, सिख गुरु, मलूक, अक्षर अनन्य, धरनी, गुलाल, गरीब, दरिया, चरण, शिवनारायण, दयाबाई, सहजोबाई आदि प्राग्भावी संत, अपनी न्यूनाधिक भिन्नताओं के बावजूद, उस निर्गुण मार्ग के उल्लेखनीय प्रतिनिधि हैं, जिसके शीर्ष-स्थान के अधिकारी कबीर हैं। पंथों के रूप में इनमें से अधिकांश की परम्परा अद्यावधि अविच्छिन्न है।

कृष्णभक्ति

'म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु' और 'गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेषु' 'कृष्ण एव गतिर्मम' में विश्वास रखनेवाले वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ के आठ प्रधान शिष्यों—'अष्टछाप'—ने मुख्यतः जयदेव, विद्यापति, चंडीदास आदि की गीत-शैली में विषयानुरूप मधुर व्रजभाषा में, कृष्णलीलाओं का वर्णन किया है। सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास और कुंभनदास तो स्वयं वल्लभ के शिष्य थे और नंददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी विट्ठलनाथ के; ये ही 'अष्टछाप' में परिगणित होनेवाले भक्त कवि हैं। इसके अतिरिक्त मीराँबाई, हितहरिवंश, सूरदास, मदन-मोहन, नरोत्तमदास, स्वामी हरिदास, निपट निरंजन, बलभद्रमिश्र, मुबारक, रहीम, गंग, रसखान, ध्रुवदास, आनन्दघन, नागरीदास, अलबेली अलि, चाचा वृन्दावनदास, भागवत रसिक, हठी, सहचरिशरण, गुणमंजरीदास आदि कृष्ण-भक्ति की विभिन्न धाराओं के असंख्य कवियों में उल्लेख्य हैं।

यदि रामानन्द का मानववाद कबीर में मुखरित हुआ था, तो उन्हीं की शिष्य-परम्परा में

परिगणित होनेवाले तुलसीदास ने उनके शास्त्र तथा साहित्य-बोध को भक्ति और कवित्व के योग से उदात्त रूप प्रदान किया। उनका अवधी में रचित प्रबंध 'रामचरितमानस' उनकी श्रेष्ठ कृति है, किन्तु उन्होंने युग-प्रचलित अन्य काव्य-रूपों और भाषाओं में राम के अतिरिक्त कृष्ण पर भी, काव्य लिखकर, अपनी समन्वयवादिता और प्रतिभा का परिचय दिया है। तुलसी के वैदुष्य और कवित्व का अनुकरण संभव नहीं था, अतः रामावत वैष्णव कवि हुए तो अनेकानेक, किन्तु विशेष यश या महत्त्व नहीं प्राप्त कर सके। इनमें अग्रदास, नाभादास, प्रियादास, केशवदास उदयराम, प्राणचंद चौहान, लालदास, विश्वनाथसिंह, रामचरणदास, जीवाराम, बाल अली जू आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इनके बीच एक-मात्र केशवदास ही ऐसे कवि थे, जो तुलसी की तुलना में हीनतर होते हुए भी वे हिन्दी-साहित्येतिहास के अगले युग के आचार्य-कवियों के बीच, जिन्हें समय की दृष्टि से उन्होंने पूर्वाशित किया था, किसी से कम महत्त्व के नहीं हैं।

रामभक्ति

भक्ति की इस त्रिवेणी में एक और धारा आ मिली थी, जिसमें इस्लाम से भिन्न होते हुए भी उसका अंगभूत सूफी-मत प्रधान तत्त्व था, यद्यपि आख्यान, छंद, भाषा आदि के अन्य तत्त्व सर्वथा भारतीय थे। प्रेमाख्यान के व्याज से तसव्वुफ के सिद्धांतों को लोकप्रिय बनाने का यह प्रयास बड़ा ही व्यापक था। इस धारा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि, पद्मावत के प्रणेता जायसी के पूर्ववर्त्तियों में मुल्ला दाऊद, कुतबन, मंझन आदि और परवर्त्तियों में उस्मान, जानकवि, कासिमशाह, शेख निसार प्रभृति उल्लेख के योग्य हैं। धरणीदास और दुखहरन-जैसे संतों ने भी कुछेक प्रेमाख्यानमूलक काव्यों की रचना की है। इस युग में एक और प्रकार के प्रेमाख्यान की भी परंपरा प्रचलित थी, जिसमें लौकिक प्रेम का ही वर्णन पाया जाता है। इस श्रेणी के प्रतिनिधि कवि हैं कुशललाभ, छीहल कवि, सुमति हंस, निगम कायस्थ, मुरली, हरसेवकमिश्र, भद्रसेन, प्रताप कुँवर, काशीराम आदि।

सूफियों की प्रेमाश्रयी धारा

यों तो, भक्ति की विभिन्न धाराओं से प्रभावित साहित्य का निर्माण बाद में भी होता रहा, किन्तु सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हम हिन्दी को धर्म, दर्शन, भक्ति या वीर-चरित के वर्णन के अतिरिक्त शुद्ध साहित्य का माध्यम बनने के लिए सचेष्ट पाते हैं। इस युग के कवि भी 'राधिका-गोविन्द' का 'सुमिरन' करके ही काव्य की रचना में प्रवृत्त होते हैं— वस्तुतः साधारणतया ये ही उनके काव्य के आलंबन हैं—किन्तु उनकी महत्त्वाकांक्षा यह अवश्य है कि 'आगे के सुकवि' उनकी 'कविताई' पर रीझें। हिन्दी अब इतनी समृद्ध हो चुकी थी कि 'शिवेतरक्षति' के अतिरिक्त यश और अर्थ की भी कामना उसके कवि कर सकते थे। इस युग में हिन्दी के कवियों ने संस्कृत के विशाल साहित्य-शास्त्र का सारसर्वस्व तो प्रस्तुत किया ही, साथ-ही-साथ, उदाहरणों के रूप में, असंख्य चमत्कारपूर्ण पद्य भी रचे। एक साथ ही आचार्य और कवि के कर्त्तव्यों के सफल निर्वाह के लिए सचेष्ट इन कवियों के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि इसकी परंपरा संस्कृत में भी थी और इस युग के आरम्भ के कुछ पूर्व कविराज जगन्नाथ के द्वारा वह पराकाष्ठा को पहुँचाई जा चुकी थी, जिनका दावा था कि

रीतिकाल

'कस्तूरिका-जनन-शक्ति से संपन्न मृग सुमनों की सुगंध का सेवन मन से नहीं कर सकता' और इसीलिए जिन्होंने रसगंगाधर में स्व-रचित उदाहरण ही दिये थे। अन्य भारतीय भाषाओं में भी, इस युग में, या कुछ पहले, कुछ बाद, साहित्य-शास्त्रविषयक कृतियाँ पाई जाती हैं, किन्तु साहित्य-क्षेत्र में हिन्दी को संस्कृत का समकक्ष तथा स्वयं पूर्ण बनाने का यह प्रयास प्रकारतः एवं परिमाणतः विलक्षण था।

यों तो भक्तिकाल में ही केशवदास, रहीम, नन्ददास, सेनापति, कृपाराम प्रभृति ने साहित्य-रीतिविषयक काव्य के प्रणयन का आरम्भ कर दिया था, किन्तु समय तथा प्रवृत्ति दोनों ही दृष्टियों से रीति-काल के प्रतिनिधि कवि हैं चिंतामणि, भूषण, मतिराम, जसवंत सिंह बिहारी, मंडन, भिखारीदास, कुलपति कालिदास, नेवाज, सुखदेव, श्रीधर, सूरति मिश्र, कवीन्द्र उदयनाथ; श्रीपति, देव, मणिलाल, गंजन, सोमनाथ, रूपसाहि, रतन कवि, जनराज, थान कवि, गुरुदीन, 'रसलीन', दूलह, बंदीजन बेनी, द्विजदेव, बेनी प्रवीन, पद्माकर, ग्वाल, बोधा, ठाकुर, प्रतापसाहि आदि। इन कवियों ने साहित्यांगों के संक्षिप्त लक्षण देते हुए—बिहारी प्रमुख अपवाद हैं—उनके स्व-रचित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। चूंकि प्रायः सभी कवियों ने रस में शृंगार को ही विशेष महत्त्व दिया है—भूषण प्रसिद्ध अपवाद हैं—अतः हिन्दी के कुछ साहित्येतिहासकार इस युग को शृंगार-काल कहना पसन्द कहते हैं। रीति-काल में, युग की प्रधान प्रवृत्तियों से अप्रभावित रहकर वृंद, बैताल, गिरिधर कविराय आदि ने नीति और उपदेश की लोकप्रिय रचनाएँ कीं तथा पुहकर, लालकवि, जोधराज, सूदन, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, महाराज विश्वनाथसिंह आदि ने प्रबन्ध-काव्यों का निर्माण किया।

ब्रजभाषा में साहित्य-रीतिविषयक तथा शृंगार-रसप्रधान काव्य की रचना बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक होती रही, किन्तु उसका उत्कर्ष-काल अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक आधुनिक काल ही माना जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के कुछ पूर्व से प्राग्भारतेंदु-युग ही हिन्दी, पद्य की भाषा के रूप में पुष्ट और विकसित हो लेने के बाद, गद्य की भाषा के रूप में भी समृद्ध होने को सचेष्ट दीख पड़ती है। मैथिली, राजस्थानी, गोरखपंथी, ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली गद्य की जो अपरिणत गद्य-परंपराएँ वर्तमान थीं, उनमें से अंतिम ही सर्वाधिक व्यापक और सक्षम सिद्ध हुई और स्वतन्त्र रूप से तथा विदेशी शासन का प्रश्रय पाकर वह शीघ्र ही सर्वाङ्गपूर्ण बन गई। खड़ी बोली के प्रारंभिक गद्य-लेखकों में अट्ठारहवीं शताब्दी के रामप्रसाद निरंजनी और दौलतराम तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में इंशाअल्ला खाँ, सदासुखलाल, लल्लूलाल तथा सदलमिश्र और राजा राममोहन राय महत्त्वपूर्ण हैं। विदेशी शासकों ने फोर्ट विलियम कॉलेज, आगरा-कॉलेज, कलकत्ता बुक-सोसायटी तथा पादरियों के माध्यम से हिन्दी के विकास में योगदान किया तो अवश्य, किन्तु बाद में हिन्दी-उर्दू का जो विवाद इतना जटिल बन गया, उसका सूत्रपात भी इन्होंने ही किया। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही उदंतमार्तण्ड, बंगदूत, प्रजामित्र, बनारस, मार्त्तण्ड आदि समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे थे, जिनके कारण हिन्दी-गद्य का द्रुत विकास संभव हो सका। सन् १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह के बाद शिक्षालयों तथा न्यायालयों के माध्यम के रूप में हिन्दी को अपेक्षित स्थान नहीं मिला और

उसे बहुत दिनों तक राज्याश्रय से वंचित रहकर अपनी प्राणवत्ता और उपादेयता बढ़ानी पड़ी।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारंभ में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनमें प्रथम ने हिन्दी-गद्य को उर्दू से अभिन्न सिद्ध करने के प्रयत्न में उसे कृत्रिम और विकलांग बना डाला, किंतु दूसरे ने उसका प्रकृत और शोभन रूप प्रदर्शित किया। इनके साथ-ही-साथ ब्राह्मसमाजी नवीनचंद्र राय, श्रद्धाराम फुल्लौरी, आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द आदि तथा अनेक समाचार-पत्रों ने हिन्दी के प्रचार तथा उसके गद्य के परिमार्जन में योग दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी-गद्य को भारतेन्दु ने अपने नाटकों, निबंधों, टिप्पणियों आदि के लिए प्रयुक्त कर उसे उच्च साहित्यिक स्तर पर उन्नीत किया।

प्राग्भारतेंदु-युग हिन्दी-गद्य की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है; काव्य के क्षेत्र में रीतिकाल प्रलंबित था। ऐसा काव्य अमर्यादित शृंगार, सस्ती चमत्कारिता, विषय के पिष्ट-पेषण और कृत्रिम शब्दावली के कारण प्राचीनता-प्रेमियों का प्रश्रय पाकर भी आखिरी साँस ले रही थी।

भारतेंदु-युग

भारतेंदु ने अपनी बहुपथीन मतिमत्ता और असाधारण व्यक्तित्व से अनेक मेधावी साहित्यकारों का अनौपचारिक संघटन किया और रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक साहित्यिक पत्रिकाओं एवं सामाजिक चेतना से युक्त काव्य, नाटक, उपन्यास, लघु-कथा, निबंध आदि के प्रकाशन की प्रेरणा देकर हिन्दी के आधुनिक साहित्य को सर्वाङ्गपूर्ण बनाया। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह, बदरीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास, अम्बिकादत्त व्यास, सुधाकर द्विवेदी, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, बाबू सीताराम, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि भारतेंदु-युग के प्रसिद्ध लेखक हैं।

भारतेंदु-युग में हिन्दी का विकास तो हुआ ही, प्रसार भी अत्यधिक हुआ। फलतः, भाषा में अव्यवस्था आ गई और पद्य के लिए व्रजभाषा तथा गद्य के लिए खड़ी बोली के प्रयोग से जो समस्या बनी हुई थी, उसका समाधान भी न हो सका। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९०३ ई० में 'सरस्वती' के संपादन के आरंभ से ही दृढतापूर्वक हिन्दी की इन त्रुटियों का मार्जन शुरू किया और उन्हें इस कार्य में पूरी सफलता भी मिली।

द्विवेदी-युग

इस युग में खड़ी बोली में काव्य-रचना करनेवालों में अग्रगण्य थे श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', स्वयं द्विवेदीजी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी, मुकटधर पांडेय आदि। राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शर्मा 'शंकर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सत्यनारायण 'कविरत्न', लाला भगवान दीन, जगन्नाथदास रत्नाकर, रघुवीर नारायण प्रभृति कवि भी इस युग में वर्त्तमान थे, यद्यपि इनमें से कम-से-कम दो, 'रत्नाकर' और सत्यनारायण, भक्ति तथा रीति-काव्य की काव्य-शैलियों के अन्तिम उल्लेखनीय कवि माने जा सकते हैं, और शेष प्राचीन तथा नवीन शैलियों के प्रति द्विधा-विभक्त आस्था रखनेवाले कवि।

इस युग में नाटकों का विशेष विकास नहीं हुआ। अधिकतर संस्कृत, बंगला और अँगरेजी के प्रसिद्ध नाटक ही अनूदित हुए। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर 'प्रसाद', प्रेमचंद,

सुदर्शन और कौशिक ने इन्हीं दिनों उत्कृष्ट मौलिक कहानियाँ लिखीं और प्रेमचंद के कुछ उपन्यास भी प्रकाशित हुए।

द्विवेदी-युग साहित्य तथा साहित्येतर विषयों पर लिखनेवाले जिन विद्वानों की कृतियों के कारण विशेष महत्त्व का अधिकारी है, उनमें मुख्य हैं—रामावतार शर्मा, काशीप्रसाद जायसवाल, बालमुकुन्द गुप्त, देवीप्रसाद 'पूर्ण', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवान दीन, मिश्रबंधु आदि।

हिन्दी-साहित्य के वर्त्तमान काल का आरंभ द्विवेदीजी के प्रभाव की समाप्ति के साथ माना जा सकता है। इस काल में हिन्दी का विस्मयजनक विकास हुआ है। बँगला के

वर्त्तमान काल

रवीन्द्रनाथ तथा अँगरेजी के रोमानी कवियों एवं भारतीय दर्शन तथा संस्कृत-हिन्दी के प्राचीन काव्यों से प्रेरणा पाकर जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', जानकीवल्लभ शास्त्री ने ऐसा काव्य लिखा, जिसे छायावादी-रहस्यवादी काव्य के नाम से अभिहित किया गया। इसी अवधि में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर' प्रभृति ने राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित ओज.पूर्ण कविताएँ भी लिखीं। हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम से मार्क्सवाद से प्रभावित काव्य भी रचा गया है और प्रयोगवाद तथा प्रपद्यवाद के अभिधान से ख्यापित उसकी आधुनिक कविता-मात्र की आधुनिक प्रवृत्तियाँ हैं।

इस अवधि में 'प्रसाद' से प्रारंभ होनेवाली हिन्दी की आधुनिक नाट्य-परंपरा कृपानाथ मिश्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रामवृक्ष बेनीपुरी और जगदीशचंद्र माथुर के नाटकों में परिपूर्णता प्राप्त कर रही है। प्रेमचंद, 'प्रसाद', व्रजनन्दन सहाय, 'उग्र', शिवपूजन सहाय, राधिकारमणप्रसाद सिंह, जैनेन्द्र, वृंदावनलाल वर्मा 'अज्ञेय', यशपाल, प्रभृति हिन्दी के वर्त्तमान युग के महनीय उपन्यासकार और कथाकार हैं।

मध्य-शताब्दी के हिन्दी-साहित्य ने साहित्यालोचक तथा शोध के क्षेत्रों में इयत्तया और ईदृक्तया विलक्षण प्रगति की है। बड़थ्वाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, माताप्रसाद गुप्त, नगेन्द्र आदि ने शोध-कर्त्ताओं के रूप में और लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, केसरीकुमार, जानकीवल्लभ शास्त्री, नरेश तथा जगदीश पाण्डेय ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में यश अर्जित किया है।

हिन्दी-साहित्य जहाँ स्वतंत्र सरणियों पर अग्रसर हो रहा है, वहीं उसने भारतीय तथा विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों के अनुवादों से अपना भाण्डार समृद्ध किया है और इस दिशा में अधिकाधिक कार्य हो रहा है। इस दृष्टि से वह अँगरेजी से तुलनीय है, जिसमें जहाँ से, जो भी अच्छा मिल जाता है, उसे आदर के साथ ग्रहण करने की असाधारण रुचि पाई जाती है।

—नलिनविलोचन शर्मा

◉

निबन्धकार-परिचय

१. पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत

श्रीसारस्वतजी का जन्म फाल्गुन-शुक्ल चतुर्दशी (संवत् १९६०), तदनुसार १२ मार्च (सन् १९०३ ई०) को काशी में हुआ। आपके पितामह पं० नित्यानन्दजी मीमांसक काशी के प्रसिद्ध मीमांसक और वेदान्ती थे। आपके पिता पं० पद्मनाभ शास्त्री भारत-प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् हुए।



सारस्वतजी का मुख्य विषय साहित्य और दर्शन रहा। दर्शनशास्त्र का अध्ययन तो आपने अपने पिता और पितामह से किया; पर साहित्य का अध्ययन महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा, डॉ० प्रमथनाथ भट्टाचार्य तर्कभूषण तथा महामहोपाध्याय पंडित देवीप्रसाद शुक्ल कविचक्रवर्त्ती से किया।

सन् १९२१ ई० में आपने असहयोग-आंदोलन के कारण विश्वविद्यालय का अध्ययन छोड़कर संस्कृत-छात्र-समिति का संघटन किया तथा आन्दोलन में भाग लिया। आपने सन् १९२३ ई० से हिन्दू-विश्व-विद्यालय की 'रणवीर संस्कृत-पाठशाला' में अध्यापन-कार्य आरम्भ किया। इसके पश्चात् संस्कृत-साहित्य-समाज, काशी-विद्वन्मण्डल आदि संस्थाओं की आपने स्थापना की और काशी से प्रकाशित होनेवाले अस्तङ्गत 'सुप्रभातम्' नामक संस्कृत मासिक पत्र का दस-पन्द्रह वर्षों तक सम्पादन किया। 'सनातनधर्मोदय' हिन्दी पाक्षिक पत्र तथा 'जगद्गुरु' नामक पाक्षिक पत्र का भी आपने सम्पादन किया था।

आयुर्वेद का अध्ययन आपने स्वतन्त्र रूप से किया था। आपने 'आयुर्वेद-सम्मेलन-पत्रिका', 'वनौषधि', 'आयुर्वेद' आदि पत्रों तथा 'रसायनसार', 'नाड़ीतत्त्वदर्शन' आदि ग्रन्थों का सम्पादन किया था। काशी राजकीय संस्कृत-महाविद्यालय की शोध-पत्रिका, 'सरस्वती-सुषमा' का भी आपने सम्पादन किया था। राजशेखर-कृत 'काव्यमीमांसा' तथा 'कथासरित्सागर' (२ खण्ड) का आपने हिन्दी-अनुवाद किया था, जो बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित हैं।

आपने देश-विभाजन के बाद राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के साथ अखिलभारतीय संस्कृति-सम्मेलन की स्थापना की थी। उक्त सम्मेलन की त्रैमासिक पत्रिका 'भारतीय संस्कृति' के आप प्रधान सम्पादक रहे। इधर आपने ४० वर्षों की प्राचीन संस्था, अखिलभारतीय संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन' के संचालन का कार्य अपने हाथों में लिया था। आप उसके महामन्त्री थे और उसके मुखपत्र 'संस्कृत-रत्नाकर' के सम्पादक भी रहे। सन् १९५९ ई० के ५ दिसम्बर को आपका काशीवास हो गया।

◉

२. श्री एम्० सुब्रह्मण्यम्, साहित्यरत्न

आपका जन्म दक्षिणी-स्मार्त ब्राह्मण-परिवार में १८ अगस्त (सन् १९१८ ई०) को हुआ था। पिता तंजावूर जिले (मद्रास) के 'मरुवूर' गाँव के निवासी थे और अध्यापन-कार्य करते थे। आपकी सामान्य शिक्षा मद्रास-विश्वविद्यालय की इण्टरमीडियेट कक्षा तक हुई। आपने 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा' द्वारा संचालित हिन्दी-विद्यालयों में अध्ययन किया और उक्त सभा की उच्चतम परीक्षा 'राष्ट्रभाषा-प्रवीण' तथा 'प्रचारक-परीक्षा' में उत्तीर्ण हुए। आपने कुछ महीने स्वतन्त्र रूप से हिन्दी-प्रचार और कुछ महीने अखिलभारतीय चरखा-संघ में खादी-प्रचार का काम किया। तत्पश्चात् १ दिसम्बर, १९४१ ई० से दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा की शाखा, तमिलनाडु-हिन्दी-प्रचार सभा (तिरुचिरापल्ली) के कार्यकर्त्ता नियुक्त हुए। करूर, तिरुची आदि स्थानों में हिन्दी-प्रचार करने के पश्चात् 'नीलगिरि' के विशारद-विद्यालय और तिरुची तथा तिरुवनन्त-पुरम्-प्रशिक्षण-विद्यालय, में सन् १९४६ ई० से १९५१ ई० तक कार्य किया। बाद में आप डालमिया-छात्रवृत्ति से लाभ उठाकर हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने आगरा गये और साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) की साहित्यरत्न-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

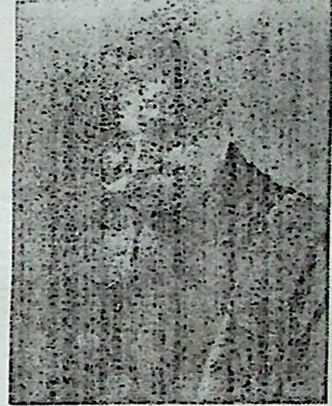


पश्चात्, आपने अखिलभारतीय हिन्दी-परिषद् की ओर से आगरा में संचालित पारंगत-विद्यालय में लगभग दो वर्ष तक व्यवस्थापक और अध्यापक का कार्य किया। कुछ दिन संगठनकर्त्ता के रूप में कटक (उड़ीसा) के हिन्दी-प्रशिक्षण-शिविर के संचालक रहे। मणिपुर (असम) के प्रशिक्षण-शिविर में भी कुछ दिनों तक पढ़ाने का कार्य किया। इसके अतिरिक्त 'नवभारत टाइम्स' (बम्बई), साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' (दिल्ली), 'साहित्य-सन्देश' (आगरा), 'राष्ट्रभाषा-पत्र' (उड़ीसा), 'हिन्दी-प्रचार-समाचार' (मद्रास), 'दक्षिण भारत' (दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा का पत्र) आदि में आपके साहित्यिक और हिन्दी-प्रचार-सम्बन्धी लेख और अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। आपने हिन्दी से तमिल में अनुवाद करने की अपेक्षा तमिल से हिन्दी में अनुवाद करने के कार्य को अधिक पसन्द किया है और करते आ रहे हैं।

⊙

३. डॉक्टर जी० वी० सीतापति

आप सन् १९११ ई० से १९३२ ई० तक अध्यापक थे। सन् १९३१-३२ ई० में



आन्ध्र-विश्वविद्यालय की ओर से आदिवासियों के लोकगीतों की स्वर-लिपि के सम्बन्ध में खोज करते रहे। सन् १९३३ ई० में, तेलुगु-भाषा के प्रतिनिधि होकर लन्दन की पार्लमेण्टरी कमिटी के समक्ष जो शिष्टमण्डल गया था, उसके साथ आप भी गये थे। सन् १९४० ई० में तेलुगु मासिक पत्रिका 'भारती' के आप सम्पादक थे। आप तेलुगु-विश्वकोप के प्रमुख संकलनकर्त्ता एवं सम्पादक भी थे। 'स्वरगान', 'भारती-शतकम्', 'बालनन्दम्' आदि ग्रन्थों के आप यशस्वी रचयिता हैं। आप तेलुगु और संस्कृत-भाषा के वयोवृद्ध विद्वान् हैं।



४. श्रीसिद्वन हल्लीकृष्ण शर्मा*

श्रीसिद्वन हल्लीकृष्ण शर्मा कन्नड-भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आप 'कन्नड-साहित्य-परिषद्' के मन्त्री एवं गांधी-साहित्य-संघ के अध्यक्ष रह चुके हैं। आप गांधीवाद एवं सर्वोदयवाद के अन्यतम समर्थकों में हैं। आप 'कन्नड-हरिजन', 'कन्नड-सर्वोदय', 'कन्नड-भूदान', दैनिक एवं सप्ताहिक 'विश्वकर्नाटक' आदि पत्र-पत्रिकाओं का संपादन कर चुके हैं। गांधीवाद और सर्वोदय-साहित्य के प्रति आपकी विशेष आस्था रही है। आपने 'मैसूर गांधी-निधि' के संचालन का कार्य भी सफलतापूर्वक सँभाला है।

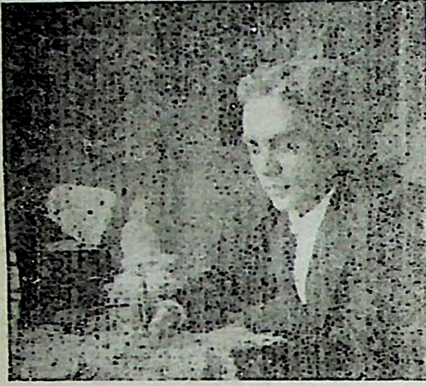


---

*बहुत प्रयत्न करने पर भी आपका विशेष परिचय और चित्र नहीं उपलब्ध हो सका।

७. प्रोफेसर अरविन्द मंगरुलकर

बम्बई-विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा में, संस्कृत में, सर्वप्रथम होने के कारण, प्रथम श्रेणी की जगन्नाथशंकर सेठ-संस्कृत-छात्रवृत्ति प्राप्त की। पुनः उसी विश्वविद्यालय से बी० ए० की संस्कृत-परीक्षा में, सर्वोच्च श्रेणी का सम्मान (ऑनर्स) प्राप्त करने के कारण 'भाऊ-दाजी-पारितोषिक' पाया। बाद में सर परशुराम भाऊ-कॉलेज में संस्कृत-अर्द्धमागधी-विभाग के अध्यक्ष एवं अध्यापक। पूना-नगर में संस्कृत के सर्वोत्तम अध्यापकों में प्रसिद्ध एवं यशस्वी। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के सर्वाङ्गसुन्दर संस्करण के सम्पादक। महाराष्ट्र की प्रतिष्ठित शिक्षा-संस्थाओं में विख्यात 'शिक्षण-प्रसारक मंडली' के आजीवन सदस्य। 'आजीवन-सदस्य-संघ' के मंत्री और उक्त 'मंडली' के सहमंत्री। मराठी-भाषा-साहित्य की केन्द्रीय संस्था 'महाराष्ट्र साहित्य-परिषद्' के भी मंत्री। प्राचीन भारतीय पद्धति के संगीत के उद्भट मर्मज्ञ एवं समीक्षक के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध। प्राचीन रीति के भारतीय संगीत की संश्लेषणात्मक-विश्लेषणात्मक प्रणाली के आलोचन-विलोचन में विशेष लब्धकीर्त्ति। प्राचीन संगीत में सौन्दर्य-निरूपण कर साहित्यिक मधुरिमा प्रदर्शित की।



◉

८. स्व० रायबहादुर आर्त्तवल्लभ महन्ती

बाल्यावस्था से ही आपकी प्रवृत्ति धर्म की ओर रही। छात्रावस्था से ही साधु-महात्माओं के सत्संग के अनुरागी। सन् १९१४ ई० में ही एम्० ए० पास कर कटक के रॉवेन्शॉ-कॉलेज में संस्कृत और उत्कल के प्राध्यापक। आपने 'प्राचीन समिति' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य साहित्य के प्रतिभाशाली विद्वानों के विषय में सर्वसाधारण में प्रचार करना था। सन् १९४८ ई० में, अवकाश ग्रहण करने पर, आपने अपनी ५३ प्रकाशित पुस्तकों का प्रकाशनाधिकार उत्कल-विश्वविद्यालय को अर्पित कर दिया। अपने संग्रह किये हुए तालपत्र-लिखित लगभग ५०० प्राचीन ग्रंथ भी आपने उत्कल-विश्वविद्यालय को दे दिये। आपने अनेक शिक्षण-संस्थाओं और साहित्यिक समितियों का संस्थापन एवं संचालन किया। 'उत्कल-साहित्य-समाज' के सभापति। उत्कल-विश्वविद्यालय के



साहित्य-विभाग (आर्ट्‌स) के आर 'डीन' (दशर) तथा संस्कृत-एसोसिएशन के मान्य सदस्य।



६. श्रीरेवतीरंजन सिन्हा

श्रीरेवतीरंजन सिन्हा का जन्म, वंगीय कायस्थ-परिवार में सन् १९२० ई० में, २ सितम्बर को हुआ था। आपका आदि-निवासस्थान मुर्शिदाबाद जिले के 'कान्दी' तहसील में 'वेले' गाँव है। वहाँ से आपके पूर्व-पुरुष दिनाजपुर चले गये थे। आपके पितामह स्व० मनोहर सिन्हा व्रजधाम-प्राप्ति के लिए बंगाल छोड़कर वृन्दावन जाकर वैष्णव भक्त हो गये थे। उनका प्रभाव शिशु रेवतीरंजन पर पड़ा तथा तुलसीदास, सूरदास, मीराँ आदि सन्त-कवियों की पीयूष-धारा से जैसे-जैसे आपके पितामह अपने को तृप्त करते थे, वैसे-वैसे अपने पौत्र को भी आकृष्ट करते जाते। शिशु-काल के इस वातावरण का परिणाम यह निकला कि आपका अनुराग हिन्दी के प्रति बढ़ता गया और अध्ययन-काल में आपके हिन्दी के अध्ययन का क्रम भी चलता रहा।



आर्थिक दुरवस्था तथा अवरोधों के कारण किसी एक स्थान पर आपकी नियमित पढ़ाई न हो सकी ; फलतः बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली आदि प्रदेशों के विभिन्न स्थानों में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। इससे मातृभाषा बंगला के साथ-साथ हिन्दी-ज्ञान भी पुष्ट होने लगा। उस शैशव का संस्कार इतना दृढ हुआ कि आप हिन्दी-ऑनर्स, साहित्यरत्न आदि की परीक्षाओं में स-सम्मान उत्तीर्ण हुए। कलकत्ता-विश्वविद्यालय की आइ० ए० परीक्षा में, हिन्दी के विशेष प्रश्न-पत्र में, आपने ८५ प्रतिशत अंक पाये थे। आज आप एकान्त-भाव से हिन्दी-सेवा में ही संलग्न हैं। हिन्दी-प्रचार तथा प्रसार के क्षेत्र में आप पिछले अनेक वर्षों से लगे हुए हैं। छात्रावस्था से ही विशेष रुचि के साथ आप राष्ट्रभाषा के प्रचार का कार्य करते आ रहे हैं। इस समय 'पश्चिम वंग-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति' (कलकत्ता) के अवैतनिक मंत्री तथा 'राष्ट्रभाषा-प्रचार-

५. श्री पी० वी० कृष्णन नायर

श्री पी० वी० कृष्णन नायर का जन्म, जगद्गुरु शंकराचार्य की पवित्र जन्मभूमि 'कालडी' के निकट एक ग्राम में, सन् १९१० ई० में, हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद



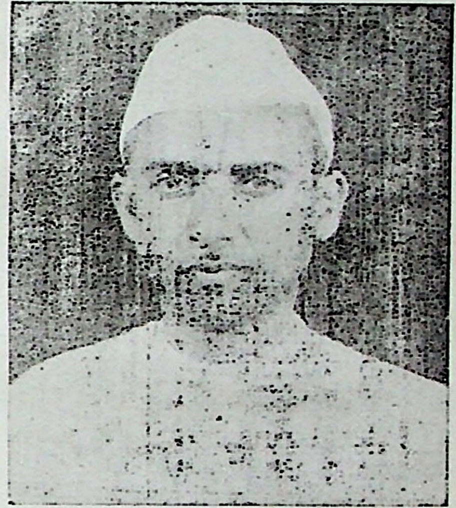
आपने ग्यारह वर्षों तक संस्कृत-साहित्य और व्याकरण का विधिवत् अध्ययन किया। अपनी तीव्र प्रतिभा के कारण आपने त्रिवेन्द्रम् के महाराजा संस्कृत-कॉलेज से 'महोपाध्याय' की उपाधि प्राप्त की और 'कोचीन-शिक्षा-सेवा' में भाषा-अध्यापक के रूप में प्रविष्ट हुए। आपने सन् १९३८ ई० में, मद्रास-विश्वविद्यालय के ओरियण्टल अनुसंधान-विभाग में रिसर्च-स्कॉलर होकर प्रवेश किया। इसके बाद आपने मद्रास-विश्वविद्यालय से मलयाला लेकर एम्० ए० की परीक्षा पास की। सन् १९४० ई० में 'एर्नाकुलम्' के महाराजा-कॉलेज में पूर्वीय भाषाओं के अध्यापक नियुक्त हुए।

आपने अपना साहित्यिक जीवन, मलयाला-भाषा में कविता, छोटी कहानी और जीवनी के लेखक के रूप में आरम्भ किया। किन्तु, आगे चलकर आप मलयाला के निबन्धकार और एकांकीकार के रूप में प्रसिद्ध हुए, जिसके फलस्वरूप आपका एकांकी-नाटकों का संग्रह 'समागम' प्रकाशित हुआ।

◉

६. प्रोफेसर केशवराम काशीराम शास्त्री

विक्रम-संवत् १९६२ में, श्रावण-कृष्ण एकादशी (२८ जुलाई, सन् १९०५ ई०) को सौराष्ट्र-प्रान्त के माँगरोल नगर में जन्म। घर पर ही शिक्षा-दीक्षा का श्रीगणेश। पिता संस्कृत के विद्वान्। उन्हीं से संस्कृत-व्याकरण, पंचकाव्य-नाटकादि, भागवतपुराण, वल्लभवेदांत-ग्रंथ, अणुभाष्यादि का अध्ययन। अध्यापन-काल में पालि-प्राकृत-अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती, व्रजभाषा एवं भाषाशास्त्र का स्वतंत्र रूप से अध्ययन। बम्बई-विश्वविद्यालय से प्रवेशिका-परीक्षोत्तीर्ण। विभिन्न पाठशालाओं में लगभग तीन साल तक अध्यापक। वल्लभाचार्य के ध्यान के 'सौन्दर्य-पद' की संस्कृत-टीका का संपादन और गुर्जरानुवाद का प्रकाशन। गुजराती-पिंगल 'वृत्तमंजरी' के संपादक। 'अमरकोश' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के गुजराती अनुवादक। गुजराती उच्चारण के बारे में विशिष्ट शोध। गुजराती-लिपि में संशोधन और

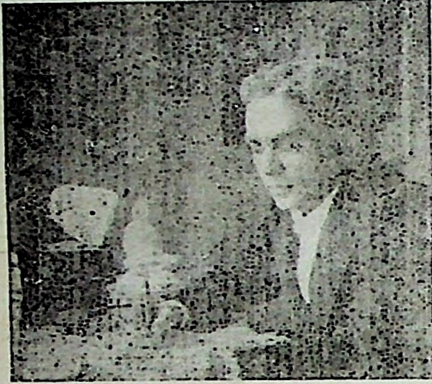


राष्ट्रलिपि का संस्करण। प्राचीन गुजराती के वल्लभाख्यान एवं महाभारत के पर्वों के संपादन में जीवन के इक्कीस वर्ष लगाये, जो अब प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९३७ ई० में गुजराती-भाषा के हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों की पत्री तैयार करने के लिए अहमदाबाद की 'गुजरात-विद्या-सभा' में नियुक्ति। सन् १९३८ ई० में 'कविचरित' लिखा—प्रथम खंड सम्पूर्ण प्रकाशित, द्वितीय खंड के दो भाग छपे। 'आपणा कवियो' का पहला खंड 'अपभ्रंश साहित्य का इतिहास' तैयार किया। उक्त विद्यालय में क्यूरेटर के पद पर नियुक्ति। लगभग पचास छोटे-मोटे ग्रंथ प्रकाशित। उल्लेख्य महत्त्वपूर्ण कार्य : गुजराती-भाषा का व्युत्पत्ति-कोश, गुजराती-भाषाशास्त्र, प्रेमानन्द : एक अध्ययन, नरसिंह मेहता : एक अध्ययन तथा प्रेमानन्द के काव्यों का शास्त्रीय संपादन आदि। यद्यपि कॉलेज की शिक्षा नहीं पाई, तथापि सतत विद्या-व्यासंग, विशिष्ट अनुसंधान (रिसर्च), गंभीर स्वाध्याय एवं निरंतर अध्यापन-कार्य के कारण बम्बई तथा गुजरात के विश्वविद्यालयों में एम्० ए० के छात्रों के लिए गुजराती-भाषा-साहित्य के युनिवर्सिटी-प्रोफेसर नियुक्त। एस्० एन्० डी० टी० युनिवर्सिटी, युनिवर्सिटी ऑफ वीमेन की ओर से भी एम्० ए० की छात्राओं के लिए युनिवर्सिटी-टीचर नियुक्त। बम्बई-सरकार द्वारा संघटित नागरी-लिपि-संशोधन-समिति के सदस्य। नागरी-लिपि-सुधार के कार्य में बीस वर्षों से अनवरत संलग्न। परम वैष्णव।

◉

७. प्रोफेसर अरविन्द मंगरुलकर

बम्बई-विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा में, संस्कृत में, सर्वप्रथम होने के कारण, प्रथम श्रेणी की जगन्नाथशंकर सेठ-संस्कृत-छात्रवृत्ति प्राप्त की। पुनः उसी विश्वविद्यालय से बी० ए० की संस्कृत-परीक्षा में, सर्वोच्च श्रेणी का सम्मान (ऑनर्स) प्राप्त करने के कारण 'भाऊ-दाजी-पारितोषिक' पाया। बाद में सर परशुराम भाऊ-कॉलेज में संस्कृत-अर्द्धमागधी-विभाग के अध्यक्ष एवं अध्यापक। पूना-नगर में संस्कृत के सर्वोत्तम अध्यापकों में प्रसिद्ध एवं यशस्वी। कलिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के सर्वाङ्गसुन्दर संस्करण के सम्पादक। महाराष्ट्र की प्रतिष्ठित शिक्षा-संस्थाओं में विख्यात 'शिक्षण-प्रसारक मंडली' के आजीवन सदस्य। 'आजीवन-सदस्य-संघ' के मंत्री और उक्त 'मंडली' के सहमंत्री। मराठी-भाषा-साहित्य की केन्द्रीय संस्था 'महाराष्ट्र साहित्य-परिषद्' के भी मंत्री। प्राचीन भारतीय पद्धति के संगीत के उद्भट मर्मज्ञ एवं समीक्षक के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध। प्राचीन रीति के भारतीय संगीत की संश्लेषणात्मक-विश्लेषणात्मक प्रणाली के आलोचन-विलोचन में विशेष लब्धकीर्त्ति। प्राचीन संगीत में सौन्दर्य-निरूपण कर साहित्यिक मधुरिमा प्रदर्शित की।



◎

८. स्व० रायबहादुर आर्त्तवल्लभ महन्ती

बाल्यावस्था से ही आपकी प्रवृत्ति धर्म की ओर रही। छात्रावस्था से ही साधु-महात्माओं के सत्संग के अनुरागी। सन् १९१४ ई० में ही एम्० ए० पास कर कटक के रॉवेन्शॉ-कॉलेज में संस्कृत और उत्कल के प्राध्यापक। आपने 'प्राचीन समिति' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य साहित्य के प्रतिभाशाली विद्वानों के विषय में सर्वसाधारण में प्रचार करना था। सन् १९४८ ई० में, अवकाश ग्रहण करने पर, आपने अपनी ५३ प्रकाशित पुस्तकों का प्रकाशनाधिकार उत्कल-विश्वविद्यालय को अर्पित कर दिया। अपने संग्रह किये हुए तालपत्र-लिखित लगभग ५०० प्राचीन ग्रंथ भी आपने उत्कल-विश्वविद्यालय को दे दिये। आपने अनेक शिक्षण-संस्थाओं और साहित्यिक समितियों का संस्थापन एवं संचालन किया। 'उत्कल-साहित्य-समाज' के सभापति। उत्कल-विश्वविद्यालय के



साहित्य-विभाग (आर्ट्‌स) के भार 'डीन' (दशा) तथा संस्कृत-एसोसिएशन के मान्य सदस्य ।

◎

६. श्रीरेवतीरंजन सिन्हा

श्रीरेवतीरंजन सिन्हा का जन्म, बंगीय कायस्थ-परिवार में सन् १९२० ई० में, २ सितम्बर को हुआ था। आपका आदि-निवासस्थान मुर्शिदाबाद जिले के 'कान्दी' तहसील में 'वेले' गाँव है। वहाँ से आपके पूर्व-पुरुष दिनाजपुर चले गये थे। आपके पितामह स्व० मनोहर सिन्हा व्रजधाम-प्राप्ति के लिए बंगाल छोड़कर वृन्दावन जाकर वैष्णव भक्त हो गये थे। उनका प्रभाव शिशु रेवतीरंजन पर पड़ा तथा तुलसीदास, सूरदास, मीराँ आदि सन्त-कवियों की पीयूष-धारा से जैसे-जैसे आपके पितामह अपने को तृप्त करते थे, वैसे-वैसे अपने पौत्र को भी आकृष्ट करते जाते। शिशु-काल के इस वातावरण का परिणाम यह निकला कि आपका अनुराग हिन्दी के प्रति बढ़ता गया और अध्ययन-काल में आपके हिन्दी के अध्ययन का क्रम भी चलता रहा।



आर्थिक दुरवस्था तथा अवरोधों के कारण किसी एक स्थान पर आपकी नियमित पढ़ाई न हो सकी ; फलतः बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली आदि प्रदेशों के विभिन्न स्थानों में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। इससे मातृभाषा बंगला के साथ-साथ हिन्दी-ज्ञान भी पुष्ट होने लगा। उस शैशव का संस्कार इतना दृढ़ हुआ कि आप हिन्दी-ऑनर्स, साहित्यरत्न आदि की परीक्षाओं में स-सम्मान उत्तीर्ण हुए। कलकत्ता-विश्वविद्यालय की आइ० ए० परीक्षा में, हिन्दी के विशेष प्रश्न-पत्र में, आपने ८५ प्रतिशत अंक पाये थे। आज आप एकान्त-भाव से हिन्दी-सेवा में ही संलग्न हैं। हिन्दी-प्रचार तथा प्रसार के क्षेत्र में आप पिछले अनेक वर्षों से लगे हुए हैं। छात्रावस्था से ही विशेष रुचि के साथ आप राष्ट्रभाषा के प्रचार का कार्य करते आ रहे हैं। इस समय 'पश्चिम बंग-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति' (कलकत्ता) के अवैतनिक मंत्री तथा 'राष्ट्रभाषा-प्रचार-

समिति' (वर्धा) के प्रान्तीय संचालक हैं। बीच-बीच में आप स्कूलों, कॉलेजों और सरकारी संस्थाओं में नौकरियाँ करते रहे; पर राष्ट्रभाषा-प्रचार-कार्य के लिए बार-बार छुट्टी लेने और प्रवास में रहने के कारण अब आप इन नौकरियों से सदा के लिए मुक्त हो गये हैं।

हिन्दी तथा बँगला के विभिन्न पत्रों में आपके कितने ही निवंध आदि प्रकाशित हुए हैं। आपने बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें कई पुस्तकों के पाँच-पाँच संस्करण निकल चुके हैं। आपकी लिखी बँगला-माध्यम से हिन्दी सीखने की कई पुस्तकें बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं। वे पुस्तकें श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं, सम्पादकों, केन्द्रीय शिक्षा-विभाग तथा उच्च शिक्षित व्यक्तियों एवं विद्वानों की प्रशंसा प्राप्त कर चुकी हैं। कलकत्ता-आकाशवाणी द्वारा आप तीन वर्ष तक बँगला-माध्यम से हिन्दी सिखाने का कार्य सँभालते रहे। इस काम में आपने विशेष ख्याति अर्जित की। बँगला से हिन्दी तथा हिन्दी से बँगला-अनुवाद का कार्य भी सुन्दर रूप से करने का यश आपने प्राप्त किया है।

◎

१०. श्री छगनलाल जैन

असम राज्य के गुवाहाटी नगर से कुछ दूरी पर पलासवाड़ी एक छोटा-सा शहर है। यहीं श्रीछगनलाल जैन का जन्म-स्थान है। सन् १९२४ ई० में वसन्त-पंचमी को आपका जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम स्व० प्रेमसुख जैन है।



आपने अपनी पढ़ाई की ओर कदम बढ़ाया ही था कि आपके पिता चल बसे। आर्थिक कठिनाई ने स्कूल छोड़ने को मजबूर कर दिया। किन्तु, आपके चचेरे भाई श्रीगुलावचंद्र जी ने तिनसुकिया के हाइ स्कूल में आपका नाम लिखा दिया। सन् १९४१ ई० में आप मैट्रिक की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। गुवाहाटी के 'कटन कॉलेज' से आपने आइ० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। सन् १९४५ ई० में आपने अँगरेजी में ऑनर्स के साथ वी० ए० पास किया। आपने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से अँगरेजी में एम्० ए० की

उपाधि ली। कलकत्ता में आप ट्यूशन से अपनी पढ़ाई के खर्च का अधिकांश उपार्जित कर लेते थे। आपने कानून की परीक्षा गुवाहाटी-विश्वविद्यालय से पास की और सन् १९५२ ई० में असम-हाइकोर्ट के एक एडवोकेट बन गये।

आप मारवाड़ी-जाति के एक बड़े प्रसिद्ध समाजसुधारक हैं। जब आप पूर्वज्योति प्रेस के मालिक बने, तब आपने 'पूर्वज्योति' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। उसके द्वारा आपने समाजसुधार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। मैट्रिक से बी० ए० तक आपने असमीया-भाषा को ही मातृभाषा के रूप में पढ़ा था।

आपमें जितनी सामाजिक संस्कृति को परिपुष्ट करने की लगन है, उससे कहीं अधिक साहित्य-सेवा का ध्यान है। आप भावुक कवि भी हैं। आप नाटक, उपन्यास और कहानी आदि भी लिखते हैं। असमीया-भाषा में आपकी कई अच्छी रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। उनमें 'एटि प्रश्न' कहानी-संग्रह और 'संन्यास ने संसार' नाटक को लोगों ने बहुत पसंद किया है। असमीया-साहित्य में आपको ऊँचा स्थान प्राप्त है। इसके अलावा आप रेडियो-लेखक भी हैं।

हिन्दी में भी आपकी कई उत्तम रचनाएँ हैं। 'हसते-हँसते जीना', 'इन्सान की खोज', 'संघर्ष' आदि रचनाएँ हिन्दी-साहित्य के भाण्डार में अपनी जगह बनाने में समर्थ हैं।

आपने राष्ट्रभाषा-प्रचार में भी अपना अमूल्य समय देकर राष्ट्र की सेवा की है। स्व० प्रो० रंजन ने आपको राष्ट्रभाषा-प्रचार की प्रेरणा दी थी। आपने वर्धा-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति का संचालन भी बड़ी योग्यता से किया था। असम-राज्य में भी आपने चार-पाँच वर्षों तक इस दिशा में कठिन परिश्रम किया था। जब असम रा० भा० प्रचार-समिति के साथ वर्धा-समिति ने एकीकरण का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया, तब आप असम-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, गुवाहाटी के साहित्य-मंत्री चुने गये। अब भी आप इस पद को सुशोभित कर रहे हैं। आपने अनेक पुस्तकों का संपादन किया है। असम-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की परीक्षा और प्रचार-समितियों के आप भी सदस्य हैं। समिति के कार्यों में आपका मुख्य हाथ रहा है। समिति द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'राष्ट्रसेवक' के आप संपादक हैं। कई शिक्षण-संस्थाओं के आप मंत्री और सभापति भी हैं। आपके परिश्रम से ही 'हिन्दी-असमीया-शब्द-कोश' तैयार हुआ है।

◉

११. सरदार करतार सिंह दुग्गल

आपका जन्म पश्चिम पंजाब के रावलपिंडी जिले में सन् १९१७ ई० के मार्च महीने में हुआ। लाहौर के फार्मन क्रिश्चियन कॉलेज से आपने अँगरेजी में एम्० ए० पास किया। इसके बाद पंजाब-विश्वविद्यालय में 'पंजाब के लोक-साहित्य' पर दो वर्षों तक अनुसंधान किया। विद्यार्थी-जीवन में तो आपने केवल कविताएँ ही लिखीं। बाद में आपने उपन्यास, कहानी और नाटक लिखे। आप रेडियो के लिए रूपक लिखने में सिद्धहस्त हैं। साहित्य की प्रेरणा आपको अपने दो पितृव्यों से मिली थी।



पंजाबी-भाषा को दस पुस्तकें आपने लिखी हैं जो प्रकाशित हैं। हिन्दी के भी 'अमानिशा' और 'नया घर' नामक आपके दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपके पंजाबी-भाषा के दो उपन्यास 'नवतेमास', और 'आन्दरा' भी प्रकाशित हैं। हिन्दी के 'चील और चट्टान' एवं 'चोली-दामन' उपन्यास भी मुद्रित हैं। आपके लिखे छह नाटक भी पंजाबी में निकल चुके हैं और हिन्दी में 'मीठा पानी', 'पसन्द अपनी-अपनी' तथा 'शोर और संगीत' ये तीन नाटक भी प्रकशित हो चुके हैं। 'दिया बुझ गया' नामक आपका उर्दू-नाटक भी प्रकाशित है। आपकी लिखी 'कराडे कराडे' नामक एक कविता-पुस्तक भी पंजाबी में मुद्रित है। 'भगवांन और रेडियो' नामक आपकी लिखी कहानी सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। आप अत्यन्त मेधावी छात्र थे। जब छठी श्रेणी में पढ़ते थे, तभी अखिलभारतीय कवि-सम्मेलन में आप अपनी कविता के लिए पदक प्राप्त कर चुके थे। आजकल आप हैदराबाद (दक्षिण) के ऑल-इण्डिया रेडियो में कार्यक्रम-संचालक हैं।

◉

१२. प्रोफेसर पृथ्वीनाथ 'पुष्प'

जन्मस्थान : कश्मीर।

जन्म-तिथि : १६ नवम्बर, १९१७ ई०।

शिक्षा : बी० ए० (ऑनर्स); एम० ए०, हिन्दी-प्रभाकर; संस्कृतशास्त्री एम० ओ० एल०।

धन्धा : सन् १९४० ई० से जम्मू और कश्मीर-राज्य के विभिन्न कॉलेजों में हिन्दी तथा संस्कृत का अध्यापन।

व्यसन : तुकबन्दी; भाषाविज्ञान-परिशीलन; लोक-संस्कृति का अध्ययन; बाल-साहित्य का सर्जन।

आयोजन : साहित्य-संस्थाओं का प्रतिष्ठापन तथा संचालन।



सन् १९४६ ई० में कश्मीर के प्रथम हिन्दी साप्ताहिक 'चन्द्रोदय' के प्रधान सम्पादक।

सन् १९४८ ई० में जम्मू-रेडियो में कश्मीरी-प्रोग्राम का प्रारम्भिक संचालन; ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस के अधिवेशनों पर निबन्ध-पाठ।

सन् १९५१ ई० में भारत-सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विश्वविद्यालय हिन्दी-प्राध्यापक-सम्मेलन (दिल्ली) में जम्मू और कश्मीर-विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व।

सन् १९५३ ई० में भारतीय संविधान की कश्मीरी-अनुवाद-समिति की सदस्यता।

सन् १९५५-५६ ई० में राजभाषा-आयोग की सदस्यता।

सन् १९५५ ई० में आकाशवाणी-समारोह (दिल्ली) में कश्मीरी का प्रतिनिधित्व।

सन् १९५६ ई० से साहित्य-अकादेमी, कश्मीरी-परामर्श-समिति की सदस्यता।

सन् १९५७ ई० में 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑव इण्डिया' की कार्यकारिणी की सदस्यता।

शोध-कार्य—क. कश्मीर की प्राचीन संस्कृति, ख. कश्मीर में संस्कृत-साहित्य का विकास, ग. कश्मीरी लोकगीत और लोकक्तियाँ, घ. कश्मीरी-भाषा और साहित्य, ङ. आधुनिक हिन्दी-कविता में मानव-दर्शन।

रचना—क. पत्र-पत्रिकाओं में कश्मीरी-भाषा, साहित्य और संस्कृति पर अँगरेजी, कश्मीरी, हिन्दी और उर्दू में बीसियों लेख।

ख. निबन्ध—

१.	Modern Trends in Hindi Poetry; 1942 Jammu	
२.	Kashmir's Contribution to Sanskrit Literature; Poona; 1951	
३.	Kshemendra's Satire	1953
४.	कश्मीरी-साहित्य की रहस्यधारा	१९५२
५.	कश्मीरी-भाषा में रामचर्चा	१९५३
६.	कश्मीरी-लोकगीत में लोक-जीवन	१९५३
७.	कश्मीरी-भाषा का ध्वनि-संस्थान	१९५४
८.	राजतरङ्गिणी में समाज-चित्रण	१९५४
९.	काव्यशास्त्र को कश्मीर की देन	१९५५

ग. प्रकाश्यमान—

१. कश्मीरी-भावगीत
२. कश्मीरी-भाषा और साहित्य
३. क्षेमेन्द्र : एक अध्ययन
४. संस्कृत-साहित्य को कश्मीर की देन
५. कश्मीरी-लोकोक्ति में लोकजीवन

घ. संकलन तथा सम्पादन—

१.	आधुनिक हिन्दी-पद्य-परिचय	१९५१
२.	तरङ्गिणी (संस्कृत)	१९५३
३.	सरस पद्य-प्रवेशिका	१९५३
४.	नन्हा हिन्दी-व्याकरण	१९५४
५.	पद्य-पुष्पांजलि (हिन्दी)	१९५६

१३. श्रीसुहैल अजीमाबादी



आप पटना जिले (विहार) के निवासी हैं। आप उर्दू के मशहूर शायर और लेखक हैं। उर्दू की 'तहजीव' पत्रिका के आप वर्षों सम्पादक रह चुके हैं। आप उर्दू-साहित्य में कथाकार, समालोचक और पत्रकार के रूप में पूर्ण प्रसिद्ध हैं। आजकल आप पटना-रेडियो के एक कार्याधिकारी हैं।

◉

१४. प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

श्रीशर्माजी का जन्म सन् १९१७ ई० में पटना में हुआ था। आपके पिता महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा की विद्वत्ता देश-विदेश में विख्यात थी। आपके पूर्वज छपरा नगर के निवासी थे।

आपकी शिक्षा पटना नगर में ही हुई। सन् १९३२ ई० में आपने मैट्रिक की परीक्षा पास की और सन् १९३६ ई० में वी० ए० (ऑनर्स) पास किया। सन् १९३८ ई० में आपने पटना-विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम्० ए० और सन् १९४२ ई० में हिन्दी में एम्० ए० पास किया।



आपका साहित्यिक कार्यारंभ सन् १९३२ ई० में हुआ। आपके निवन्धों के संग्रह 'दृष्टिकोण' तथा 'मानदण्ड' नाम से प्रकाशित हैं। आपके दो कहानी-संग्रह भी 'विष के दाँत' तथा 'असंगृहीतपूर्व सत्रह कहानियाँ' नाम से प्रकाशित हैं। 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' विषय पर आपका भाषण परिषद् में हुआ था, जो पुस्तक-रूप में परिषद् से ही प्रकाशित हो चुका है। विहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित होनेवाले त्रैमासिक 'साहित्य' के अतिरिक्त त्रैमासिक 'दृष्टिकोण' तथा 'कविता' पत्रिकाओं के भी आप संपादक रहे। आप नवीन दृष्टिकोण के सम्मानित आलोचक और निबन्धकार तथा पत्रकार थे। आप हिन्दी-काव्य-साहित्य में 'नकेनवाद' या 'प्रपद्यवाद' के प्रवर्त्तकों में प्रमुख माने जाते थे। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के आप अनेक वर्षों तक साहित्य-मन्त्री और प्रधान मन्त्री रहे।

आपने जैन-कॉलेज (आरा) और सरकारी कॉलेज (राँची) में भी अध्यापन का कार्य किया था। कालक्रम से आप पटना-विश्वविद्यालय से हिन्दी-विभागाध्यक्ष हुए। साथ ही, आपने विहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा संस्थापित 'श्रीवदरीनाथ सर्वभाषा-महाविद्यालय' के प्राचार्य का पदभार भी सँभाला था। सन् १९६१ ई० के १२ सितम्बर को आपका असामयिक दुःखद देहावसान हो गया।

